CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment Heritage Foundation, Jaigaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

11.2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय संस्कृति का विकास

[वैदिक धारा]

*

विद्यामार्तण्ड (कां० वि०)
डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री
एम्० ए०, डी० फ़िल्० (ऑक्सन)
पूर्व-उपकुलपति
संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक – १९८

सम्पादक एवं नियामक :

लक्ष्मीचन्द्र जैन

BHARATIYA
SAMSKRITI KA VIKASA
(Cultural History)
Dr. MANGAL DEVA SHASTRI

Bharatiya Jnanpith
Publication
Second Edition 1964
Price Rs. 7.00

©

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
प्रधान कार्यालय
९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५
विक्रय केन्द्र
३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
द्वितीय संस्करण १९६४
मूल्य सात रुपये

सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी–५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समन्वयात्मक
असाम्प्रदायिक तथा प्रगतिशील भारतीय
संस्कृतिके आधारपर नव्यभारत-
के निर्माणमें तत्पर
राष्ट्र-प्रेमियोंकी
सेवामें

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jaigaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक डॉ० मंगलदेव शास्त्री-द्वारा समाज विज्ञान परिषद्, वनारस,के सम्मुख दी गयी व्याख्यानमालाका निवन्धन है। भारतीय संस्कृतिको तीन दृष्टियोंसे देखा जाता है। एक तो परम्परावादियोंकी संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टि है और दूसरी इसके प्रतिवाद स्वरूप आधुनिकतावादियोंकी दृष्टि है जो सारी प्राचीन परम्पराको अन्धविश्वास और प्रतिक्रियावादिता हो मानती है। तीसरी दृष्टि ऐतिहासिक समन्वयकी दृष्टि है, जो प्राचीन तथा नवीन, प्राच्य तथा पाश्चात्यको ऐतिहासिक दृष्टिसे समन्वित करके भारतके विभिन्न समुदायों तथा धर्मोंके योगसे भारतीय संस्कृतिका स्वरूप निर्मित करती है। स्पष्ट है कि यही वैज्ञानिक दृष्टि संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं और विषमताओंको दूर करके देशके समस्त समुदायोंमें एकसूत्रता ला सकती है, सबके अभिमानकी वस्तु बन सकती है, राष्ट्रमें एकात्मताकी भावना उत्पन्न कर सकती है और देशकी अनेक नवीन तथा विषम समस्याओंका समाधान कर सकती है।

यह समन्वयका कार्य आज ही नहीं आरम्भ हुआ है, वरन् प्राचीन कालसे ही होता आया है। विद्वान् लेखकने दिखाया है कि परम्परागत हिन्दू धर्मके प्रसिद्ध नाम 'निगमागम धर्म'का अर्थ स्पष्टतः यही है कि इसका आधार केवल 'निगम' न होकर 'आगम' भी है और वह निगम-आगम-धर्मोंका समन्वित रूप है। लेखककी दृष्टिमें 'निगम'का अभिप्राय वैदिक परम्परासे है और 'आगम'का अभिप्राय प्राचीनतर प्राग्वैदिक कालसे आती हुई वैदिकेतर धार्मिक या सांस्कृतिक परम्परासे है। एक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ओर देव और दूसरी ओर असुर, दास या दस्यु जिन्हें 'अयज्ञाः' तथा 'अनिन्द्राः' अर्थात् यज्ञ-प्रथा और इन्द्रको न माननेवाले कहा गया है, एक ओर ऋग्वेदीय रुद्र तथा अनेक वैदिक देवता और दूसरी ओर पौराणिक शिव तथा अन्य प्रचलित उपास्यदेव और कर्मकाण्ड,एक ओर कर्म और अमृतत्व तथा दूसरी ओर संन्यास और मोक्षकी भावना, एक ओर ऋषि-सम्प्रदाय और दूसरी ओर मुनि-सम्प्रदाय, एक ओर हिंसामूलक मांसाहार तथा असहिष्णुता और दूसरी ओर अहिंसा तथा तन्मूलक निरामिषता और विचार-सहिष्णुता अथवा अनेकान्तवाद, एक ओर वर्ण और दूसरी ओर जाति, एक ओर पुरुषविध देवता और दूसरी ओर स्त्रीविध देवता, एक ओर कृषिमूलक ग्राम-व्यवस्था और दूसरी ओर शिल्पमूलक नगर-व्यवस्था इत्यादि द्वन्द्व प्राचीन कालकी दो संस्कार-धाराओंकी ओर संकेत करते हैं। पुराण, रामायण, महाभारत आदिमें यक्ष, राक्षस, विद्याधर, गन्धर्व, किन्नर, नाग आदि अनेक प्राग्-ऐतिहासिक जातियोंका उल्लेख भी मिलता है। निगमागम धर्मका आधार केवल श्रुति न होकर श्रुति-स्मृति-पुराण हैं। पुराण शब्द ही अत्यन्त प्राचीन संस्कृतिकी ओर संकेत करता है।

अतएव भारतीय संस्कृतिके वैज्ञानिक अनुसन्धानके लिए वैदिक तथा वैदिकेतर साहित्यके तुलनात्मक अध्ययन तथा लोकसाहित्य, लोकव्यवहार और लोकश्रुति तथा ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व-विज्ञान, भाषाविज्ञान, मानव-जातिविज्ञान, पुराणविज्ञान आदि अनेक नवीन विज्ञानोंके अनुशीलनकी आवश्यकता है। यह कार्य डॉ० मंगलदेव शास्त्री-जैसे प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्याके अधिकारी विद्वानों-द्वारा ही हो सकता है। विद्वान् लेखकने अपने अध्ययनको मौलिक आधारोंपर ही प्रस्तुत किया है, उसमें उतनी ही और वे ही बातें प्रस्तुत की गयी हैं जो वेद आदि प्रमाणोंसे प्रत्यक्ष रूपसे निष्पन्न होती हैं। किसी बातका कल्पनाके आधारपर अप्रमाणित विस्तार नहीं किया गया है। इस मौलिक अध्ययन-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का एक आवश्यक परिणाम यह भी हुआ है कि आजकल प्रचलित अनेक वैज्ञानिक शब्दोंके लिए सुन्दर पर्याय प्राप्त हुए हैं।

भारतीय संस्कृतिका सम्पूर्ण विकास ही प्रस्तुत ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय है, इसके लिए लेखकने उसकी विभिन्न धाराओं, जैसे 'वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, पौराणिक, सन्त, इस्लाम और ईसाइयतपर विवेचनात्मक दृष्टिसे विचार करने तथा अन्तमें उसके भावी विकासपर भी दृष्टि डालनेका सत्संकल्प किया है। यह कार्य ग्रन्थके आठ या नौ खण्डोंमें पूर्ण होगा। इसका भूमिका खण्ड तथा प्रथम खण्ड – वैदिकधारा ही इस समय प्रस्तुत किया जा रहा है। मुझे विश्वास है कि भारतीय संस्कृतिके अध्ययनमें यह पुस्तक पथ-निर्देशका काम करेगी और भारतीय संस्कृति तथा समाजशास्त्रके विद्यार्थियोंके लिए तो यह आवश्यक पाठ्यग्रन्थ होगी ही, अन्य जिज्ञासु तथा विद्वान् पाठक भी इससे लाभान्वित होंगे और इस सेवाका समुचित आदर करेंगे।

— नरेन्द्रदेव
अध्यक्ष
समाज विज्ञान परिषद्, बनारस

लखनऊ
१ जनवरी, १९५६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

द्वितीय संस्करणकी भूमिका

प्रकृत पुस्तकके प्रथम संस्करणका प्रकाशन 'समाज विज्ञान परिषद्' (काशी विद्यापीठ, वाराणसी)-द्वारा १९५६ में हुआ था। विद्वन्मण्डलोने पुस्तकका हार्दिक अभिनन्दन किया और वह संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया। तो भी यह खेदका विषय है कि द्वितीय संस्करण इतनी देरसे प्रकाशित हो रहा है। साहित्यिक जीवनकी स्वाभाविक व्यस्तता और समय-समयपर अन्य कार्योंका उत्तरदायित्व ही इस देरीमें प्रधान कारण रहे हैं।

इस संस्करणमें पुस्तकको कई प्रकारसे परिष्कृत और परिवर्द्धित कर दिया गया है। निश्चय ही इससे पुस्तकका महत्त्व और भी बढ़ गया है।

उक्त परिष्कार और परिवर्धन दोनोंमें नवीन पाद-टिप्पणियोंका विशेष स्थान है। खोजपूर्ण ऐसे ग्रन्थोंका विशेष महत्त्व उनकी पाद-टिप्पणियोंमें ही होता है। ध्यानपूर्वक उनको पढ़नेसे विदित हो जायेगा कि पुस्तकके प्रतिपादनोंका आधार पूर्णतया प्राचीन प्रामाणिक साक्ष्यपर अवलम्बित है।

समष्टि-दृष्टि-मूलक भारतीय संस्कृतिके विकासकी परम्पराको धारावाहिक रूपमें दिखानेके लिए सात या आठ खण्डोंमें प्रस्तावित महान् ग्रन्थके विचारको देशके गण्य मान्य विद्वानोंने हृदयसे पसन्द किया है। आशा है हम क्रमशः इस शुभ संकल्पको "अस्मार्क सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः" वैदिक श्रुतिके शब्दोंमें पूर्णतः कार्यान्वित कर सकेंगे, और विद्वानोंका आशीर्वाद इसमें हमारा सहायक होगा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हम यही चाहते हैं कि इस महान् कार्यके सम्पादनमें प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान् कल्हणके इस प्रशंसनीय आदर्शका हम बराबर निर्वाह कर सकें—

श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता ।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती ॥

(राजतरङ्गिणी १।७)

वाराणसी
आश्विन शु० ७, २०२१
१२ अक्तूबर, १९६४

— मङ्गलदेव शास्त्री

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रस्तावना

'भारतीय संस्कृतिका विकास' नामक इस ग्रन्थको प्रायेण आठ खण्डों-में समाप्त करनेका हमारा विचार है। भारतीय संस्कृतिकी वैदिक धाराके सम्बन्धमें उसीके (भूमिका खण्ड-सहित) प्रथम खण्डको इस समय हम विज्ञ पाठकोंके सामने उपस्थित कर रहे हैं।

भूमिका-खण्ड (परिच्छेद १—४) का सम्बन्ध समग्र ग्रन्थसे है, केवल प्रथम खण्डसे नहीं।

ग्रन्थकी मुख्य विशेषता

ग्रन्थकी मुख्य विशेषता उसकी रचनाके लक्ष्य, दृष्टिकोण और विषय-प्रतिपादनकी प्रक्रिया या पद्धतिमें है। भूमिका-खण्डमें विस्तारसे इन सब विषयोंको स्पष्ट करनेका हमने यत्न किया है। तो भी इस सम्बन्धमें यहाँ कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है।

इधर कुछ वर्षोंसे, विशेषतः स्वतन्त्रता-प्राप्तिके अनन्तर, भारतीय संस्कृतिकी चर्चा विशेष रूपसे देशमें रही है। अनेक ग्रन्थ इसके सम्बन्धमें प्रकाशित हो चुके हैं और हो रहे हैं। इसपर भी उसके स्वरूपके विषयमें, ऐकमत्य न होकर, विभिन्न दृष्टियाँ ही पायी जाती हैं। किन्हीं-किन्हीं दृष्टियोंमें तो आकाश-पातालका अन्तर है।

भारतके राजनीतिक इतिहासमें सम्प्रदाय-निरपेक्षता (अथवा सम्प्रदाय-सम-भाव) तथा मानवताके सिद्धान्तोंके आधारपर 'लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' की स्थापना एक अनोखी घटना है; न केवल सैकड़ों वर्षोंके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दास्यके पश्चात् स्वतन्त्रताप्राप्तिके कारण, आपितु अपने आधार-भूत सिद्धान्तोंकी महत्ताके कारण भी। अतः उक्त गण-राज्यके रूपमें स्वराज्य-प्राप्तिके अनन्तर हमारा प्रथम कर्तव्य है उक्त मौलिक सिद्धान्तोंके आधार-पर नव्य-भारतका सुदृढ और स्थायी पुनर्निर्माण।

परन्तु यह किससे छिपा है कि इधर चिरकालसे सम्प्रदाय-वाद, जातिवाद तथा वर्गवादकी संकीर्ण और विघटनात्मक प्रवृत्तियाँ भारतीय इतिहासमें बराबर काम करती रही हैं। सम्प्रदाय, वर्ण, जाति-पाँतिकी परम्परागत पृथक्त्वकी भावनाओंसे परिपूर्ण भारतवर्षका अभिनव निर्माण विभिन्न सम्प्रदायों और वर्गोंमें एकसूत्ररूपसे व्याप्त, समन्वयात्मक तथा अखिल-भारतीय भावनासे युक्त भारतीय संस्कृतिके आधारपर ही हो सकता है। उसी भारतीय संस्कृतिके वास्तविक स्वरूप और स्वभावको समझना प्रत्येक राष्ट्र-प्रेमीका आवश्यक कर्तव्य है।

ऐसा होनेपर भी, जैसा ऊपर कहा है, भारतीय संस्कृतिके स्वरूपके विषयमें, ऐकमत्य न होकर, विभिन्न दृष्टियाँ ही पायी जाती हैं।

भारतीय संस्कृतिके विषयमें अबतकके लेखकोंको प्रायेण तीन वर्गोंमें बाँटा जा सकता है—

प्रथम वर्ग तो उन संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टि रखनेवालोंका है, जिनके सामने प्रगतिशील समष्ट्यात्मक भारतीय संस्कृति-जैसी कोई वस्तु या भावना रह ही नहीं सकती। विभिन्न भारतीय सम्प्रदायोंमें भी वे पारस्परिक पूरकताके स्थानमें समानान्तरता और प्रतिद्वन्द्विताकी भावनाको ही सामने रखकर कुछ लिखनेमें प्रवृत्त होते हैं। अपने ही सम्प्रदायको सर्वोत्कृष्ट और सर्वांशमें सत्य माननेके कारण, वे दूसरे सम्प्रदायोंके विषय-में न्याय्य बुद्धिसे काम नहीं ले सकते।

दूसरे वर्गके लेखक प्रायः वे विदेशी विद्वान् हैं, जिन्होंने बहुत-कुछ अपने राजनीतिक स्वार्थ या अभिनिवेशके कारण, जाने या अनजाने, भारतीय सम्प्रदायोंकी ऊपरी प्रतिद्वन्दितापर ही बल दिया है। ऐसे ही लेखकोंके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रभावके कारण हमारे जातीय जीवनमें आर्य-अनार्य, वैदिक-अवैदिक, ब्राह्मण-अब्राह्मण, वर्णाश्रमी-वर्णाश्रमेतर, हिन्दू-अहिन्दू, हिन्दू-मुसलमान, हिन्दू-सिक्ख-जैसी प्रतिद्वन्द्वी भावनाओंने जड़ पकड़कर नयी समस्याओंको खड़ा कर दिया है।

तीसरे वर्गमें उन भारतीय विद्वान् लेखकोंका स्थान है, जो भारतीय चिर-परम्परासे प्राप्त जाति-वर्ण-या सम्प्रदाय-मूलक गहरे अभिनिवेशके कारण, जनताके वास्तविक जीवनके प्रवाहकी उपेक्षा करके, बहुत कुछ 'शास्त्रीय दृष्टि' को ही सामने रखकर भारतीय संस्कृतिकी एकदेशी व्याख्यामें प्रवृत्त होते हैं।

केवल शास्त्रोंमें प्रतिपादित, पर व्यावहारिक जीवनसे असम्पृक्त, संस्कृतिको संस्कृति कहा भी जा सकता है या नहीं, इसमें हमें सन्देह है। व्यवहारपक्ष या जनता-पक्षकी उपेक्षा करके, विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टिसे किसी भी संस्कृतिका ऐसा मनोमोहक चित्र खींचा जा सकता है, जिसका अस्तित्व, किसी दिव्यलोकमें भले ही हो, इस मर्त्यलोकमें तो नहीं हो सकता। फिर, शास्त्रीय अभिनिवेशवाला लेखक विभिन्न सम्प्रदायोंका कहाँतक न्याय-पूर्ण वर्णन कर सकता है ?

इस सम्बन्धमें हमारा दृष्टिकोण और लक्ष्य, दोनों ही दूसरे लेखकोंसे बहुत-कुछ भिन्न हैं।

प्रकृत ग्रन्थमें हमारा प्रयत्न बराबर यही रहेगा कि हम, अपनेको संकीर्ण अनुदार भावनाओंसे पृथक् रखते हुए, प्रगतिशील भारतीय संस्कृतिके अविच्छिन्न प्रवाह और विकासको इस प्रकार दिखा सकें, जिससे—

१. एक समन्वयात्मक भारतीय संस्कृतिके आधारपर हमारे भारतीय राष्ट्रको दृढता और पुष्टि प्राप्त हो सके;

२. भारतीय संस्कृतिकी प्रगतिमें, वास्तविकताके आधारपर, विभिन्न

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्प्रदायोंकी देन और साहाय्यको दिखलाते हुए हम उनमें प्रतिद्वन्द्विताके स्थानमें पूरकताकी भावनाका विकास कर सकें;

३. सम्प्रदायोंमें नैतिकता, नागरिकता और मानवताकी दृष्टिसे सहयोगके साथ-साथ, परस्पर समादर और सद्भावनाकी भी वृद्धि हो सके;

४. सम्प्रदायोंके स्वरूप और प्रभावके निरूपणमें हम पूर्ण सद्भावना और न्याय्य-बुद्धिसे काम ले सकें। इस सम्बन्धमें जो कुछ हम लिखें, उसका आधार, केवल पुस्तकाध्ययन न होकर, यथासम्भव उनके व्यावहारिक जीवनका आन्तरिक अवेक्षण भी हो। दूसरे शब्दोंमें, शास्त्रीय और जनता-गत, दोनों पक्षोंको साथ लेकर ही हम चलना चाहते हैं।

हमारी दृष्टिमें भारतीय संस्कृतिकी विभिन्न धाराओंमें पारस्परिक विरोध-भावनाके लिए वास्तवमें कोई स्थान न होना चाहिए।

हम उन सबको समष्ट्यात्मक, अविच्छिन्न-प्रवाहिणी एक ही व्यापक भारतीय संस्कृतिका पूरक और पोषक समझते हैं।

हमारे लिए वे सब धाराएँ, उनका उत्कृष्ट साहित्य और उनके मान्य महापुरुष, सब सम्माननीय और आदरणीय हैं।

हम चाहते हैं कि भारतीय राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिको उन सबमें गर्व और गौरवकी भावनाके साथ-साथ ममत्वकी बुद्धि भी हो।

उपर्युक्त लक्ष्य और दृष्टिकोणको लेकर ही हम प्रकृत ग्रन्थके लिखनेमें प्रवृत्त हुए हैं।

प्रक्रिया या पद्धति

ग्रन्थकी विषय-प्रतिपादनकी प्रक्रिया या पद्धतिके विषयमें यहाँ अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। भूमिका-खण्ड (परिच्छेद ३) में विस्तारसे इसके सम्बन्धमें हम कह चुके हैं। यह स्पष्ट है कि समस्त भारतीय सम्प्रदायोंमें एकसूत्र-रूपसे व्याप्त समष्ट्यात्मक भारतीय संस्कृतिके विकासके अध्ययनमें संकुचित तथा अनुदार साम्प्रदायिक विचार-पद्धति से काम ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं चल सकता। उसमें वैज्ञानिक विचार-पद्धतिका अवलम्बन अनिवार्य-रूपसे आवश्यक है।

वैज्ञानिक विचार-पद्धतिका मुख्य आधार उसकी तुलनात्मक और ऐतिहासिक प्रक्रिया है। किसी विषयके स्वरूपको उपपत्ति और युक्तिके सहित समझनेके लिए हमें उसके इतिहास और विकासके साथ-साथ उसकी वर्तमान आपेक्षिक परिस्थितिको भी ठीक-ठीक जानना आवश्यक होता है।

इसलिए व्यापक दृष्टिसे भारतीय संस्कृतिके स्वरूप, स्वभाव और विकासको, उसकी अत्यन्त प्राचीनकालसे आनेवाली धारावाहिक जीवित परम्पराको, ठीक-ठीक समझनेके लिए उसके इतिहासको जाननेकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसके लिए स्पष्टतः सत्यके अन्वेषणमें तत्पर विवेचनात्मक व्यापक ऐतिहासिक बुद्धिके साथ-साथ अन्य प्राचीन-परम्परागत संस्कृतियों-के परिज्ञानकी भी अपेक्षा है।

सत्यान्वेषणकी भावनासे प्रवृत्त ऐतिहासिकका कर्तव्य है कि वह सब प्रकारके पूर्वग्रह और पक्षपातसे रहित होकर भारतीय संस्कृतिके विभिन्न कालोंकी वस्तु-स्थितिका निरूपण करे। उसे किसी भी वस्तु-स्थितिको अच्छे या बुरे रूपान्तरमें दिखाना अपनी न्याय्य-बुद्धिके विपरीत ही समझना चाहिए।

एक कालको दूसरे कालमें अध्ययन या आरोप करनेकी प्रवृत्ति (Anachronism) अबुद्धिपूर्वक साम्प्रदायिकोंके अतिरिक्त अन्य लोगों-में भी देखी जाती है। सच्चे ऐतिहासिकको इस प्रवृत्तिकी ओरसे अपनेको सदा सचेत रखना पड़ता है।

भारतवर्षमें हम लोगोंकी प्रायेण यही प्रवृत्ति रही है कि हम बड़े-बड़े धार्मिक आन्दोलनोंको, अवतारी महापुरुषोंको और बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक घटनाओंको पूर्वापर परिस्थितियोंसे असम्बद्ध तथा असम्पृक्त अथवा आकस्मिक घटनाके रूपमें ही देखते हैं। परन्तु वास्तवमें महान् आन्दोलनों, ऐतिहासिक घटनाओं और अवतारी महापुरुषोंकी पूर्ववर्ती और परवर्ती परिस्थितियोंमें

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कार्यकारणभावकी परम्परा रहती है। वैज्ञानिक पद्धतिका कर्तव्य है कि वह उसका पता लगाये और उसका निरूपण करे।

किसी भी इतिहासके समान ही, भारतीय संस्कृतिका इतिहास भी इसी प्रकारकी कार्यकारण-भावकी परम्पराओंसे निर्मित है। वैज्ञानिक पद्धतिके अवलम्बनसे ही हम उन परम्पराओंका अध्ययन कर सकते हैं।

भारतीय संस्कृतिके लम्बे इतिहासमें काल-भेदसे विभिन्न स्तरोंका पाया जाना स्वाभाविक है। हमारा कर्तव्य है कि हम, न केवल उनके परम्पर सम्बन्धका ही, किन्तु प्रत्येक स्तरकी पूर्वावस्था और अनन्तरावस्था-का भी, उन-उन त्रुटियोंका भी, जिनके कारण एक स्तरके पश्चात् अगले स्तरका आना आवश्यक होता गया, पता लगावें। इसी प्रकार एक धारावाहिक जीवित परम्पराके रूपमें भारतीय संस्कृतिको हम समझ सकते हैं।

उपर्युक्त प्रकारके अध्ययनके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतीय संस्कृतिके विभिन्न कालोंके साथ हमारी न केवल ममत्वकी या तादात्म्यकी ही भावना हो, किन्तु सहानुभूति भी हो।

वैज्ञानिक पद्धतिके इन्हीं मौलिक सिद्धान्तोंका अनुसरण करते हुए हम भारतीय संस्कृतिकी विभिन्न धाराओंका और उसकी लम्बी परम्परा-का अध्ययन प्रकृत ग्रन्थमें करना चाहते हैं।

विषय-निर्देश

ऊपर हमने भारतीय संस्कृतिकी विभिन्न धाराओंका उल्लेख किया है। इसका अभिप्राय यही है कि चिरन्तन कालसे अविच्छिन्न प्रवाहके रूपमें आनेवाली भारतीय संस्कृतिकी धारामें, भगवती गंगाकी धारामें मिलनेवाली सहायक नदियोंकी धाराओंके समान, तत्तत्कालीन विशिष्ट परिस्थितियों और आवश्यकताओंसे उत्पन्न होनेवाली नवीन सांस्कृतिक उपधाराओंका समावेश होता रहा है। वे उपधाराएँ मूलधारामें अपृथक्-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूपसे मिलकर एक होती रही हैं। उन्होंने सतत-प्रगति-शील मूलधाराके साथ विरोध-भाव न रखकर, पूरकताके रूपमें उसको समृद्ध ही बनाया है।

उपर्युक्त दृष्टिसे ही समष्टि-दृष्टि-मूलक भारतीय संस्कृतिकी प्रगति और विकासको दिखानेके उद्देश्यसे प्रकृत ग्रन्थके विभिन्न खण्डोंका क्रम हम इस प्रकार रखना चाहते हैं –

खण्ड	विषय
प्रथम खण्ड	वैदिक धारा
द्वितीय खण्ड	औपनिषद धारा
तृतीय खण्ड	जैन धारा
चतुर्थ खण्ड	बौद्ध धारा
पंचम खण्ड	पौराणिक धारा (वर्तमान हिन्दू-धर्म)
षष्ठ खण्ड	सन्त-धारा
सप्तम खण्ड	इसलाम, ईसाइयत, आदि

अष्टम खण्डमें भारतीय संस्कृतिकी प्रागैतिहासिक धारापर दृष्टि डालनेके साथ-साथ वर्तमान जगत्में भारतीय संस्कृतिके भावी विकासपर भी कुछ विचार करना चाहते हैं।

प्रत्येक धाराके वर्णन और विवेचनमें हम साधारणतया यही क्रम रखना चाहते हैं कि उसकी साहित्यिक भूमिकाकी रूपरेखाको दिखलाते हुए, उसके प्रारम्भ, स्वरूप, गुणपक्ष, दोषपक्ष, भारतीय संस्कृतिके लिए उसकी देन, कालान्तरमें उसका शैथिल्य अथवा ह्रास, और अन्तमें उसकी वर्तमान-कालीन आवश्यकताओंका विचार करें।

उन धाराओंमें परस्पर अपेक्षाकृत किसका कितना महत्त्व है, इस विचारमें यथासम्भव हम नहीं पड़ना चाहते, क्योंकि, जैसा हम पहले कह चुके हैं, इस ग्रन्थमें हम, विभिन्न साम्प्रदायिक विचारधाराओंके पारस्परिक तारतम्य या प्रतिद्वन्द्विताके स्थानमें, मुख्यतः भारतीय संस्कृतिकी प्रगतिमें उनकी देन और साहाय्यको ही दिखाना चाहते हैं। राष्ट्रमें एक समष्ट्या-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

त्मक भारतीय संस्कृतिकी भावनाका विकास और पोषण इसी प्रकार हो सकता है।

ग्रन्थ-रचनाकी कहानी

प्रकृत ग्रन्थकी और साथ ही उसके विशेष दृष्टिकोणके विकासकी कहानी अपना महत्त्व रखती है। इसलिए यहाँ संक्षेपमें उसका वर्णन करना अनुचित न होगा।

ऐसा कौन भारतवासी होगा जिसने बाल्यकालसे ही सम्प्रदाय, जाति-पाँति आदिकी पृथक्त्व-भावनाओंके कारण अपने देशके संकीर्ण और संकुचित वातावरणका अनुभव न किया हो? लम्बे कालसे संस्कृतके वातावरणमें रहते हुए हमने उसको और भी उग्र रूपमें देखा है। अभी कुछ वर्ष पहले साम्प्रदायिक संघर्षकी धधकती हुई भीषण ज्वालाको भी देशने देखा है, जिसमें सहस्रों निर्दोष व्यक्तियोंके साथ राष्ट्रपिताको भी अपने प्राणोंकी आहुति देनी पड़ी थी। संक्षेपमें, साम्प्रदायिक संघर्ष, वर्ग-विद्वेष और उनसे समुत्पन्न संकुचित तथा संकीर्ण मनोवृत्ति, पृथक्त्वकी भावना और लोकव्यवहारमें अन्याय्य-बुद्धि चिरकालसे भारतवर्षकी महती समस्या रही है।

इस सारी भयावह परिस्थितिको देखकर, औरोंके समान ही, लेखकने भी अनेक बार मर्मान्तिक पीडाका अनुभव किया है। उसी मर्मान्तिक पीडा-की मानो तपस्यासे प्रकृत ग्रन्थकी समष्टि-दृष्टि-मूलक भारतीय संस्कृतिकी भावनाका प्रथम उद्गम कोई २० वर्ष पहले लेखकके हृदयमें हुआ था। शनैः-शनैः उसका परिपाक होता रहा और अन्तमें वे ही विचार शब्दमूर्त्ति-धर होकर अनेक भाषणों और संस्कृत तथा हिन्दीके लेखों-द्वारा प्रकट होते रहे।

१९५२ के सितम्बर मासकी ६ तारीखको काशी विद्यापीठमें 'समाज-विज्ञान-परिषद्' की ओरसे भाषण देनेके लिए आग्रह-पूर्वक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निमन्त्रित होनेपर 'भारतीय संस्कृतिके आधार' विषयपर लेखकने अपना भाषण पढ़ा। प्रकृत ग्रन्थका वास्तवमें यही उपक्रम था।

भाषणको विशेष रूपसे विचारोत्तेजक और रोचक कहा गया। इसीसे उसे 'कल्पना' मासिकमें प्रकाशनार्थ भेजना उचित समझा। पाठकोंने उसे विशेष महत्त्व दिया। अनेकानेक पत्र उक्त पत्रिकाके सम्पादक-मण्डल तथा लेखकके पास भी इसी सम्बन्धमें प्राप्त हुए। देहली की 'सांस्कृतिक संघ' नामक संस्था ने लेख को पुस्तिका रूप में प्रकाशित कर उसका विस्तृत वितरण किया और चाहा कि इंग्लिश के साथ साथ देश की विभिन्न भाषाओं में भी उसका अनुवाद प्रकाशित किया जाये।

उधर 'कल्पना' के यशस्वी संचालक तथा सम्पादक श्रीबदरीविशाल पित्तीने बराबर आग्रह किया कि समष्टि-दृष्टि-मूलक भारतीय संस्कृतिकी विचार-धाराको लेखमालाके रूपमें चलाया जाये। 'भारतीय संस्कृतिकी वैदिक धारा' की समाप्तिपर यह विचार हुआ कि इसकी प्रकृत ग्रन्थके प्रथम खण्डके रूपमें प्रकाशित कर दिया जाये। यों प्रकृत ग्रन्थका, कई प्रकारसे, बहुत बड़ा श्रेय श्री पित्तीजीको है। स्वभावतः हम उनके कृतज्ञ हैं।

उसी लेखमालाके आधारपर, आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धनके साथ, 'भारतीय संस्कृतिका विकास' ग्रन्थका यह प्रथमखण्ड पाठकोंकी सेवामें उपस्थित हो रहा है।

वैदिक-स्वाध्याय-मन्दिर,
ज्योतिराश्रम, वाराणसी। मङ्गलदेव शास्त्री
माघ कृष्ण ५, २०१२
१ फ़रवरी, १९५६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2.

अनुक्रम

भूमिका-खण्ड

पहला परिच्छेद

भारतीय संस्कृतिके आधार

		पृष्ठ
संस्कृति शब्दका अर्थ	....	३
भारतीय संस्कृतिके विषयमें विभिन्न दृष्टियाँ	....	४
साम्प्रदायिक दृष्टिकोण	....	६
वैज्ञानिक दृष्टिकोण	....	९
भारतीय संस्कृतिके मौलिक आधार	....	१०
निगमागम-धर्म	....	१०
प्राग्वैदिक जातियाँ	....	११
शिव	....	१३
उपास्यदेव तथा कर्मकाण्ड	....	१४
विचारधाराओंके परस्पर विरोधी द्वन्द्व	....	१५
ऋषि-सम्प्रदाय और मुनि-सम्प्रदाय,	....	१६
उपसंहार	....	१९
वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियोंका समन्वय	....	२०
समन्वित धाराकी प्रगति और विकास	....	२२
इसलाम और ईसाइयत	....	२३
समष्टि-दृष्टिकी आवश्यकता	....	२४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दूसरा परिच्छेद

भारतीय संस्कृतिका दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृतिकी प्रगतिशीलता २६

भारतीय संस्कृतिकी असाम्प्रदायिकता ३३

भारतीय संस्कृतिकी भारतके समस्त इतिहासमें ममत्व-भावना ३९

भारतीय संस्कृतिकी अखिल-भारतीय भावना ४२

तीसरा परिच्छेद

भारतीय संस्कृतिकी वैज्ञानिक विचार-पद्धति

साम्प्रदायिक विचार-पद्धति ४६

एकवाक्यता या समन्वयकी प्रवृत्ति ४८

अर्थान्तर या व्याख्या-भेदकी प्रवत्ति ५१

प्रक्षिप्त-वादकी प्रवृत्ति ५४

साम्प्रदायिक विचार-पद्धतिकी अन्य प्रवृत्तियाँ ५५

वैज्ञानिक विचार-पद्धति ५७

चौथा परिच्छेद

भारतीय संस्कृतिकी विचारधाराका लक्ष्य

भारतीय संस्कृतिका संकुचित अर्थ ... ६२

भारतीय संस्कृति और विभिन्न सम्प्रदाय ६३

प्राचीन साहित्यमें साम्प्रदायिक भावना ६६

भारतीय संस्कृतिकी अन्तरात्मा ६८

भारतीय संस्कृतिकी भावनाका मूर्त्तरूप ... ७०

विभिन्न सम्प्रदायोंके उत्कृष्ट साहित्यका अध्ययन ... ७१

विभिन्न सम्प्रदायोंके महापुरुषोंका समादर ... ७२

साम्प्रदायिक पारिभाषिकताका दुष्प्रभाव ... ७३

इस ग्रन्थकी विशेषता ... ७४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रथम खण्ड

भारतीय संस्कृतिकी वैदिकधारा

पाँचवाँ परिच्छेद

वैदिक वाङ्मयकी रूपरेखा

अवतरणिका	....	७९
वैदिकधाराका महत्त्व	....	८०
वैदिकधाराकी साहित्यिक भूमिका	...	८१
(१) वेद	....	८१
वेदोंके लिए 'त्रयी' शब्दका व्यवहार	....	८४
वेदोंकी शाखाओंका विचार	....	८६
ऋग्वेदसंहिता	...	८७
ऋचाओंके ऋषि, देवता और छन्द	....	८८
मण्डलोंका ऋषियोंसे सम्बन्ध और	....	
संहिताका क्रम	....	९०
ऋग्वेदसंहिताका विषय	....	९१
ऋग्वेदकी विशेषता	....	९२
यजुर्वेदसंहिता	....	९३
यजुर्वेदसंहिताका क्रम और विषय	...	९५
सामवेदसंहिता	...	९५
अथर्ववेद संहिता	...	९६
अथर्ववेदसंहिताका वैशिष्ट्य	...	९७
अथर्ववेदका विकास और निर्माण	....	९८
(२) ब्राह्मण-ग्रन्थ	....	१००
(३) वेदाङ्ग	....	१०१
(४) वैदिक परिशिष्ट	....	१०३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

छठा परिच्छेद

वैदिकधाराकी दार्शनिक भूमिका

देवता-वाद १०५
वैदिक देवता-वाद १०६
वैदिक देवताओंका स्वरूप ११०
वैदिक स्तोताका स्वरूप ११२
वैदिक जीवनकी दृष्टि और चरम लक्ष्य ... ११४
(वैदिकदृष्टि और परम्परागत दृष्टिका परस्पर विरोध, पृ० ११४)
(वैदिक दृष्टि और भारतीय दर्शन, पृ० ११५)
वैदिक दार्शनिक दृष्टिका महत्त्व ... १२२

सातवाँ परिच्छेद

वैदिक धाराकी तीन अवस्थाएँ

वैदिक परम्पराके तीन काल १२७
वैदिक विचार-धाराका इतिहास १२९
वैदिक धाराका प्रथमकाल ... १३०
वैदिक धाराका द्वितीयकाल ... १३१
याज्ञिक कर्मकाण्डका प्रारम्भ ... १३४
कर्मकाण्डका विकास और ह्रास ... १३५
वैदिक धाराका तृतीयकाल १३७
याज्ञिक कर्मकाण्ड ... १३७
वर्ण-विभागकी प्रवृत्ति १४०
जातीय जीवनके अन्य क्षेत्रोंकी व्यवस्था १४४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आठवाँ परिच्छेद

वैदिक उदात्त भावनाएँ

वेद-मन्त्रोंके विषयमें:—

उत्तरकालीन भारतीय दृष्टि ... १४५

पाश्चात्त्य दृष्टि ... १४७

हमारी दृष्टि ... १४८

वैदिक उदात्त भावनाएँ:

१—ऋत और सत्यकी भावना ... १४९

२—आशावादकी भावना ... १५२

३—पवित्रताकी भावना ... १५६

४—भद्र-भावना ... १६१

५—आत्मविश्वासकी भावना ... १६२

नवाँ परिच्छेद

वैदिक धाराकी व्यापक दृष्टि

परम्पराप्राप्त भारतीय दृष्टि ... १६६

हमारी दृष्टि ... १६८

वैदिक धाराकी व्यापक दृष्टिके विभिन्न क्षेत्र:

वैदिक धाराका धार्मिक चिन्तन ... १७०

वैदिक धाराका मानवीय पक्ष ... १७३

आदर्श-रक्षा तथा आत्म-रक्षा ... १७४

वैदिक धाराका सामाजिक जीवन ... १७६

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था ... १७८

चातुराश्रम्य-व्यवस्था ... १८१

राजनीतिक आदर्श ... १८६

वैयक्तिक जीवन ... १८७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दसवाँ परिच्छेद
वैदिक धाराकी देन

वैदिक धाराके साथ उत्तरवर्ती धाराओंका सम्बन्ध ... १९१
धार्मिक क्षेत्र ... १९५
नैतिक तथा दार्शनिक विचार ... १९५
गृह्य कर्मकाण्ड १९७
वैदिक संस्कार १९८
विवाह संस्कार १९८
पंच महायज्ञ ... २०२
अग्नि-देवता और पौरोहित्य ... २०३
पर्व-त्यौहार और देवतागण ... २०३
सामाजिक व्यवस्था ... २०४
चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था ... २०७
चातुराश्रम्य-व्यवस्था ... २१३
ब्रह्मचर्य-आश्रम २१४
गृहस्थ-आश्रम ... २१६
साहित्यिक देन ... २२०
उपसंहार ... २२३

ग्यारहवाँ परिच्छेद
वैदिक धाराका ह्रास

वैदिक धाराके ह्रासके कारण ... २२५
याज्ञिक कर्मकाण्डका मौलिक रूप २२५
याज्ञिक कर्मकाण्डका अपकर्ष ... २२७
याज्ञिक कर्मकाण्डके अपकर्षके कारण ... २२९
याज्ञिक कर्मकाण्डके अपकर्षका दुष्प्रभाव : २३७
(१) वेदोंकी अध्ययनाध्यापन-परम्पराका अपकर्ष ... २३८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(२) देवता-विषयक भावनाका अपकर्ष ... २४४
(३) रूढिमूलक वर्गवादकी प्रवृत्तिका दुष्प्रभाव ... २४६
(४) नैतिकताका ह्रास २५१
वैदिक धाराका ह्रास और प्राचीन दृष्टि २५३
उपनिषदोंका साक्ष्य ... २५३
भगवद्गीताका साक्ष्य ... २५४
श्रीमद्भागवतका साक्ष्य ... २५५
उपसंहार ... २५७
हमारा कर्तव्य २५८

बारहवाँ परिच्छेद

वैदिक धाराका अमृतस्रोत

मौलिक प्रश्न २६१
उत्तर ... २६१
मूलतत्त्वका स्वरूप ... २६२
सब देवता उसीकी विभूति हैं ... २६२
उस परम देवकी महिमा २६३
आदर्श प्रार्थना ... २६४
जीवनकी दार्शनिक दृष्टि ... २६५
जीवनका लक्ष्य ... २६७
जीवन-संगीत ... २६८
आदर्श-जीवन ... २६८
व्रतका जीवन ... २६९
ब्रह्मचर्य ... २७०
ऋत और सत्यकी भावना २७१
पवित्रताकी भावना २७२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आत्मविश्वासकी भावना २७३
ओजस्वी जीवन २७४
वीरता तथा निर्भयताकी भावना २७४
शारीरिक स्वास्थ्य तथा दीर्घायुष्य २७६
स्वर्गीय पारिवारिक जीवन २७७
आदर्श सामाजिक जीवन २७८
राजनीतिक आदर्श २७९
मानवीय कल्याणकी भावना २७९
विश्व-शान्तिकी भावना २८०

तेरहवाँ परिच्छेद
वैदिक धाराकी सूक्ति-मंजरी

वैदिक सूक्ति-मंजरी :
ऋग्वेद-संहिता २८२
शुक्लयजुर्वेद-संहिता २८६
सामवेद-संहिता २८७
अथर्ववेद-संहिता २८८

ब्राह्मणीय-सूक्ति-मंजरी :
ऐतरेयब्राह्मण (श्रमसंगीत, पृ० २९१) २९०
कौषीतकि-ब्राह्मण ... २९५
शतपथ-ब्राह्मण २९५
गोपथ-ब्राह्मण ३०१

चौदहवाँ परिच्छेद
वैदिक गीतांजलि

१. आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है ... ३०३
२. जीवनका रहस्य ... ३०५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३. संयतस्व जीवनायं ... ३०७
४. जयन्ति के जना भुवि ? ... ३०८
५. दुःख-मीमांसा ... ३१०
६. व्रतसे आत्मशुद्धि ... ३१८
७. ब्रह्मचर्य ३२०
८. ब्रह्मचर्यकी महिमा ३२४
९. भगवान्में विश्वास ... ३२६
१०. उत्तरोत्तर उन्नति ... ३२८
११. अन्धकारसे प्रकाश ... ३२९
१२. प्रगतिका अनन्त मार्ग ३३०
१३. हृदयोल्लास ... ३३१
१४. मानवताका महत्त्व ... ३३२
१५. महामानवका स्वरूप ... ३३५
१६. वैदिक शक्ति साधना ३३७
१७. विश्व-कल्याण-भावना ... ३४२
१८. मूल तत्त्वमें आस्था ३४४
१९. जीवनका परम लक्ष्य ३४६

परिशिष्ट

(क) संस्कृत साहित्यमें ग्रन्थ-प्रणयन

संस्कृत साहित्यके इतिहासकी कुछ समस्याएँ ३५३
ग्रन्थ-प्रणयनकी परिपाटीका प्रारम्भ ... ३५५
प्रवक्ता और ग्रन्थकर्ता ३५६
शुद्ध प्रवचन-काल ३५७
प्रवचन तथा ग्रन्थ-प्रणयनका मिश्रित काल ३५९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शाखा, चरण और परिषद् ३६४
शुद्ध ग्रन्थ-प्रणयन-काल ३६७
संस्कर्ता या प्रतिसंस्कर्ता ३६८
उपसंहार ३७१

(ख) वेदोंका वास्तविक स्वरूप
अथवा
वेदोंके महान् आदर्श

वेद और आचार्य दयानन्द ... ३७४
वेद और पाश्चात्त्य विद्वान् ... ३७९
ऐतिहासिक पर्यवेक्षण ... ३८१
वैदिक कर्मकाण्डका विकास और ह्रास ... ३८५
वैदिक कर्मकाण्डके विकासमें तीन दृष्टियाँ ... ३८८
१. आध्यात्मिकता-मूलक आधिदैविक दृष्टि ... ३८९
२. शुद्ध आधिदैविक दृष्टि ... ३८९
३. अधियज्ञ दृष्टि ... ३८९
वेदोंके महान् आदर्श ... ३९०
वैदिक देवतावाद ... ३९१
ऋत और सत्य ... ३९३
वैदिक उदात्त भावनाएँ ... ३९४
विश्वबन्धुत्व और विश्वशान्ति ... ३९५
समष्टिभावना ३९६
भद्रभावना ३९६
आशावाद ३९७
वेदपर सर्वसाधारणका अधिकार ३९८
वेदके विषयमें हमारी आवश्यकताएँ और कर्तव्य ... ४००

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(ग) यजुर्वेद तथा वैदिक कर्मकाण्ड

वैदिक साहित्यमें यजुर्वेदका महत्त्व ... ४०५
यजुर्वेदका साहित्य ४०५
यजुर्वेदका प्रतिपाद्य विषय ... ४०६
अधियज्ञ दृष्टिका स्वरूप और विकास ४०७
वैदिक देवताओंका स्वरूप ... ४०८
वैदिक धर्माचरणका लक्ष्य ४०९
वैदिक उदात्त भावनाएँ ४१०
समष्टि-भावना ... ४११
आशावादकी भावना ... ४११
भद्र-भावना ... ४१२
उपसंहार ४१४

(घ) वेदोंके जीवन-प्रद संदेश

आशावाद तथा निराशावाद ... ४१६
प्रगतिवाद तथा रूढिवाद ४१८
मानवताका सम्मान तथा गौरव ... ४२२
वैदिक साहित्यका पुनरुद्धार ४२४

(ङ) भगवद्गीताका एक असाम्प्रदायिक अध्ययन

अथवा

भगवद्गीताका वैदिक आधार

भगवद्गीताका स्वरूप और उपयोग ... ४२७
गीताका दुरुपयोग ... ४३२
गीताके उपक्रम और उपसंहार ... ४३३
गीताका वास्तविक स्वरूप ... ४३५
गीताके कर्म तथा यज्ञका स्वरूप ४३७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गीताकी भक्ति ... ४४०
आत्मपरीक्षण तथा अन्तरवेक्षण ... ४४३
गीताका आशावाद ... ४४४
उपसंहार ४४६

(च) वर्णभेद तथा जातिभेदका परस्पर सम्बन्ध

वर्णव्यवस्थामें वैज्ञानिक तथा व्यवाहारिक दृष्टि ... ४४८
पुराणोंमें वैज्ञानिक वर्णव्यवस्था ... ४४९
भारतवर्षकी आधुनिक वर्ण-व्यवस्था ... ४५१
वर्णभेद और जातिभेदमें परस्पर सम्बन्ध ... ४५२
प्रथम मत ... ४५२
दूसरा मत ... ४५३
हमारा अपना विचार ... ४५३
उपसंहार ... ४६१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संकेत

उद्धृत अथवा उल्लिखित ग्रन्थोंके नाम, प्रकृत ग्रन्थ-में, प्रायेण पूरे दिये हैं। कहीं-कहीं दिये गये संक्षिप्त संकेत पासमें आये हुए पूरे नामसे स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं। फिर भी निम्न-निर्दिष्ट संकेतों-को यहाँ स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा—

अथर्व० = अथर्ववेद-संहिता (शौनक-शाखा)
ऋग्० = ऋग्वेसंहिता (शाकल-शाखा)
यजु० = यजुर्वेदसंहिता (शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिन-शाखा)
साम० = सामवेदसंहिता (राणायनीय शाखा)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मातृभूमेरभिनन्दनम्

सा नो माता भारती भूर्विभासताम्

येयं देवी मधुना तर्पयन्ती
तिस्रो भूमीरुद्धृता द्योरुस्थात् ।
कामान् दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं
मेधां श्रेष्ठां सा सदास्मासु दध्यात् ॥१॥

सर्वे वेदा उपनिषदश्च सर्वा
धर्मग्रन्थाश्चापरे निधयो यस्याः ।
मृत्योर्मर्त्यानमृतं ये दिशन्ति वै
सा नो माता भारती भूर्विभासताम् ॥२॥

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्ते
उत्तिष्ठन्ते ते भूय उत्तिष्ठमानाम् ।
यस्या व्रते प्रसवे धर्म एजते
सा नो माता भारती भूर्विभासताम् ॥३॥

यां रक्षन्त्यनिशं प्रतिबुध्यमाना
देवा ऋषयो मुनयो ह्यप्रमादम् ।
राजर्षयोऽपि ह्यनघाः साधुवर्याः
सा नो माता भारती भूर्विभासताम् ॥४॥

महान्तोऽस्यां महिमानो निविष्टा
देवा गातुं यां क्षमन्ते न सद्यः ।
सा नो वन्द्या भ्राजसा भ्राजमाना
माता भूमिः प्रणुदतां सपत्नान् ॥५॥

अभिनन्दनमिदं पुण्यं दिव्यभावैः समर्हितम् ।
मातृभूमेः पठन्नित्यमात्मकल्याणमश्नुते ॥६॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय संस्कृतिकी दृष्टिसे मातृभूमिका अभिनन्दन

विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो

१. द्युलोकसे मानो अवतीर्ण,
तीनों लोकोंको दिव्य माधुर्यसे आपूर्ण करनेवाली,
अभिलषित कामनाओंको देनेवाली
तथा दुःख-दारिद्र्य (अलक्ष्मी) को हटानेवाली,
देवीस्वरूपिणी भारत-माता
सद्विचारोंकी साधनामें हमारी सहायक हो !

२. मनुष्योंको मृत्युसे हटाकर
अमृतत्वकी प्राप्तिका उपदेश देनेवाले
समस्त वेद, उपनिषद् तथा अन्य (बौद्ध, जैन आदि) धर्म-ग्रन्थ
जिसके निधि-स्वरूप हैं,
वह विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो !

३. जिसका अपकर्ष संसारमें
धर्माचरणके अपकर्षका कारण होता है,
जिसके उत्कर्षमें धर्माचरणका उत्कर्ष निहित है,
जिससे धर्मको प्रेरणा प्राप्त होती है,
वह विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो !

४. देवगण, ऋषि, मुनि, राजर्षि
और पवित्रात्मा सन्त-महात्मागण
सावधानता तथा तत्परतासे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जिसके कल्याणमय स्वरूपकी निरन्तर रक्षा करते आये हैं,
वह विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो !

५. जिसकी महिमा महान् है,
देवगण भी जिसके स्वरूपका गान नहीं कर पाते,
समुज्ज्वल तेजसे देदीप्यमान
वह सर्व-लोक-वन्दनीय हमारी मातृभूमि
विरोधी शत्रुओंको शमन (निराकरण) करनेवाली हो ।

माहात्म्य

६. मातृभूमि भारतके दिव्य भावोंसे युक्त इस पवित्र अभिनन्दनका नित्य पाठ करनेवाला मनुष्य आत्मकल्याणको प्राप्त होगा ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतवर्ष-महिमा

सितासिते सरिते यत्र संगथे
तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति ।
ये वै तन्वं वि सृजन्ति धीरा-
स्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते ॥

(ऋग्० खिल)

अर्थात्, वैदिक और वैदिकेतर दोनों धाराएँ जिसमें समन्वित होती हैं उस भारतीय संस्कृतिकी धारामें स्नान करनेवाले दिव्य प्रकाशको प्राप्त होते हैं। भारतवर्षमें यावज्जीवन रहनेवाले ज्ञानी मनुष्य अमृतत्वका सेवन करते हैं।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

(विष्णुपुराण २।३।२४)

अर्थात्, देवगण गीतोंमें गान करते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और निःश्रेयसके मार्गको दिखानेवाले भारतवर्षमें जन्म लिया है वे मनुष्य हम देवताओंकी अपेक्षा अधिक धन्य हैं।

अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या
द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत् ।

(भागवत ५।६।१३)

अर्थात्, अहो ! सात समुद्रोंवाली इस पृथ्वीके समस्त द्वीपों और वर्षोंमें भारतवर्ष अत्यन्त पवित्र स्थान है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भूमिका-खण्ड

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पहला परिच्छेद

भारतीय संस्कृतिके आधार

जिस रूपमें भारतीय संस्कृतिका प्रश्न आज देशके सामने है, उस रूपमें उसका इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है। तो भी यह कहा जा सकता है कि भारतीय स्वतन्त्रताकी प्राप्तिके अनन्तर इसपर विशेष ध्यान गया है।

वर्तमान भारतमें यह प्रश्न क्यों उठा ? यह विषय रुचिकर होनेके साथ-साथ मनन करनेके योग्य भी है। हमारे मतमें तो इसका उत्तर यही है कि, विदेशीय संघटित विचारधारा तथा राजनीतिक शक्तिके आक्रमणका प्रतिरोध करनेकी दृष्टिसे, हमारे मनीषियोंने अनुभव किया कि सहस्रों वर्षों-की क्षुद्र तथा संकीर्ण साम्प्रदायिक विचारधाराओं और भावनाओंके विघटनकारी दुष्प्रभावको देशसे दूर करनेके लिए आवश्यक है कि जनताके सामने विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायोंमें एकसूत्ररूपसे व्यापक तथा समन्वयात्मक विचारधारा रखी जाये। भारतीय संस्कृतिकी भावनाको उन्होंने ऐसा ही समझा। वर्तमान भारतमें भारतीय संस्कृतिके प्रश्नके उठनेका यही कारण हमारी समझमें आता है।

संस्कृति शब्दका अर्थ

'संस्कृति' शब्दका क्या अर्थ है ? इस प्रश्नके झगड़ेमें हम इस समय पड़ना नहीं चाहते। सब लोग इसका कुछ-न-कुछ अर्थ समझकर ही प्रयोग करते हैं। तो भी प्रायः निर्विवाद रूपसे इतना कहा जा सकता है कि :

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"कस्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्नजीवनव्यापारेषु सामाजिक सम्बन्धेषु वा मानवीयत्वदृष्ट्या प्रेरणाप्रदानां तत्तदादर्शानां समष्टिरेव संस्कृतिः....। वस्तुतस्तस्यामेव सर्वस्यापि सामाजिकजीवनस्योत्कर्षं पर्यवस्यति। तयैव तुलया विभिन्नसभ्यतानामुत्कर्षापकर्षौ मीयेते। किं बहुना, संस्कृतिरेव वस्तुतः "सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय" (छान्दोग्योपनिषद् ८।४।१) इत्येवं वर्णयितुं शक्यते। अत एव च सर्वेषां धर्माणां सम्प्रदायानामाचाराणां च परस्परं समन्वयः संस्कृतेरेवाधारेण कर्तुं शक्यते।"(प्रबन्धप्रकाश, भाग २, पृ० ८)।

इसका अभिप्राय यही है कि किसी देश या समाजके विभिन्न जीवन-व्यापारोंमें या सामाजिक सम्बन्धोंमें मानवताकी दृष्टिसे प्रेरणा प्रदान करने वाले तत्तद् आदर्शोंकी समष्टिको ही संस्कृति समझना चाहिए। समस्त सामाजिक जीवनका परमोत्कर्ष संस्कृतिमें ही होता है। विभिन्न सभ्यताओं का उत्कर्ष तथा अपकर्ष संस्कृति-द्वारा ही मापा जाता है। उसके द्वारा ही समाजको सुसंघटित किया जाता है। इसीलिए संस्कृतिके आधारपर ही विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और आचारोंका समन्वय किया जा सकता है।

विद्वानोंका इस विषयमें ऐकमत्य ही होगा कि ऊपरके अर्थमें 'संस्कृति' शब्दका प्रयोग प्रायः बिलकुल नया ही है।

भारतीय संस्कृतिके विषयमें विभिन्न दृष्टियाँ

संस्कृतिके विषयमें सामान्य रूपसे उपर्युक्त विचारकी मान्यता होनेपर भी, भारतीय संस्कृतिकी भावनाके विषयमें बड़ी गड़बड़ देखनेमें आती है। इस विषयमें देशके विचारकोंकी प्रायः परस्पर विरुद्ध या विभिन्न दृष्टियाँ दिखाई देती हैं।

इस विषयमें अत्यन्त संकीर्ण दृष्टि उन लोगोंकी है, जो परम्परागत अपने-अपने धर्म या सम्प्रदायको ही 'भारतीय संस्कृति' समझते हैं। संस्कृतिके जिस व्यापक या समन्वयात्मक रूपकी हमने ऊपर व्याख्या की है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता है। सुप्रसिद्ध 'कल्याण' पत्रिकाने जनवरी १९५० में एक प्रशंसनीय 'संस्कृति-विशेषांक' (हिन्दू संस्कृति अंक) निकाला था। उसमें लेख लिखनेवाले कुछ ऐसे भी सज्जन थे, जिनको कदाचित् यह स्पष्ट नहीं था कि 'धर्म', 'सम्प्रदाय', 'सदाचार' आदि प्राचीन शब्दोंके रहनेपर भी देशमें 'संस्कृति' शब्दके इस समय प्रचलनका मुख्य लक्ष्य क्या है।[1]

दूसरी दृष्टि उन लोगोंकी है, जो भारतीय संस्कृतिको, भारतान्तर्गत समस्त सम्प्रदायोंमें व्यापक न मानकर, कुछ विशिष्ट सम्प्रदायोंसे ही सम्बद्ध मानते हैं। इस दृष्टिवाले लोग यद्यपि उपर्युक्त पहली दृष्टिवालोंसे काफ़ी अधिक उदार हैं, तो भी देखना तो यह है कि इस विचारधारासे प्रभावित भारतीय संस्कृतिमें वर्तमान भारतकी कठिन साम्प्रदायिक समस्याओंके समाधानकी, तथा साथ ही संसारकी सतत प्रगतिशील विचारधाराके साथ भारतवर्षको आगे बढ़ानेकी कहाँतक क्षमता है। यदि नहीं, तब तो यही आशंका मनमें उठती है कि भारतीय संस्कृतिके इस नवीन आन्दोलनसे देश-को लाभके स्थानमें कहीं हानि ही न उठानी पड़े? हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ ही दिनों पहले तक सबसे सम्मानित 'भारतीय संस्कृति' शब्द साम्प्रदायिकतासे प्रभावित इस विचारधाराके कारण ही अब अपने उच्च पदसे नीचे गिरने लगा है।[2]

तीसरी दृष्टि उन लोगोंकी है जो भारतीय संस्कृतिको, देशके किसी विशिष्ट एक या अनेक सम्प्रदायोंसे सीमित या बद्ध न मानकर, समस्त सम्प्रदायोंमें एकसूत्ररूपसे व्यापक, अतएव सबके अभिमानकी वस्तु, काफ़ी

---

१. एक प्रसिद्ध भारतीय इतिहासज्ञने कुछ समय पहले अपना मत व्यक्त किया था कि "भारतीय राष्ट्रका भौगोलिक अस्तित्व तो माना जा सकता है, पर 'भारतीय संस्कृति' नामकी कोई चीज़ नहीं है।"

२. कुछ समय पहले एक उत्कृष्टपदस्थ भारतीय नेताने 'देशवासी संस्कृतिकी फ़ालतू बातोंमें न पड़ें' – ऐसा कहा था।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लचीली, और सहस्रों वर्षोंसे भारतीय परम्परासे प्राप्त संकीर्ण साम्प्र-दायिक भावनाओं और विषमताओंके विषको दूर करके राष्ट्रमें एकात्मताकी भावनाको फैलानेका एकमात्र साधन समझते हैं। स्पष्टतः इसी दृष्टिसे भारतीय संस्कृतिकी भावना देशकी अनेक विषम समस्याओंके समाधान का एकमात्र साधन हो सकती है।

दूसरी ओर, लक्ष्य या उद्देश्यकी दृष्टिसे भी, भारतीय संस्कृतिके सम्बन्धमें लोगोंमें विभिन्न धारणाएँ फैली हुई हैं।

कोई तो इसको प्रतिक्रियावादिता या पश्चाद्गामिताका ही पोषक व समर्थक समझते हैं। संस्कृति-रूपी नदीकी धारा सदा आगेको ही बहती है, इस मौलिक सिद्धान्तको भूलकर वे प्रायः यही स्वप्न देखते हैं कि भारतीय संस्कृतिके आन्दोलनके सहारे हम भारतवर्षकी सहस्रों वर्षोंकी प्राचीन परिस्थितिको फिरसे वापस ला सकेंगे। पश्चाद्गामिताकी इस विचारधाराके कारण देशका एक बड़ा प्रभावसम्पन्न वर्ग भारतीय संस्कृतिकी भावनाको सन्देहकी दृष्टिसे देखने लगा है।

दूसरे वे लोग हैं, जो भारतीय संस्कृतिको देशके परस्पर-विरोधी तत्त्वोंको मिलानेवाली, गंगाकी सतत अग्रगामिनी तथा विभिन्न धाराओंको आत्मसात् करनेवाली धाराके समान ही सतत प्रगतिशील, और स्वभावतः समन्वयात्मक समझते हैं। प्राचीन परम्परासे जीवित सम्बन्ध रखते हुए वह सदा आगे ही बढ़ेगी। इसीलिए उसे संसारके किसी भी वस्तुतः प्रगतिशील वादसे न तो कोई विद्वेष हो सकता है न भय।

उपर्युक्त विभिन्न विचारधाराओंके प्रभावके कारण ही भारतीय संस्कृतिके आधारके विषयमें भी विभिन्न मत प्रचलित हो रहे हैं।

साम्प्रदायिक दृष्टिकोण

इस सम्बन्धमें जनतामें सबसे अधिक प्रचलित मत विभिन्न सम्प्रदाय-वादियोंके हैं। लगभग दो-ढाई सहस्र वर्षोंसे इन्हीं सम्प्रदायवादियोंके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बोलबाला भारतमें रहा है। इन सम्प्रदायोंके मूलमें जो आर्थिक, जातिगत, समाजगत या राजनीतिक कारण थे, उनका विचार यहाँ हम नहीं करेंगे। तो भी इतना कहना अप्रासंगिक न होगा कि इस दो-ढाई सहस्र वर्षोंके कालमें भी भारतवर्षकी राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियोंमें इन सम्प्रदायवादियोंका काफ़ी हाथ रहा है।

अपने-अपने सम्प्रदाय तथा परम्पराको ही प्रायः सृष्टिके प्रारम्भसे ब्रह्मा, शिव आदि-द्वारा प्रवर्तित कहनेवाले, तथा अपनेसे भिन्न सम्प्रदायोंको अपनेसे हीन कहनेवाले, इन लोगोंके मतमें 'विशुद्ध' भारतीय संस्कृतिका आधार उनके ही सम्प्रदायके प्रारम्भिक रूपमें ढूँढ़ना चाहिए।

ये लोग अपने-अपने सम्प्रदायसे अनन्तर-भावी या भिन्न सम्प्रदायोंको प्रायः अपने मौलिक धर्मका विकृत या बिगड़ा हुआ रूप ही समझते हैं।

उदाहरणार्थ, मनुस्मृतिके —

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥ (१२।९७)
या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ (१२।९५-९६)

(अर्थात्, चातुर्वर्ण्य और चारों आश्रमोंके साथ-साथ भूत, वर्तमान और भविष्य तथा तीनों लोकोंका परिज्ञान वेदसे ही होता है। वेद-बाह्य जो भी स्मृतियाँ या सम्प्रदाय हैं, वे तमोनिष्ठ तथा नवीन होनेके कारण निष्फल और मिथ्या हैं।) इत्यादि वचन,

युगोंके क्रमसे धर्मके ह्रासकी कल्पना[1],

१. तु० "चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।...इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः। चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥" (मनु० १।८१-८२)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मनुस्मृति-जैसे ग्रन्थोंमें शूद्रराज्यकी विभीषिका[1],

पुराणोंमें "नन्दान्तं क्षत्रियकुलम्" (अर्थात् नन्दोंके राज्यारूढ होनेसे वैदिक परम्पराके पोषक 'क्षत्रिय' राजाओंका अन्त हो गया)[2],

धर्मशास्त्रोंमें चातुर्वर्ण्यके सिद्धान्तके साथ-साथ संकरज जातियोंकी स्थितिकी कल्पना[3],

इत्यादि समस्त विचारधारा उन्हीं सम्प्रदायवादियोंका प्रतीक है, जो भारतीय संस्कृतिको प्रगतिशील और समन्वयात्मक न मानकर केवल अपने-अपने सम्प्रदायमें ही अपनी विचारधाराको बद्ध रखते रहे हैं।

एकमात्र शब्दप्रमाणकी प्रधानता, असहिष्णुताकी भावना और भारतके वर्तमान या ऐतिहासिक स्वरूपके समझनेमें वैज्ञानिक समष्टि-दृष्टिका अभाव – इन बातोंमें ही इन लोगोंका मुख्य वैशिष्ट्य दीख पड़ता है।

यह विचित्र-सी बात है कि हमारे कुछ आधुनिक इतिहास-लेखक तथा विचारक भी इस (बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक) पूर्वग्रहसे शून्य नहीं हैं। साम्प्रदायिक या जातिगत पूर्वग्रहके कारण वे भारतीय संस्कृतिके इतिहासके अध्ययनमें समष्टि-दृष्टि न रखकर, प्रायः एकांगी दृष्टिसे ही काम लेते हैं। उदाहरणार्थ, केवल बौद्धों आदिपर भारतके अधःपतनका दोष मढ़ना ऐसे ही लोगोंका काम है।

ऐतिहासिक गवेषणामें एकांगी दृष्टिका एक मुख्य कारण यह होता है कि हमारे अनेक विद्वान् अपनी दृष्टिको प्रायः भारतीय साहित्यकी किसी एक ही धारामें सीमित कर लेते हैं। पर, उदाहरणार्थ, संस्कृत साहित्य

---

१. तु० "न शूद्रराज्ये निवसेद्...न पाषण्डिगणाक्रान्ते" (मनु० ४।६१)

२. तु० "ततः शूद्रागर्भोद्भवो...महापद्मनामा नन्दः...अखिलक्षत्रान्तकरो भविष्यति। ततः प्रभृति शूद्रा भूपाला भविष्यन्ति।" (विष्णुपुराण ४।२४।२०–२१)। तथा भागवत १२।१।८-९।

३. दे० मनुस्मृति, अध्याय १०।८-४०।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही कितनी अधिक एकांगिता है, इसका एक ज्वलन्त प्रमाण इसीसे मिल जाता है कि बौद्धकालीन उस इतिहासका भी, जिसको हम भारतका स्वर्ण-युग कह सकते हैं, संस्कृत साहित्यमें प्रायः उल्लेख ही नहीं है।

व्याकरणमहाभाष्यमें पाणिनि आचार्यके "येषां च विरोधः शाश्वतिकः" (अष्टाध्यायी २।४।९) (अर्थात्, जिनमें परस्पर शाश्वतिक विरोध होता है, उनके वाचक शब्दोंका द्वन्द्व समास एकवचनमें रहता है) इस सूत्रका एक उदाहरण 'श्रमण-ब्राह्मणम्' दिया है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि कमसे कम ईसासे कई सौ वर्ष पूर्वसे ही श्रमणों (अर्थात् जैन-बौद्धों) और ब्राह्मणोंमें सर्प और नकुल-जैसी शत्रुता रहने लगी थी।[1] संस्कृत साहित्यकी उपर्युक्त एकांगिताके मूलमें ऐसे ही कारण हो सकते हैं।

यही बात संस्कृतेतर (पालि, प्राकृत) भारतीय साहित्योंके विषयमें भी कही जा सकती है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृतिके आधारके विषयमें उपर्युक्त साम्प्रदायिक तथा एकांगी दृष्टिके मुक़ाबलेमें विज्ञान-मूलक आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि है। इसके अनुसार भारतीय संस्कृतिको उसके उपर्युक्त अत्यन्त व्यापक अर्थमें लेकर, उसको स्वभावतः प्रगतिशील तथा समन्वयात्मक मानते हुए, वैदिक परम्पराके संस्कृत साहित्यके साथ बौद्ध-जैन साहित्य तथा सन्तोंके साहित्यके तुलनात्मक अध्ययन, मूक जनताके अनंकित विश्वासों और आचार-विचारों-

---

१. ब्राह्मणों और बौद्धोंके शाश्वतिक विरोधके वर्णनके लिए दे० राजतरङ्गिणी १।१७७-१८४ ("नानश्यन् यद्वशाद् विप्रा बौद्धाश्च निधनं गताः" १।१८१)। राजतरङ्गिणी ६।१७२-१७३ तथा ६।१७५ में बौद्ध विहारोंके जलाये जानेका भी वर्णन है। तु० "अनाभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम्" (मृच्छकटिक ७)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के परीक्षण[1], और भाषाके साथ-साथ पुरातत्त्व-सम्बन्धी ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक साक्ष्यके अनुशीलन-द्वारा, समष्टि-दृष्टिसे, भारतीय संस्कृतिके आधारोंका अनुसन्धान किया जाता है।

उपर्युक्त दोनों दृष्टियोंमें किसका कितना मूल्य है, यह कहनेकी बात नहीं है। स्पष्टतः उपर्युक्त वैज्ञानिक दृष्टिसे ही हम भारतीय संस्कृतिके समन्वयात्मक तथा प्रगतिशील स्वरूपको समझ सकते हैं, जिसको हम वर्तमान भारतके सामने रख सकते हैं और जिसमें भारतके विभिन्न सम्प्रदायों और वर्गोंको ममत्वकी भावना हो सकती है।

यहाँ हम इसी दृष्टिसे, संक्षेपमें ही, भारतीय संस्कृतिके आधारोंकी विवेचना करना चाहते हैं।

भारतीय संस्कृतिके मौलिक आधार

भारतीय संस्कृतिके आधारके विषयमें उपर्युक्त समन्वय-मूलक दृष्टिका क्षेत्र यद्यपि आजके वैज्ञानिक युगमें अत्यधिक व्यापक और विस्तृत हो गया है, तो भी यह दृष्टि नितरां नवीन-कल्पना-मूलक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। भारतवर्षके ही विद्वानोंकी परम्परागत प्राचीन मान्यताओंमें इस दृष्टिकी पुष्टिमें हमें पर्याप्त आधार मिल जाता है।

निगमागम-धर्म

उदाहरणार्थ, संस्कृतके विद्वानोंसे छिपा नहीं है कि वर्तमान पौराणिक हिन्दू धर्मके लिए निगमागम-धर्म नाम पण्डितोंमें प्रसिद्ध है। इसका अर्थ स्पष्टतः यही है कि परम्परागत वर्तमान पौराणिक हिन्दू धर्मका आधार

---

१. यहाँ आपस्तम्ब-धर्मसूत्रके निम्नलिखित सूत्रोंको देखिए—"सा निष्ठा विद्या स्त्रीषु शूद्रेषु च।" (निष्ठा = विद्यासमाप्तिः--टीका)। "स्त्रीभ्यः सर्ववर्णेभ्यश्च धर्मशेषान् प्रतीयादित्येके।" (२।२९।११, १५)। इनसे स्पष्ट है कि धर्मके समान ही संस्कृतिके भी वास्तविक स्वरूपको समझनेके लिए हमारी दृष्टिका क्षेत्र पर्याप्त रूपसे विस्तृत होना चाहिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

केवल 'निगम' (या वेद) न होकर, 'आगम' भी है। दूसरे शब्दोंमें, वह निगम-आगम-धर्मोंका समन्वित रूप है।[1] यहाँ 'निगम' का मौलिक अभिप्राय, हमारी सम्मतिमें, निश्चित या व्यवस्थित वैदिक परम्परासे है; और 'आगम'का मौलिक अभिप्राय प्राचीनतर प्राग्वैदिक कालसे आती हुई वैदिकेतर धार्मिक या सांस्कृतिक परम्परासे है।[2] 'निगमागम-धर्म'की चर्चा हम आगे भी करेंगे। यहाँ तो हमें केवल यही दिखाना है कि प्राचीन भारतीय विद्वानोंकी भी अस्पष्ट रूपसे यह भावना थी कि भारतीय संस्कृति-का रूप समन्वयात्मक है।

इसके अतिरिक्त, साहित्य आदिके स्वतन्त्र साक्ष्यसे भी हम इसी परिणामपर पहुँचते हैं। सबसे पहले हम वैदिक संस्कृतिसे भी प्राचीनतर प्राग्वैदिक जातियों और उनकी संस्कृतिके विषयमें ही कुछ साक्ष्य उपस्थित करना चाहते हैं।

प्राग्वैदिक जातियाँ

वैदिक साहित्यको ही लीजिए। ऋग्वेदमें वैदिक देवताओंके प्रति विरोधी भावना रखनेवाले दासों या दस्युओंके लिए स्पष्टतः 'अयज्यवः'[3]

---

१. तु० "अत एव हारीतः—अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। श्रुतिप्रमाणको धर्मः। श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च।" (मनुस्मृति २।१ पर कुल्लूकभट्टकी टीका)। तथा "त्वया कृतानि तन्त्राणि जीवोद्धरणहेतवे। निगमागमजातानि भुक्तिमुक्तिकराणि च॥ (सत्यार्थविवेक, १९१५, में पृष्ठ ४४० पर महानिर्वाणतन्त्रसे उद्धृत—शिवके प्रति पार्वतीका कथन)। तथा "आगमोक्तविधानेन कलौ देवान् यजेत् सुधीः। नहि देवाः प्रसीदन्ति कलौ चान्यविधानतः॥" (हिन्दुत्व, पृ० ४९१, में विष्णुयामलसे उद्धृत)।

२. तु० "आगतं पञ्चवक्त्रात्तु गतं च गिरिजानने। मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममु (?) च्यते॥" (शब्दकल्पद्रुम)

३. देखिए—"न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीँरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्। प्रप्रतान् दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्॥" (ऋग्० ७।६।३)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

या 'अयज्ञाः' (= वैदिक यज्ञ-प्रथाको न माननेवाले), 'अनिन्द्राः' (= इन्द्रको न माननेवाले) कहा गया है। इन्द्रको इन दस्युओंकी संख्या 'आयसीः पुरः'[2] (= अयोमय या अयस्के समान दृढ़ पुरियों) को नष्ट करनेवाला कहा गया है।

अथर्ववेदके पृथ्वीसूक्तके

"यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्"
(१२।१।५)

(अर्थात्, जिस पृथ्वीपर पुराने लोगोंने विभिन्न प्रकारके कार्य किये थे और जिसपर देवताओंने 'असुरों' पर आक्रमण किये थे) इस मन्त्रमें स्पष्टतः प्राग्वैदिक असुर-जातिका उल्लेख है।[3]

भारतीय सभ्यताकी परम्परामें 'देवों' की अपेक्षा 'असुरों' का पूर्वकाल होना और प्रमाणोंसे भी सिद्ध किया जा सकता है।[4] संस्कृत भाषा कोषों में असुरवाची 'पूर्वदेवाः' शब्दसे भी यही सिद्ध होता है।[5]

---

१. देखिए—"किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः" (ऋग्० १०।४८।७)

२. देखिए—"हत्वी दस्यून् पुर आयसीर्नि तारीत्" (ऋग्० २।२०।८)

३. और भी देखिए—"यददो देवा असुरांस्त्वयाग्रे निरकुर्वत" (अथर्व० ४।४)।, "येन देवा असुरान् प्राणुदन्त" (अथर्व० ९।२।१७) "सासुरानागच्छत्.....। तस्या विरोचनः प्राह्लादिर्वत्स आसीत्..... (अथर्व० ८।१३।१–२)

४. तु० "द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।१)। तथा शतपथब्राह्मण (१।४।१।१)। देवों-द्वारा पूर्ववर्ती असुरोंके पराजयको मानकर ही महाभारत शान्तिपर्वके २२२–२२८ अध्यायोंकी प्रवृत्ति हुई है। इसी प्रसंगमें काशिका तथा महाभाष्यमें ४।३।१२५ पर "दैवासुरं वैरम्" इस उदाहरणको देखिए।

५. तु० "असुरा दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः। शुक्रशिष्या दितिसुताः पूर्वदेवासुरद्विषः॥ (अमरकोष १।१।१२)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बौधायन-धर्मसूत्रमें ब्रह्मचर्यादि आश्रमोंके विषयमें विचार करते हुए स्पष्टतः कहा है –

"ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या····तत्रोदाहरन्ति ।
प्राह्लादिर्ह वै कपिलो नामासुर आस ।
स एतान् भेदांश्चकार····तान् मनीषी नाद्रियेत ।"
(बौधायन-धर्मसूत्र २।११।२९-३०)

अर्थात्, आश्रमोंका भेद प्रह्लादके पुत्र कपिल-नामक असुरने किया था ।

पुराणों तथा वाल्मीकिरामायण आदिमें भारतवर्षमें ही रहनेवाली यक्ष, राक्षस, विद्याधर, नाग आदि अनेक अवैदिक जातियोंका उल्लेख मिलता है । जिस प्रकार इन जातियोंकी स्मृति और स्वरूप साहित्यमें क्रमशः अस्पष्ट और मन्द पड़ते गये हैं, यहाँतक कि अन्तमें इनको 'देवयोनिविशेष' [तु० "विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः । पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ॥" (अमरकोष १।१।११)] मान लिया गया, इससे यही सिद्ध होता है कि ये प्रागैतिहासिक जातियाँ थीं, जिनको क्रमशः हमारी जातीय स्मृतिने भुला दिया ।

अग्रवालों आदिकी अनुश्रुतिमें भी 'नाग' आदि प्रागैतिहासिक जातियों-का उल्लेख मिलता है ।

शिव

पुराणोंमें शिवका जैसा वर्णन आता है, वह ऋग्वेदीय रुद्रके वर्णनसे बहुत-कुछ भिन्न है । ऋग्वेदका रुद्र केवल एक अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता है ।[1] उसका यक्ष, राक्षस आदिके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है । परन्तु पौराणिक शिवकी तो एक विशेषता यही है कि उसके गण भूत, प्रेत, पिशाच आदि ही माने गये हैं । वह राक्षस और असुरोंका खास तौरपर

१. दे० निरुक्त १०।१ तथा ५ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपास्य देव है।[1] इससे यही सिद्ध होता है कि शिव अपने मूल रू एक प्राग्वैदिक देवता था, जिसका पीछेसे शनैः-शनैः वैदिक रुद्रके स एकीभाव हो गया।

पुराणोंमें (उदाहरणार्थ दे० भागवत ४।४-५) शिवके (भूत-प्रे पिशाचादि) गणों-द्वारा दक्ष प्रजापतिके वैदिक यज्ञके विध्वंसका वी वर्णन मिलता है। इसीलिए शिवका कोषोंमें एक नाम 'क्रतुध्वंसी' (अमरकोष १।१।३६) दिया गया है। ऐसी कथाएँ, अपने मूलरू शिव एक प्राग्वैदिक देवता था, यही सिद्ध करती हैं। साथ उनसे वैदिकों और वैदिकेतरोंके प्रारम्भिक संघर्ष और दृष्टिभेदपर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

उपास्यदेव तथा कर्मकाण्ड

वैदिक तथा प्रचलित पौराणिक उपास्य देवों और कर्मकाण्डों पारस्परिक तुलना करनेसे भी हम बरबस इसी परिणामपर पहुँचते कि प्रचलित हिन्दू देवताओं और कर्मकांण्डपर एक वैदिकेतर, और क अंशोंमें प्रागैतिहासिक, परम्पराकी छाप है।

प्राचीन वैदिक धर्मकी अपेक्षा पौराणिक धर्ममें उपास्यदेवोंकी सं बहुत बढ़ गयी है। वैदिक धर्मके अनेक देवता (जैसे ब्रह्मणस्पति, पू भग, मित्र, वरुण, इन्द्र) या तो पौराणिक धर्ममें प्रायः विलुप्त ही गये हैं या अत्यन्त गौण हो गये हैं। पौराणिक धर्मके गणेश, शिव, श और विष्णु ये मुख्य देवता हैं। वेदमें इनका स्थान या तो गौण है या ही नहीं। अनेक वैदिक देवताओं (जैसे विष्णु, वरुण, शिव) का पौ

---

१. तु० "प्रेतवासेषु घोरेषु प्रेतैर्भूतगणैर्वृतः।...चिताभस्मकृतस्नानः...शि पदेशः...पतिः प्रमथभूतानाम्।" (भागवत ४।२।१४–१५)। "महादेवो राक्षसानां महाधनम्" (सूतसंहिता १।१३।८२)। इसी प्रस भागवत ४।५ भी देखिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

णिक धर्ममें रूपान्तर ही हो गया है। भैरव, हनुमान् आदि ऐसे भी पौराणिक धर्मके अनेकानेक देवता हैं, जिनका वैदिक धर्ममें कोई स्थान ही नहीं है।

पौराणिक देव-पूजा-पद्धति भी वैदिक पूजा-पद्धतिसे नितरां भिन्न है। पौराणिक कर्मकाण्डमें धूप, दीप, पुष्प, फल, पान, सुपारी आदिकी पदे-पदे आवश्यकता होती है। वैदिक कर्मकाण्डमें इनका अभाव ही है।

वैदिक धर्मसे प्रचलित पौराणिक धर्मके इस महान् परिवर्तनको हम वैदिक तथा वैदिकेतर (या प्राग्वैदिक) परम्पराओंके एक प्रकारके समन्वयसे ही समझ सकते हैं।

विचारधाराओंके परस्पर-विरोधी द्वन्द्व

इसी प्रकार हमारी संस्कृतिकी परम्परामें विचारधाराओंके कुछ ऐसे परस्पर-विरोधी द्वन्द्व हैं, जिनको हम वैदिक और वैदिकेतर धाराओंके साहाय्यके विना प्रायः नहीं समझ सकते। ऐसे ही कुछ द्वन्द्वोंका संकेत हम नीचे करते हैं :

१. कर्म और संन्यास, (अथवा प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग)[1]।

२. संसार और जीवनका उद्देश्य हमारा उत्तरोत्तर विकास है। उत्तरोत्तर विकासका ही नाम अमृतत्व है।[2] यही निःश्रेयस है।

---

१. दे० महाभारत, शान्तिपर्व, ३४०।६९–७४।

२. तुलना कीजिए – "उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।" (यजु० २०।२१)। "भद्रादधि श्रेयः प्रेहि" (अथर्व० ७।८।१)। "कृधी न ऊर्ध्वाञ् चरथाय जीवसे" (ऋग्० १।३६।१४)। "रोहेम शरदः शतम्" (अथर्व० १९।६७।४)। "जीवा ज्योतिरशीमहि" (ऋग्० ७।३२।२६)। "यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते। ...तत्र माममृतं कृधि।" (ऋग्० ९।११३।११) इत्यादि।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसके स्थानमें –

संसार और जीवन दुःखमय हैं। अतएव हेय हैं। इनसे मोक्ष छुटकारा पाना ही हमारा ध्येय होना चाहिए।

३. ज्योतिर्मय लोकोंकी प्रार्थना और नरकों[1]का निरन्तर भय।

इन द्वन्द्वोंमें पहला पक्ष स्पष्टतया वैदिक संकृतिके आधारपर है। दू पक्षका मौलिक आधार, हमारी समझमें, वैदिकेतर ही हो सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्षकी प्राचीनतर वैदिकेतर संस्कृ या संस्कृतियोंमें ही दूसरे पक्षोंकी जड़ होनी चाहिए। ऊपर (पृ० १३ आश्रमोंकी उत्पत्तिके विषयमें जो बौधायन-धर्मसूत्रका उद्धरण दिया गया उससे भी यही सिद्ध होता है।

ऐसा होनेपर भी, हमारे देशके अध्यात्म-शास्त्र तथा दर्शन-शास्त्र मुख्य आधार ये ही द्वितीय पक्षकी धारणाएँ हैं। ये धारणाएँ अवैदिक यह सुनकर हमारे अनेक भाई चौंक उठेंगे। पर हमारे मतमें तो क स्थिति यही दीखती है। आगे चलकर इस विषयपर हम विशेष वि करेंगे।

इन्हीं दो प्रकारकी विचार-धाराओंको, बहुत अंशोंमें, हम क्रम ऋषि-सम्प्रदाय और मुनि-सम्प्रदाय भी कह सकते हैं।[2] 'ऋषि' तथा 'मु शब्दोंके मौलिक प्रयोगोंके आधारपर हम इसी परिणामपर पहुँचते 'मुनि' शब्दका प्रयोग वैदिक-संहिताओंमें बहुत ही कम हुआ है। होने

---

१. 'नरक' शब्द ऋग्वेद-संहिता, शुक्लयजुर्वेद-वाजसनेयि-माध्यन्दिन-सं तथा सामवेद-संहितामें एक बार भी नहीं आया है। अथर्ववेद-संहि 'नारक' शब्द केवल एक बार प्रयुक्त हुआ है।

२. मुनियों और ऋषियोंके सम्बन्धमें देखिए हरिवंश ४५।३२–४२ ४६।१२।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी उसका 'ऋषि' शब्दसे कोई सम्बन्ध नहीं है।[1]

ऋषि-सम्प्रदाय और मुनि-सम्प्रदायके सम्बन्धमें, संक्षेपमें, यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि दोनोंकी दृष्टियोंमें हमें महान् भेद प्रतीत होता है। जहाँ एकका झुकाव (आगे चलकर) हिंसा-मूलक मांसाहार[2] और तन्मूलक असहिष्णुताकी ओर रहा है; वहाँ दूसरीका अहिंसा तथा तन्मूलक निरामिषता[3] तथा विचार-सहिष्णुता (अथवा अनेकान्तवाद) की

१. 'ऋषि' शब्दका मौलिक अर्थ मन्त्र-द्रष्टा है। तु० "ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः" (निरुक्त २।११)। वैदिक वाङ्मयमें 'ऋषि' शब्दका यही अर्थ है। 'मुनि' शब्दका प्रयोग इस अर्थमें नहीं होता॥ "मधु मांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह धार्मिकाः। जन्मप्रभृति मद्यं च सर्वे ते मुनयः स्मृताः॥" (महाभारत, अनुशासनपर्व, ११५।७९)। "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥" (गीता २।५६) इत्यादि प्रमाणोंके अनुसार 'मुनि' शब्दके साथ ज्ञान, तप, योग, वैराग्य-जैसी भावनाओंका गहरा सम्बन्ध है। जैन साहित्यमें 'मुनि' शब्दका ही अधिक प्रयोग हुआ है। हाँ, पुराण आदिमें, जिनका आधार वैदिक तथा वैदिकेतर धाराओंके समन्वयपर है, उक्त दोनों शब्दोंका प्रयोग मिले-जुले अर्थमें पीछेसे होने लगा था, जो स्वाभाविक ही था॥ ऋषि स्वभावतः प्रवृत्तिधर्मी, अतएव गृहस्थ (तु० "अयं पन्था महर्षीणाम्" महाभारत, शान्तिपर्व, १२।१३; तथा "ऋषयो गृहमेधिनः") होते थे, और मुनि निवृत्ति-धर्मके अनुगामी।

२. इसकी पुष्टि ब्राह्मणादि वैदिक साहित्य तथा रामायण, महाभारत आदिके शतशः स्थलोंसे तथा उत्तर भारतके वैदिकधर्मियोंके परम्परागत खान-पानके व्यवहारसे होती है। तथापि दे० मनु० ५।३१–४४। तथा तु० "एतदु ह वै परममन्नाद्यं यन्मांसः।" (शतपथब्राह्मण ११।७।१।३)। "...वेदा...हिंसामयाः...कर्ममार्गप्रवर्तकाः।", "वेदधर्मेषु हिंसा स्यात्" (देवीभागवत १।१४।४२ तथा १।१८।४९)।

३. तु० "चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने। कन्दमूलफलैर्जीवन् हित्वा मुनिवदामिषम्॥" (वाल्मीकिरामायण २।२०।२९), तथा "क्व कन्दमूलफलाशी शान्तो वनवासनिरतो मुनिजनः" (कादम्बरीमें महाश्वेताप्रकरण)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ओर रहा है। जहाँ एककी परम्परामें वेदोंको सुननेके कारण ही शूद्रोंके कानमें राँगा पिलानेका विधान है[1]; वहाँ दूसरी परम्पराने संसार-भरके शूद्रातिशूद्रके भी, हितकी दृष्टिसे बौद्ध, जैन, तथा सन्त सम्प्रदायोंको खोल दिया है। इनमें एक मूलमें वैदिक, और दूसरी मूलमें प्राग्वैदिक प्रवृत्ति होती है।

४. इसी प्रकार हमारे समाजमें वर्ण और जातिके आधारपर सामाजिक भेदोंका जो द्वैविध्य दीखता है, वह भी मूलतः एक ऐसा ही द्वैत प्रतीत होता है।

५. पुरुषविध देवताओंके साथ-साथ स्त्रीविध देवताओंकी पूजा, उपासना भी इसी प्रकारके द्वन्द्वोंमें-से एक है।

६. हम एक और द्वन्द्वका उल्लेख करके अपने उपसंहारकी ओर आते हैं। वह द्वन्द्व ग्राम और नगरका है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि जहाँ 'ग्राम' शब्द वैदिक संहिताओंमें अनेकत्र आया है, वहाँ 'नगर'का प्रयोग हमें एक बार भी नहीं मिलता। वैदिक साहित्य और धर्मसूत्रोंमें भी वैदिक सभ्यता ग्राम-प्रधान दीखती है। दूसरी ओर, नगरों आदिके निर्माणमें मय-जैसे असुरोंका उल्लेख पुराणों आदिमें मिलता है।[2] नगरोंके साथ ही नागरिक शिल्प और कला-कौशलका विचार सम्बद्ध है। यह विचारणीय बात है कि वैदिक संस्कृतिके वा

---

१. देखिए—"अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः" (गौतमधर्मसूत्र १२।४)। यही नहीं, विष्णु पुराण, ३।१७।३५-४४, के अनुसार तो विष्णुने अपने शरीरसे 'मायामोह' को इसीलिए उत्पन्न किया था कि वह वेदमार्गानुसारी असुरोंको वैदिक मार्गसे बहिष्कृत करा दे!

२. दे० मय ('असुरं मयम्', 'दानवेन्द्राणां मयं वै शिल्पिनां वरम्' महाभारत, आदिपर्व, २२८।३९,४१) द्वारा पाण्डवोंके लिए सभा-स्थानका निर्माण (महाभारत, सभापर्व, १ – ३)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऊपरी तीनों वर्णोंमें कलाकौशल और शिल्पका कोई स्थान नहीं है। यही नहीं, इन कामोंको करनेवालोंकी ये लोग 'शूद्रों'में गणना करते हैं।[1] इस प्रवृत्तिकी व्याख्या हमारी समझमें उपर्युक्त ग्राम तथा नगरके द्वन्द्वमें, जो कि वैदिक और प्राग्वैदिक परिस्थितियोंकी ओर संकेत करता है, मिल सकती है।

उपसंहार[2]

ऊपरके अनुसन्धानसे यह स्पष्टतया प्रतीत हो जाता है कि भारतीय संस्कृतिके मौलिक आधारोंके विचारमें हम उसकी प्रधान प्रवृत्तियोंको, जिनमें अनेक परस्पर-विरोधिनी द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियाँ भी हैं, कभी नहीं समझ सकते, जबतक हम यह न मान लें कि उनके निर्माण और विकासमें वैदिक धाराके साथ-साथ वैदिकेतर या प्राग्वैदिक धारा या धाराओंका भी बड़ा भारी हाथ रहा है। उन धाराओंके समन्वयमें ही हमें भारतीय संस्कृतिके मौलिक आधारोंको ढूँढ़ना होगा।

---

१. तु० "शिल्पाजीवं भृतिं चैव शूद्राणां व्यदधात्प्रभुः" (वायुपुराण ८।१६३)। तु० मनु० १०। ९९-१००। आजकल भारतमें शिल्पाजीवी जातियाँ अहिन्दू ही अधिक हैं और उनका उद्गम प्रायेण हिन्दुओंकी तथाकथित निम्न जातियोंसे ही हुआ है।

२. भारतीय संस्कृतिके मौलिक आधारोंके विषयमें जो कुछ हमने ऊपर कहा है उसके सम्बन्धमें विज्ञ पाठकोंका ध्यान हम एक विशेष प्रवृत्तिकी ओर दिलाना चाहते हैं। संस्कृत ग्रन्थोंके लेखकोंमें इधर पौराणिक हिन्दू धर्मकी समस्त धारणाओंको वेद-मूलक दिखानेकी प्रवृत्ति बराबर वृद्ध्युन्मुख रही है। इस प्रवृत्तिको जैन-बौद्ध आदि तथाकथित अवैदिक सम्प्रदायोंके प्रति वैदिकोंकी विरोधभावनाकी प्रतिक्रिया ही समझना चाहिए। उदाहरणार्थ, आगमिक (=तान्त्रिक) धाराको वेदमूलक दिखानेकी जो इधर प्रवृत्ति रही है, वह प्राचीन ग्रन्थोंमें नहीं थी। प्राचीन लेखक तो निगम और आगमकी दोनों धाराओंको मूलतः पृथक्-पृथक् ही मानते थे। यही बात अन्य अनेक विषयोंके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैदिक संस्कृतिके समान ही वह प्राग्वैदिक संस्कृति भी हमारे अभिमान और गर्वका विषय होनी चाहिए। 'आर्यत्व'के अभिमानके पूर्वग्रहसे युक्त और भारतमें अपने साथ सहानुभूतिका वातावरण उत्पन्न करनेकी इच्छासे प्रवृत्त, युरॅपीय ऐतिहासिकोंके प्रभावसे उत्पन्न हुई यह धारणा, कि भारतीय संस्कृति या सभ्यताका इतिहास केवल वैदिक कालसे प्रारम्भ होता है, हमें बरबस छोड़नी पड़ेगी। भारतीय संस्कृतिकी आध्यात्मिकता, त्याग और अपरिग्रहकी भावना, पारलौकिक भावना, अहिंसावाद-जैसी प्रवृत्तियों की जड़, जिनके वास्तविक और संयत रूपका हमको गर्व हो सकता है, हमको वैदिक संस्कृतिकी तहसे नीचे तक जाती हुई मिलेगी।[1]

वैदिक संस्कृतिका बहुत ही बड़ा महत्त्व है (जैसा कि आगे चलकर हम विस्तारसे दिखलायेंगे), तो भी भारतीय जनताके समुद्रमें उसका स्थान सदासे एक द्वीप-जैसा रहा है। मूक जनताकी अवस्थाके अध्ययन तथा दक्षिणके महाराष्ट्र आदि प्रदेशोंमें जनताके साथ वैदिकोंके गहरी पृथक्ताके व्यवहार[2]से यही सिद्धान्त निकलता है।

वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियोंका समन्वय

वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियोंका उक्त समन्वय अदृष्टविधया बहुत प्राचीन कालसे ही प्रारम्भ हो गया था। परस्पर आदान-प्रदानसे दोनों धाराएँ आगे बढ़ती हुई अन्तमें पौराणिक हिन्दू धर्मके रूपमें समन्वित होकर आपाततः एक धारामें ही विकसित हुईं। इस समन्वयका प्रश्न

---

१. इस प्रसंगमें दे० महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २२२-२२८।

२. विश्वगुणादर्शचम्पूके ग्रन्थकार वेङ्कटाध्वरिनामक विद्वान् (काञ्ची निवासी, समय सत्तरहवीं शताब्दी ई०) उक्त ग्रन्थमें काशीवासी उन आचारोंपर कटाक्ष करते हुए एक पात्र-द्वारा कहलाते हैं:—"शूद्रान् रम्बुभिः स्नाति, आचामति, देवताः स्नपयति, स्वैरं पचत्योदनं रजकस्पृष्टान्...धारयते पटान्" इत्यादि।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धर्म, आचार-विचार, भाषा, और रक्त तकपर पड़ा। इसके प्रमाणोंकी यहाँ आवश्यकता नहीं है।

इसी समन्वयको दृष्टिमें रखकर, वर्तमान हिन्दू धर्मके लिए, जैसा हमने ऊपर कहा है, निगमागम-धर्म नामकी प्रवृत्ति हुई।[1] इसी आधारपर 'सनातनी' विद्वान् बहुत ही ठीक कहते हैं कि हमारे धर्मका आधार केवल 'श्रुति' (वेद) न होकर श्रुति-स्मृति-पुराण हैं।

पौराणिक अनुश्रुतिके आधारपर यह कहा जा सकता है कि इस समन्वयमें बहुत बड़ा काम भगवान् व्यासका था। अपने समयमें पुराणोंके 'संग्रह' या 'सम्पादन'में उनका बड़ा हाथ था – यह पौराणिक प्रसिद्धि है। 'पुराण' शब्दका अर्थ ही उपर्युक्त प्राग्वैदिक संस्कृतिकी ओर निर्देश करता है।[2] उनका सहयोग उस समयके अनेकानेक 'ऋषि-मुनियों'ने किया होगा, जिनमें-से अनेकोंकी धमनियोंमें, व्यासके सदृश ही,[3] दोनों संस्कृतियों-

---

१. तु० बृहद्धर्मपुराणमें शिवके प्रति भगवतीका कथन – "आगमस्य भवान् कर्ता वेदकर्ता स्वयं हरिः। आदावागमकर्तृत्वे भवान् वै विनियोजितः। पश्चाद्वै वेदकर्तृत्वे हरिः सम्यग् नियोजितः॥ आगमश्चैव वेदश्च द्वौ बाहू मम पुष्कले। आभ्यामेव धृतं सर्वं त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम्॥"

२. अथर्ववेद (१५।६।११-१२) में 'पुराण' शब्दका प्रयोग 'इतिहास' शब्दके साथमें हुआ है। जैसे–"तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्॥११॥ इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥१२॥" यहाँ स्पष्टतया 'पुराण' शब्द प्राग्वैदिक धाराकी ओर संकेत करता है। इसी प्रसंगमें वायुपुराण (१।५४) को भी देखिए – "प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः॥" यहाँ स्पष्टतया कहा गया है कि ब्रह्मासे पहले पुराण (विषयकी दृष्टिसे) की सृष्टि हुई, और तत्पश्चात् वेदोंकी।

३. दे० "जनयामास यं काली शक्तेः पुत्रात् पराशरात्। कन्यैव यमुनाद्वीपे" (महाभारत, आदिपर्व, ६०।२)। तथा "व्यासः कैवर्तकन्यकायाम्" (वज्रसूचिकोपनिषद्)। व्यासका कृष्ण-द्वैपायन नाम प्रसिद्ध है। यतः वे कृष्णवर्ण थे, इसलिए उनको केवल 'कृष्ण' भी कहा गया है। (दे० भागवत १।४।३२)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का रक्त बह रहा था और प्रायः इसीलिए उनका विश्वास दोनों संस्कृतियोंके समन्वयमें था ।

यह समन्वित पौराणिक संस्कृति, जो कि बहुत अंशोंमें वर्तमान भारतीय संस्कृतिके मेरुदण्डके समान है, न तो केवल वैदिकेतर ही कही जा सकती है; न उसको हम युरॅपीय विद्वानोंके अभिप्रायसे 'आर्य-संस्कृति या 'अनार्य-संस्कृति' ही कह सकते हैं । उसकी तो समान रूपसे उपर्युक्त दोनों धाराओंमें सम्मानकी दृष्टि होनी चाहिए । यही सनातन धर्मकी दृष्टि है । इसलिए युरॅपीय प्रभावसे हमारे देशके कुछ लोगोंमें आर्य, अनार्य, वैदिक, अवैदिक शब्दोंको लेकर जो एक प्रकारका क्षोभ उत्पन्न होता है, वह वास्तवमें निराधार और अहेतुक है ।

समन्वित धाराकी प्रगति और विकास

गंगा-यमुना-रूपी वैदिक तथा वैदिकेतर धाराओंके संगमसे बनी हुई भारतीय संस्कृतिकी यह धारा अपने 'ऐतिहासिक' कालमें भी स्वभावतः स्थिर तथा एक ही रूपमें नहीं रह सकती थी । इस कालमें भी वह तत्तकालीन विशिष्ट परिस्थितियों और आवश्यकताओंसे उत्पन्न होनेवाली नवीन धाराओंसे प्रभावित होती हुई और क्रमशः उन धाराओंको आत्मसात् करती हुई, नवीनतर गम्भीरता, विस्तार और प्रवाहके साथ, आगे बढ़ती रही है ।

वैदिक और वैदिकेतर संस्कृतियोंका प्रारम्भिक समन्वय केवल नाम-मात्रमें ही था । उन दोनोंके अनेकानेक स्वार्थों और बद्धमूल परम्पराओंके कारण अनेक प्रकारके वैषम्य, गंगाकी धारामें प्रारम्भमें बहते हुए परस्पर टकरानेवाले टेढ़े-मेढ़े शिलाखण्डोंके समान, चिरकाल तक संयुक्त धारामें भी वर्तमान रहे । परस्पर संघर्ष-द्वारा ही उन्होंने अपनी विषमताके रूपको धीरे-धीरे दूर किया है और भारतीय संस्कृतिकी धाराकी महिमाको बढ़ाया है । यह क्रिया अब भी जारी है और जारी रहेगी । उक्त प्रकारसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैषम्योंमें पारस्परिक सामंजस्यकी शनैः-शनैः स्थापनामें ही भारतीय संस्कृतिकी प्रगति और विकास मुख्यतः निहित हैं।

उपर्युक्त वैषम्योंमें एक बड़ा भारी वैषम्य उस बड़ी भारी मानवताके कारण था, जिसको उस समयकी राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियोंने सब प्रकारसे दलित कर रखा था। भारतवर्षके आगेके इतिहासमें पारस्परिक घात-प्रतिघातों-द्वारा उत्पन्न होनेवाले जैन, बौद्ध, वैष्णव और सन्त आदि आन्दोलनोंकी उत्पत्ति और प्रसारमें उपर्युक्त विषमताओंका बड़ा भारी हाथ था। समाजगत विषमताओंने ही भगवान् कृष्ण, बुद्ध, महावीर, कबीर, नानक, चैतन्य आदि महापुरुषोंको जन्म दिया और उन्होंने उन विषमताओंके दूर करनेमें अपने-अपने महान् कार्यों-द्वारा भारतीय संस्कृतिकी धाराकी ही महत्ताको बढ़ाया।

इसलाम और ईसाइयत

भारतवर्षके इतिहासमें आनेवाले इसलाम और ईसाइयतके आन्दोलनों-को भी हम भारतीय संस्कृतिकी धाराके प्रवाहसे बिलकुल अलग नहीं समझते। प्रथम तो, इन दोनोंकी आध्यात्मिकता और नैतिकताका आधार 'एशियाटिक' संस्कृतिके इतिहासकी परम्परा-द्वारा भारतीय संस्कृतिकी मौलिक धारा तक पहुँच जाता है। एशियाटिक संस्कृतिके विकासमें भारतीय संस्कृतिके परम्परया अथवा साक्षात् प्रभावकी बात क्रमशः ऐतिहासिक अनुसन्धानके सामने आ रही है। दूसरे, इतिहास-कालमें उनका भारतीय 'बौद्ध' संस्कृतिका ऋणी होना कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। तीसरे, भारतवर्षमें उन दोनोंमें कमसे कम ९५ प्रतिशत संख्या उन्हींकी है, जो प्राचीन भारतीय संस्कृतिके ही उत्तराधिकारी हैं; और आज भी उनमें विद्यमान सांस्कृतिक मूल्यकी वस्तुओंपर भारतीयताकी काफ़ी छाप है।

हमारा विश्वास है कि हम, सहिष्णुतासे काम लेते हुए, उनकी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वास्तविक धार्मिक भावनाओंको ठेस न पहुँचाते हुए, उनमें सुप्त भारतीयत्व को जगा सकते हैं, और वे भी भारतीय संस्कृतिकी धारासे पृथक् न रह सकते ।

हमारे मतमें, बौद्ध, जैन आदि धर्मोंकी तरह ही, भारतवर्षकी पूर्वोक्त विषमताओंसे इन सम्प्रदायोंके प्रसारमें भी काफ़ी सहायता मिली है और इनके द्वारा भारतीय संस्कृति भी प्रभावित हुई है, और उसको कई प्रकार के साक्षात् या असाक्षात् रूपसे लाभ भी हुए हैं ।

उपर्युक्त आन्दोलनोंको भी हम एक प्रकारसे प्रगतिशील भारतीय संस्कृतिका उपकारक और आधार कह सकते हैं ।

राजनीतिक उथल-पुथल और साम्प्रदायिक धर्मोन्मादके कारण, इसलाम और ईसाइयतका, अनेक दृष्टियोंसे, भारतीय संस्कृतिसे कितना अधिक सामीप्य है, इसपर हम भारतीयोंका अभीतक ध्यान नहीं गया है। इस पर ध्यान देनेसे समस्त भारतको लाभ होगा, यह कहनेकी बात नहीं है। किसी अगले खण्डमें इस प्रश्नपर हम विस्तारसे विचार करना चाहते हैं।

समष्टि-दृष्टिकी आवश्यकता

आवश्यकता है कि हम भारतीय संस्कृतिके विकासको समझनेके लिए उपर्युक्त समष्टि-दृष्टिसे काम लें । प्रत्येक भारतीय, साम्प्रदायिक एकांगी दृष्टिको छोड़कर, भारतीय संस्कृतिके समस्त क्षेत्रके साथ अपने ममत्व स्थापित करे और अपनेको उसका उत्तराधिकारी समझे ।

यह भारतीय संस्कृति स्वभावतः सदासे प्रगतिशील रही है और रहेगी । इसमें अपने जीवनकी जो अबाध धारा बह रही है, उसके द्वारा ही यह, भविष्यके देशीय या आन्ताराष्ट्रिक मानवताके हितके आन्दोलनों का स्वागत करते हुए, अपनी प्राचीन परम्पराकी रक्षा करते हुए ही आगे बढ़ती जायेगी । इसी भारतीय संस्कृतिमें हमारी आस्था है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समष्टि-दृष्टि-मूलक उपर्युक्त भारतीय संस्कृतिकी प्रगति और विकास-को दिखाना ही प्रकृत ग्रन्थका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इसके लिए हम क्रमशः उसकी विभिन्न धाराओं (जैसे – वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, पौराणिक, सन्त, इसलाम और ईसाइयत) पर विवेचनात्मक दृष्टिसे विचार करेंगे। अन्तमें उसके भावी विकासपर भी दृष्टि डालनेका हमारा विचार है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

दूसरा परिच्छेद

भारतीय संस्कृतिका दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृतिके विषयमें जो विचार-विभ्रम फैला हुआ है उसके दूर करनेके लिए, तथा आगे इस ग्रन्थमें उसकी प्रगति और विकासके विषयमें जो विचार हम प्रस्तुत करना चाहते हैं उनको ठीक-ठीक समझने के लिए, अपने मतमें भारतीय संस्कृतिके दृष्टिकोणको यहाँ प्रारम्भमें स्पष्ट कर देना आवश्यक है। इसके बिना अगली विचार-पद्धतिके प्रति बौद्धिक सहानुभूतिके स्थानमें पग-पगपर भ्रम और सन्देह उपस्थित होनेकी सम्भावना रहेगी।

यहाँ हम भारतीय संस्कृतिके विषयमें कुछ मौलिक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करते हुए उसके दृष्टिकोणको स्पष्ट करनेका प्रयत्न करेंगे। सबसे पहले हम भारतीय संस्कृति स्वभावतः प्रगतिशील है, इस सिद्धान्तको लेते हैं :

भारतीय संस्कृतिकी प्रगतिशीलता

प्राचीन जातियोंमें अपनी प्रथाओं, अपने आचार-विचारों और अपनी संस्कृतिको अत्यन्त प्राचीन कालसे आनेवाली अविच्छिन्न परम्पराके रूपमें माननेकी प्रवृत्ति प्रायः सर्वत्र देखी जाती है। अनेक धार्मिक या राजनीतिक प्रभाववाले वंशोंकी, यहाँतक कि धार्मिक मान्यताओंसे सम्बद्ध अनेक नदियों आदिकी भी, दैवी या लोकोत्तर उत्पत्तिकी भावनाके मूलमें यही प्रवृत्ति काम करती हुई दीख पड़ती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतवर्षमें भी यह प्रवृत्ति अपने पूर्ण विस्तृत और व्यापक रूपमें चिरकालसे चली आ रही है। हमारे शास्त्रोंमें वर्णित विविध विद्याओं और कलाओंकी ब्रह्मा आदिसे उत्पत्तिकी भावना अथवा अनेक वंशोंकी दैवी उत्पत्तिकी भावना उक्त प्रवृत्तिके ही स्पष्ट निदर्शन हैं।

इधर अँगरेज़ी शासनके दिनोंमें विदेशी विचारधाराके आक्रमणके कारण हमारे धार्मिक तथा सांस्कृतिक विचारोंमें जो उथल-पुथल दिखाई देने लगी थी, उसकी प्रतिक्रियाके रूपमें उपर्युक्त प्रवृत्तिको और भी समर्थन और प्रोत्साहन दिया गया है। इसमें सबसे बड़ा हाथ प्रायेण उन रूढ़िवादी लोगोंका रहा है, जो अपने संकीर्ण स्वार्थों या अन्धविश्वासोंके कारण साम्प्रदायिक वातावरणकी परिधिसे बाहर स्वच्छन्द खुले प्राणप्रद वायुमें रहकर विचार ही नहीं कर सकते।

इसीके परिणामस्वरूप देशकी साधारण जनतामें प्रायः ऐसी भावना बद्धमूल हो गयी है कि उसकी धार्मिक और सांस्कृतिक रूढ़ियाँ सदासे एक ही रूपमें चली आयी हैं। दूसरे शब्दोंमें, साम्प्रदायिक दृष्टिके लोग स्वाभिमत भारतीय संस्कृतिको, प्रगतिशील या परिवर्तनशील न मानकर, सदासे एक ही रूपमें रहनेवाली स्थितिशील मानने लगे हैं।

'सनातन धर्म' या 'शाश्वत धर्म'-जैसे शब्दोंके प्रायः दुरुपयोग-द्वारा उक्त भावनामें और भी दृढ़ता लायी गयी है। परन्तु विज्ञानमूलक ऐतिहासिक दृष्टिसे, जिसका उल्लेख हम पिछले परिच्छेदमें कर चुके हैं, देखनेपर तत्काल यह स्पष्ट हो जाता है कि, यद्यपि भारतीय संस्कृतिकी सूत्रात्मा चिरन्तनसे चली आ रही है, वह अपने बाह्य रूपकी दृष्टिसे बराबर परिवर्तनशील और प्रगतिशील रही है।

पिछले परिच्छेदमें दिखायी गयी वैदिक तथा पौराणिक उपास्य देवोंकी पारस्परिक तुलनासे हमारी देवता-विषयक मान्यताओंमें समय-भेदसे होनेवाला महान् परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

समयभेदसे ब्रह्मा आदिकी पूजाकी प्रवृत्ति और उसके विलोपसे यही बात स्पष्टतया सिद्ध होती है।

इसी प्रकारके परिवर्तनका एक ज्वलन्त उदाहरण हमको कि समयमें शिवके अर्थमें रूढ़ 'ईश्वर' शब्दके सामान्य असाम्प्रदायिक देवों देव ईश्वरके अर्थमें प्रयोगसे मिलता है।[1] दक्षिण भारतमें 'ईश्वर' अब भी केवल साम्प्रदायिक शिवके लिए प्रयुक्त होता है।

इसी प्रकारके दो-चार अन्य निदर्शनोंको भी यहाँ देना अनुपयुक्त होगा।

'यज्ञ' शब्दको लीजिए। वैदिक कालमें इसका प्रयोग प्रायेण देवता के यजनार्थ किये जानेवाले कर्म-कलापके लिए ही होता था। पर कालान्त अनेक कारणोंसे वैदिक कर्म-काण्डके शिथिल हो जानेपर यही शब्द अति व्यापक अर्थोंमें प्रयुक्त होने लगा। इसी परिवर्तित दृष्टिके कारण भगव गीता[2], वैदिक यज्ञोंके साथ-साथ (जिनको वह 'द्रव्य-यज्ञ' कहती है तपोयज्ञ, योगयज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदिका भी उल्लेख करती है। स्वामी दयान के अनुसार "शिल्प-व्यवहार और पदार्थ-विज्ञान जो कि जगत्के उपका लिए किया जाता है उसको (भो) यज्ञ कहते हैं[3]।" आचार्य विनो भावेका भूदान-यज्ञ तो आज सबकी जिह्वापर है।

इसी प्रकार 'ऋग्वेद', 'यजुर्वेद', 'आयुर्वेद' 'धनुर्वेद' आदि शब्दों

---

१. इस विषयमें हमारा "History of the Word 'Īśvara' its Idea" शीर्षक लेख सप्तम ओरिएण्टल कान्फ्रेन्सकी Proceedi में देखिए। उसीका विस्तृत रूप 'Sarasvatī Bhavana Studi Vol X में प्रकाशित हुआ था।

२. दे० भगवद्गीता ४।२५-३०, ३२ तथा २।४२-४३।

३. स्वामी दयानन्द-कृत 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' से।

४ तु० "पञ्च वेदान् निरमिमीत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहास पुराणवेदमिति।" (गोपथब्राह्मण १।१।१०)। यहाँ 'वेद' शब्दका प्र स्पष्टतया विद्याके अर्थमें हुआ है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रयुक्त 'वेद' शब्द स्पष्टतया किसी समय सामान्येन विद्या या ज्ञानके अर्थमें प्रयुक्त होता था। कालान्तरमें यह अनेकानेक शाखाओंमें विस्तृत मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वैदिक साहित्यके लिए ही प्रयुक्त होने लगा। उन शाखाओंमें-से अनेकोंका तो अब नाममात्र भी शेष नहीं है। यही 'वेद' शब्द अब प्रायेण उपलब्ध वैदिक संहिताओंके लिए ही प्रयुक्त होने लगा है।

इसी प्रकार 'वर्ण' शब्दके भी विभिन्न प्रयोगोंमें समय-भेदसे परिवर्तित होनेवाली वर्ण-विषयक दृष्टियोंका प्रभाव दिखाया जा सकता है।

'यज्ञ' आदि-जैसे महत्त्वके शब्दोंका समय-भेदसे होनेवाला भिन्न-भिन्न अर्थोंमें प्रयोग स्पष्टतया विचारोंके घात-प्रतिघात तथा सामयिक आवश्यकताओंके फलस्वरूप होनेवाली भारतीय संस्कृतिकी प्रगतिकी ओर ही संकेत करता है।

आचार-विचारकी दृष्टिसे भी अनेकानेक स्पष्ट उदाहरणोंसे, भारतीय संस्कृति कभी स्थितिशील न होकर सदा प्रगतिशील या परिवर्तनशील रही है, इस सिद्धान्तकी पुष्टि की जा सकती है।

शूद्र, अतिशूद्र कहलानेवाली भारतीय 'जातियों' के प्रति हमारी कठोर दृष्टि और व्यवहारमें सामयिक परिस्थितियों और सन्त-महात्माओं-के आन्दोलनोंके कारण शनैः-शनैः होनेवाला विकासोन्मुख परिवर्तन भारतीय संस्कृतिकी प्रगतिशीलताका एक उज्ज्वल उदाहरण है। "न शूद्राय मतिं दद्यात्" (मनुस्मृति ४।८० = शूद्रको किसी प्रकारका उपदेश न दे), तथा "पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्"[1] (= शूद्र तो मानो चलता-फिरता श्मशान है। इसलिए उसके समीपमें वेदादि नहीं पढ़ना चाहिए)– शूद्रके प्रति इस कठोर और अशोभन दृष्टिसे चलकर उसको हरि + जन माननेकी दृष्टिमें स्पष्टतया आकाश-पातालका अन्तर है[2]।

१. देखिए—'वेदान्तसूत्र-शांकरभाष्य' १।३।३८।

२. इस दृष्टि-भेदके विस्तृत इतिहासमें एक प्रकारसे भारतीय संस्कृतिका सारा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

इसी प्रकार विभिन्न विदेशी जातियोंको आत्मसात् (हम इसे 'शुद्धि' नहीं मानते) करनेमें, विदेशोंमें भारतीय संस्कृतिके सन्देश पहुँचानेमें, और वेद और शास्त्रोंकी दुरधिगम कोठरियोंमें बन्द उस सन्देश को जनताकी भाषामें, प्रायः जनताके ही सच्चे प्रतिनिधि सन्त-महात्मा द्वारा, सर्वसाधारणके लिए सुलभ किये जानेमें, हमें उपर्युक्त प्रगतिशीलता का सिद्धान्त ही काम करता हुआ दीखता है।

भारतीय संस्कृतिके इतिहासके लम्बे कालमें ऐसे स्थल भी आ आते हैं जब कि उसके रूपमें होनेवाले परिवर्तन आपाततः विकासोन्मुख प्रगतिको नहीं दिखलाते। तो भी वे उसकी स्थितिशीलताके स्थान परिवर्तनशीलताको तो सिद्ध करते ही हैं। साथ ही, जैसे स्वास्थ्य विज्ञानकी दृष्टिसे रोगावस्था अरुचिकर होनेपर भी हमारे स्वास्थ्य-विरोधी तत्त्वोंको उभारकर उनको नाश करके हमारे स्वास्थ्यमें सहायक होती है, उसी प्रकार उन आपाततः अवांछनीय परिवर्तनोंको समझना चाहिए। कभी-कभी उन परिवर्तनोंके मूलमें हमारी जातीय आत्मरक्षाकी स्वाभाविक प्रवृत्ति या अन्य सामयिक आवश्यकता भी काम करती हुई दीखती है। इसलिए उन परिवर्तनोंके कारण भारतीय संस्कृतिकी प्रगतिशीलताके हमारे उपर्युक्त सामान्य सिद्धान्तमें कोई क्षति नहीं आती।

यह प्रगतिशीलता या परिवर्तनशीलताका सिद्धान्त केवल हमारी कल्पना नहीं है। हमारे धर्मशास्त्रोंने भी इसको मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है।

धर्मशास्त्रोंका कलि-वर्ज्य प्रकरण[1] प्रसिद्ध है। इसमें प्राचीन काल

इतिहास प्रतिबिम्बित रूपमें दिखाया जा सकता है। हम इसपर स्वतन्त्र रूपसे फिर कभी विचार करना चाहते हैं।

१. देखिए – "अथ कलिवर्ज्यानि। बृहन्नारदीये – समुद्रयातुः स्वीकारः कमण्डलुविधारणम्।...देवराच्च सुतोत्पत्तिर्मधुपर्के च गोर्वधः। मांसदानं च

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किसी समय प्रचलित गोमेध, अश्वमेध, नियोग-प्रथा आदिका कलियुगमें निषेध किया गया है। विभिन्न परिस्थितियोंके कारण भारतीय संस्कृतिके स्वरूपमें प्रगति या परिवर्तन होते रहे हैं, इस बातका, हमारे धर्मशास्त्रोंके ही शब्दोंमें, इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण मिलना कठिन होगा।

इसके अतिरिक्त, प्रत्येक युगमें उसकी आवश्यकताके अनुसार 'धर्म'-का परिवर्तन होता रहता है, इस सामान्य सिद्धान्तका प्रतिपादन भी धर्मशास्त्रोंमें स्पष्टतः मिलता है। उदाहरणार्थ,

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे युगे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगरूपानुसारतः॥[1]
युगेष्वावर्तमानेषु धर्मोऽप्यावर्तते पुनः।
धर्मेष्वावर्तमानेषु लोकोऽप्यावर्तते पुनः॥[2]
श्रुतिश्च शौचमाचारः प्रतिकालं विभिद्यते।
नानाधर्माः प्रवर्तन्ते मानवानां युगे युगे॥[3]

(पराशर-माधवीयमें उद्धृत)

अर्थात् सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुगमें युगके रूप या परिस्थितिके अनुसार 'धर्म'का परिवर्तन होता रहता है। युग-युगमें मनुष्योंकी श्रुति (=धार्मिक मान्यताकी पुस्तक या साहित्य), शौच (=स्वच्छताका स्वरूप और प्रकार), और आचार (=आचार-विचार या व्यवहार) सामयिक आवश्यकताओंके अनुसार बदलते रहते हैं।

श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा॥...नरमेधाश्वमेधकौ॥...गोमेधश्च तथा मखः। इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः॥" इत्यादि...(निर्णयसिन्धु, कलिवर्ज्यप्रकरण)

१. तु० मनुस्मृति १।८५।
२. तु० महाभारत, वनपर्व, १४९।३६
३. तु० "यस्मिन् देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स एव देशकाल-निमित्तान्तरेषु अधर्मो भवति।" (ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य ३।१।२५)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

धर्मशास्त्रोंकी ऐसी स्पष्ट घोषणाके होनेपर भी, यह आश्चर्यकी बात है कि हमारे प्राचीन धर्मशास्त्री विद्वानोंके भी मनमें 'भारतीय संस्कृति स्थिति-शील है' यह धारणा बैठी हुई है। गान्धी-युगसे पहलेके साम्प्रदायिक विद्वानोंके 'शास्त्रार्थ' अब भी लोगोंको स्मरण होंगे। उनमें यही निरर्थक तथा उपहासास्पद झगड़ा रहता था कि हमारा सिद्धान्त सनातन है, तुम्हारा। अब भी यह धारणा हमारे देशमें काफ़ी घर किये हुए है। इसीके कारण साम्प्रदायिक कटु भावना तथा संकीर्ण विचार-धारा अब भी हमारे देशमें सिर उठानेको और हमारे सामाजिक जीवनको विषाक्त करनेको सदा तैयार रहती है।

इसलिए भारतीय संस्कृतिकी सबसे पहली मौलिक आवश्यकता यह है कि उसको हम स्वभावतः प्रगतिशील घोषित करें। उसी दशामें भारतीय संस्कृति अपनी प्राचीन परम्परा, प्राचीन साहित्य और इतिहास का उचित सम्मान तथा गर्व करते हुए अपने अन्तरात्माकी सन्देश-रूप मानव-कल्याणकी सच्ची भावनासे आगे बढ़ती हुई, वर्तमान प्रबुद्ध भारतके हो लिए नहीं, अपितु संसार-भरके लिए, उन्नति और शान्तिके मार्गको दिखानेमें सहायक हो सकती है।

यह कार्य 'हमारा आदर्श या लक्ष्य भविष्यमें है, पश्चाद्दर्शितामें नहीं' यही माननेसे हो सकता है। भारतीय संस्कृति रूपी गंगाकी धारा सदा आगे ही बढ़ती जायेगी, पीछे नहीं लौटेगी। प्राचीन युग-जैसा भी रहा हो, पुनः उसी रूपमें लौटकर नहीं आ सकता; हमारा कल्याण हमारे भविष्यके निर्माणमें निहित है; हम उसके निर्माणमें अपनी प्राचीन जातीय सम्पत्तिके साथ-साथ नवीन जगत्में प्राप्य सम्पत्तिका भी उपयोग करेंगे। यही भारतीय संस्कृतिकी प्रगतिशीलताके सिद्धान्तका रहस्य और हृदय है।

भारतीय संस्कृतिका दूसरा सिद्धान्त उसका असाम्प्रदायिक होना है। नीचे हम उसीकी व्याख्या करेंगे –

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय संस्कृतिकी असाम्प्रदायिकता

संस्कृतमें प्राचीनकालसे एक कहावत चली आ रही है कि –

श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् ॥[1]

अर्थात्, श्रुतियों और स्मृतियोंमें परस्पर विभिन्न मत पाये जाते हैं। यही बात मुनियोंके विषयमें भी ठीक है।

इसका अभिप्राय यही है कि किसी भी सभ्य समाजमें मतभेद और तन्मूलक सम्प्रदायोंका भेद या बाहुल्य स्वाभाविक होता है। इसका मूल कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे मनुष्योंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति और रुचिमें भेदका होना ही है। कोई व्यक्ति स्वभावसे ही ज्ञान-प्रधान, कोई कर्म-प्रधान और कोई भक्ति-या भावना-प्रधान होता है। फिर समय-भेद तथा देश-भेदसे भी मनुष्योंकी प्रवृत्तियोंमें भेद देखा जाता है। रेगिस्तानके शुष्क प्रदेशमें रहनेवालोंके और बंगाल-जैसे नमी-प्रधान प्रदेशमें रहने-वालोंके स्वभावोंमें अन्तर होना स्वाभाविक ही है।

ऐसे ही कारणोंसे भारतवर्ष-जैसे विशाल और प्राचीन परम्परावाले देशमें अनेकानेक सम्प्रदायोंका होना बिलकुल स्वाभाविक है।

एक सीमा तक यह सम्प्रदाय-भेद स्वाभाविक होनेके कारण व्यक्तियों-की सत्प्रवृत्तियोंके विकासका साधक होता है। यह तभी होता है जब कि उन विभिन्न सम्प्रदायोंके लोगोंके सामने कोई ऐसा उच्चतर आदर्श होता है जो उन सबको परस्पर संघटित और सम्मिलित रहनेकी प्रेरणा दे सकता हो। परन्तु प्रायः ऐसा देखा जाता है कि साम्प्रदायिक नेताओंकी स्वार्थबुद्धि और धर्मान्धता या असहिष्णुताके कारण सम्प्रदायोंका वाता-वरण दूषित, संघर्षमय और विषाक्त हो जाता है। उस दशामें सम्प्रदाय-

---

१. तु० महाभारत, वनपर्व, ३१३।११७।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

भेद अपने अनुयायियोंके तथा देशके लिए भी अत्यन्त हानिकर और घात
सिद्ध होता है।

भारतीय संस्कृतिकी आन्तरिक धारामें चिरन्तनसे सहिष्णुता
भावनाका प्रवाह चला आया है। तो भी भारतवर्षमें सम्प्रदायों
इतिहास बहुत कुछ उपर्युक्त दोषोंसे युक्त ही रहा है। आर्थिक
राजनीतिक स्वार्थोंके कारण और कुछ अंशोंमें धर्मान्धताके कारण
अपने-अपने नेताओं-द्वारा सम्प्रदायोंका और स्वभावतः शान्ति-प्रधान,
भोली-भाली और मूर्ख, जनताका पर्याप्त दुरुपयोग किया गया है।

साम्प्रदायिक वैमनस्य और अत्याचारका उल्लेख करनेपर आज
तत्काल हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य या पिछली शताब्दियोंमें दक्षिण भार
ईसाइयों द्वारा हिन्दू जनतापर किये गये अत्याचार सामने आ जाते
यह सब तो निस्सन्देह ठीक है ही। पर साम्प्रदायिक असहिष्णुता
अत्याचारका विशुद्ध भारतीय सम्प्रदायोंमें अभाव रहा है, यह न स
लेना चाहिए।

पौराणिक तथा धर्मशास्त्रीय संस्कृत साहित्यमें वर्णित उन व्यक्ति
अथवा सामूहिक अत्याचारों[1]के आख्यानों या विधानोंको, जो वास्त
साम्प्रदायिक असहिष्णुता-मूलक या उसके व्याजमें राजनीति-मूलक
जाने दीजिए। हम उनका उल्लेख यहाँ नहीं करेंगे। यहाँ कुछ

---

१. उदाहरणार्थ, स्कन्द-पुराणान्तर्गत सूतसंहितामें शैव सम्प्रदायके विरोधि
बाधन और शिरश्छेदनका स्पष्टतया विधान किया है; जैसे "शिवया
पुराणां तु बाधकानां तु बाधनम्। शिवभक्तिरिति प्रोक्ता··· ॥ भस्मसा
निष्ठानां दूषकस्य···छेदनं शिरसः···॥ (सूतसंहिता ४।२६।२६-३२
रामायण (दे० वाल्मीकिरामायण, उत्तरकाण्ड, ७६) में भगवान् राम
द्वारा शम्बूक (शूद्र) का वध प्रसिद्ध है। वेद सुननेमात्रके अपरा
लिए शूद्रके कानोंमें राँगा पिलानेकी चर्चा हम प्रथम परिच्छेदमें
चुके है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निदर्शनोंको देना पर्याप्त होगा। उदाहरणार्थ –

'श्रमण-ब्राह्मणम्' (व्याकरण-महाभाष्य २।४।९) पदके आधारपर श्रमणों (अर्थात् जैन-बौद्धों) और ब्राह्मणोंमें सर्प और नकुल-जैसी शत्रुताका उल्लेख हम पिछले परिच्छेदमें कर चुके हैं। ईसवी शतियोंके प्रारम्भिक कालके आस-पास इस शत्रुताने भारतवर्षके राजनीतिक तथा धार्मिक वातावरणमें जो हलचल मचा रखी थी, वह ऐतिहासिकोंसे छिपी नहीं है।[1] आजकी असाम्प्रदायिक भारत सरकारके विरुद्ध सम्प्रदाय-वादियोंका आन्दोलन उसके सामने कुछ भी नहीं है।

भगवान् मनुने अपनी मनुस्मृतिमें बौद्ध-जैसे सम्प्रदायोंको नास्तिक ही नहीं कहा है; उनके धर्मग्रन्थोंको भी 'कुदृष्टि', 'तमोनिष्ठ' (= अज्ञान-मूलक) और 'निष्फल' कहा है।[2]

हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्।

(अर्थात् मदमत्त हाथीसे पीछा किये जानेपर भी, जैन-मन्दिरमें न जाये) ऐसे वचनोंसे और दक्षिण भारतमें पूर्वमध्य कालमें अनेकानेक जैन-बौद्ध मन्दिरोंको बलात् छीनकर पौराणिक मन्दिरोंका रूप देनेसे भी साम्प्रदायिक विद्वेष और अत्याचारके ही निदर्शन हमारे सामने आते हैं।[3]

---

१. तु० "विहाराणां सहस्राणि तत्कोपान्निर्ददाह सः। अजिग्रहच्च तद्ग्रामान् द्विजैर्मध्यमठाश्रयैः॥" (राजतरङ्गिणी १।२००)। यहाँ ऊपर पृ० ९ की पादटिप्पणीको भी देखिए।

२. देखिए "या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥" (मनुस्मृति १२।९५)

३. यहाँ विष्णुपुराण (३।१८) में राजा शतधनु और उसकी पत्नी शैब्याके उपहासास्पद कथानकको भी देखिए। राजा शतधनुको कई नीच (कुत्ता, गीदड़, गृध्र, काक आदिकी) योनियोंमें जन्म केवल इसलिए लेना पड़ा था, क्योंकि उसने एक बार गंगा-स्नानके अनन्तर मार्गमें एक पाषण्डी (जैन) से आभाषण कर लिया था।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

इसके अतिरिक्त, नीचे लिखे उद्धरणोंको भी देखिए—

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥
त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः ।
(सर्वदर्शनसंग्रहमें चार्वाक-दर्शन

(अर्थात्, बृहस्पति आचार्यका कहना है कि अग्निहोत्र, तीनों तीन दण्ड और भस्मका लगाना – यह सब निस्सार हैं; इन सबका आ केवल जीविका या पेट पालना ही है ।

वेदोंके बनानेवाले भाँड़, धूर्त और निशाचर ये तीन थे);

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥
(ज्ञानसंकलनीतन्त्र

(अर्थात्, वेदशास्त्र और पुराण वेश्याके समान हैं; केवल शाम्भवी कुलीन वधूके समान है):

धिक् धिक् कपालं भस्मरुद्राक्षविहीनम् ।
तं त्यजेदन्त्यजं यथा ।

(= भस्म और रुद्राक्षसे जिसका कपाल विहीन है उसका अन्त्यजके स दूरसे ही परित्याग कर दे);

भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः ।
पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ॥
(भागवत ४।२।२

(अर्थात्, शैवधर्मके अनुयायी वास्तवमें पाखण्डी और सच्छा विरोधी होते हैं);

यथा श्मशानजं काष्ठं सर्वकर्मसु गर्हितम् ।
तथा चक्राङ्कितो विप्रः सर्वकर्मसु गर्हितः ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(अर्थात्, श्मशानके काष्ठके समान ही चक्रांकित वैष्णवका सब कर्मोंसे बहिष्कार करना चाहिए ।)

इसी प्रकार हमारे अनेक धार्मिक ग्रन्थ शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदायोंके परस्पर विद्वेषके भावोंसे भरे पड़े हैं ।[1]

इस साम्प्रदायिक विद्वेष-भावनाने हमारे दार्शनिक ग्रन्थोंपर भी कहाँ-तक अवांछनीय प्रभाव डाला है, इसका अच्छा नमूना हमको 'मध्वतन्त्र-मुखमर्दन,' 'माध्वमुखभङ्ग,' 'दुर्जन-करि-पञ्चानन'-जैसे ग्रन्थोंके नामोंसे ही मिल जाता है । इन नामोंमें विद्वज्जन-सुलभ शालीनताका कितना अभाव है, यह कहनेकी बात नहीं है ।

दर्शन-शास्त्रका विषय ऐसा है जिसका प्रारम्भ ही वास्तवमें साम्प्रदायिकताकी संकीर्ण भावनाकी सीमाकी समाप्तिपर होना चाहिए । इसलिए दार्शनिक क्षेत्रमें विभिन्न सम्प्रदायोंके लोग, साम्प्रदायिक संकीर्णतासे ऊपर उठकर, सद्भावना और सौहार्दके स्वच्छ वातावरणमें एकत्र सम्मिलित हो सकते हैं ।

परन्तु भारतवर्षमें दार्शनिक साहित्यका विकास प्रायेण साम्प्रदायिक संघर्षके वातावरणमें ही हुआ था । इसलिए उन-उन सम्प्रदायोंसे सम्पृक्त विभिन्न दर्शनोंके साहित्यसे भी प्रायः साम्प्रदायिकताको प्रोत्साहन मिलता रहा है ।

हमने अपने ईश्वर-विषयक लेखमें (जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है) दिखलाया है कि न्याय-वैशेषिक दर्शनोंका विकास शैव सम्प्रदायसे

---

१. इस प्रसंगमें विष्णुपुराण (३।१८।९६–१०५) को भी देखिए ॥ तु० "विष्णु-दर्शनमात्रेण शिवद्रोहः प्रजायते । शिवद्रोहान्न सन्देहो नरकं याति दारुणम् ॥ तस्माद्धि विष्णुनामापि न वक्तव्यं कदाचन" (पद्मपुराण) तथा "नष्टशौचा मूढधियो जटाभस्मास्थिधारिणः । विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुराशिवम् ॥" (भागवत ४।२।२६)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

हुआ है[1]। योगकी परम्पराका भी झुकाव शैव सम्प्रदायकी ओर अधिक है। रहे पूर्व-मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शन – इनका तो स्पष्ट घनिष्ठ सम्बन्ध वैदिक, वैष्णव, बौद्ध और जैन सम्प्रदायोंसे रहा है। सांख्य-दर्शन ऐसा है जिसकी दृष्टि प्रारम्भसे ही विशुद्ध दार्शनिक रही है। इसीलिए उसे वेदान्तसूत्र-शांकरभाष्य[2] आदिमें अवैदिक कहकर तिरस्कृत किया गया है।

साम्प्रदायिक भावनाकी तरह ही जाति-पाँतिका अनन्त भेद भारतीय समाजमें वैषम्यका कारण रहा है। अब भी नाना रूपोंमें हमारे समाजमें फैला हुआ इसका विष हमारे अनेक कार्यकर्ताओंको 'अन्तःशाक्त बहिःशैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः' इस उक्तिका लक्ष्य बनाता रहता है।

इस प्रकार चिरकालसे प्रायेण विचार-संकीर्णता और परस्पर-संघर्ष की भावनासे परिपूर्ण सम्प्रदायवाद, तदभिभूत दार्शनिक साहित्य और जाति-पाँतिके भेद-भावसे जर्जरित भारतीय जनतामें एकजातीयताके नवीन जीवनका संचार करनेके लिए, मानो एक उपास्य देवके रूपमें, एकमात्र प्रगतिशील तथा असाम्प्रदायिक भारतीय संस्कृतिके आदर्शका ही आश्रय लिया जा सकता है।

भारतीय संस्कृति असाम्प्रदायिक है, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि भारतीय संस्कृतिका सम्प्रदायों या सम्प्रदाय-विशेषसे कोई विरोध या झगड़ा है। प्रत्युत नैतिकता तथा मानव-हितकी सीमाके अन्दर सब सम्प्रदायोंका सम्मान करती है और, किसी मुख्य धाराकी सहायक नदियोंके समान, उनको अपना उपकारक और पूरक मानती है। नैयायिकोंकी जाति जैसे व्यक्तियोंसे पृथक् होते हुए भी उनसे पृथक् नहीं रहती, इसी प्रकार

---

१. इस विषयमें राजशेखरसूरि-कृत 'षड्दर्शन-समुच्चय', तथा हरिभद्रसूरिके 'षड्दर्शन-समुच्चय'को भी देखिए।

२. देखिए—"न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्" (वेदान्त सूत्रशांकरभाष्य २।१।१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय संस्कृति सम्प्रदायोंसे पृथक् अर्थात् स्वयं असाम्प्रदायिक होते हुए भी उनसे पृथक् नहीं है। इसी कारण, भारतीय संस्कृतिके नातेसे, सम्प्रदायोंका परस्पर सम्बन्ध आदरयुक्त और सौहार्दपूर्ण होना चाहिए। उनमें होड़ या स्पर्धा भी हो तो वह मानव-हित और भारतीय संस्कृतिके महत्त्वको बढ़ानेवाली बातोंमें होनी चाहिए।

इस प्रकार असाम्प्रदायिक भारतीय संस्कृतिकी भावना ही सम्प्रदायोंमें पारस्परिक संघर्षकी भावनाको नष्ट कर उनको अपने विशुद्ध कर्तव्य-पालनके लिए प्रेरणा दे सकती है।

भारतीय संस्कृतिका तीसरा सिद्धान्त है –

भारतीय संस्कृतिकी भारतके समस्त इतिहासमें ममत्व-भावना

भारतीय संस्कृतिको सतत-प्रवहणशील धाराकी तुलना हम भगवती गंगाकी धारासे कर चुके हैं। जैसे गंगाकी धारा मूलमें किसी अज्ञात स्थानसे निकलकर, अनेकानेक दुरधिगम तथा दुर्गम ऊँचे-नीचे पर्वतों और प्रदेशोंमें होती हुई, अनेक विभिन्न धाराओंके जलप्रवाहोंको आत्मसात् करती हुई, अन्तमें सुन्दर रमणीक समतल प्रदेशोंमें प्रवेश कर नवीनतर गम्भीरता, विस्तार और प्रवाहके साथ आगेकी ओर ही बहती है; ठीक उसी तरह भारतीय संस्कृतिकी धारा किसी प्रागैतिहासिक अज्ञात युगसे प्रारम्भ होकर, अनुकूल तथा प्रतिकूल विभिन्न परिस्थितियोंमें-से गुज़रती हुई तथा विभिन्न प्रकारकी विचार-धाराओंको आत्मसात् करती हुई, शनैः-शनैः अपने विशालतर और गम्भीरतर रूपमें आगे बढ़ती हुई ही दिखाई देती है। विशिष्ट स्थानोंके विशिष्ट माहात्म्यके होनेपर भी, जैसे गंगाकी समस्त धारामें हमारी मान्यता है, इसी प्रकार भारतीय संस्कृतिको दृष्टिसे उसकी पूरी धारामें, दूसरे शब्दोंमें, भारतके समस्त इतिहासमें हमारी ममत्वकी भावना होनी चाहिए। ऐसा किये बिना न तो 'भारतीय संस्कृति' शब्दकी ही कोई सार्थकता रहेगी और न देशव्यापी भारतीयत्वकी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

भावनाको ही हम जीवित रख सकेंगे ।

परन्तु दुर्भाग्यसे अबतक हमारी स्थिति प्रायः उक्त सिद्धान्तके प्रति ही रही है ।

साम्प्रदायिकता, निराशावाद और तज्जनित पश्चाद्दृष्टिकी भावना विभिन्न संकीर्ण स्वार्थोंकी क्षति और उनके प्राचीन कालके, कुछ कल्पित और कुछ वास्तविक, अभ्युदयकी निराशाप्रद स्मृति, इत्यादि अनेक कारणोंसे हम उक्त आवश्यक सिद्धान्तकी प्रायः अवहेलना करते रहे हैं; और यह प्रवृत्ति अबतक हममें विद्यमान है ।

हमारे धर्मशास्त्रोंमें युगोंके क्रमसे धर्मके ह्रासका सिद्धान्त, पुराणोंमें "नन्दान्तं क्षत्रियकुलम्" (अर्थात् नन्दोंके राज्यारूढ़ होनेपर वैदिक परम्पराके पोषक जो 'क्षत्रिय' राजा थे उनका अन्त हो गया) यह कथन अथवा कलियुगके दुष्प्रभावका वर्णन[1], जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है, ये सब उसी प्रवृत्तिके निदर्शन हैं ।

वैदिक परम्पराके उस अन्तिम युगके दिनोंमें, जब कि जन्मना जातिवाद खूब बढ़ गया था और हमारे यज्ञोंने भी केवल यान्त्रिक द्रव्य-यज्ञोंका रूप धारण कर लिया था, साधारण जनताके हितकी आवाज़ उठानेवाले बौद्ध-जैन धर्मोंके अभ्युदयसे तथा प्रायः उसीके फलस्वरूप राजनीतिक प्राधान्यके दूसरोंके हाथोंमें चले जानेसे, वैदिक सम्प्रदायके नेताओंमें स्वभावतः उत्पन्न होनेवाली निराशाने ही उपर्युक्त विचारोंको व्यक्त दिया था ।

इसी साम्प्रदायिक (तथा राजनीतिक) प्रतिक्रियाके कारण हम देखते हैं कि उन शताब्दियोंके तथा तदुत्तरकालीन संस्कृत साहित्यमें विश्वको चमत्कृत करनेवाले बौद्ध-धर्मसम्बन्धी राजनीतिक तथा धार्मिक अभ्युदयकी कुछ भी चर्चा नहीं है । यदि आधुनिक ऐतिहासिक अनुसन्धान इसके उद्

१. उदाहरणार्थ, दे० विष्णुपुराण (४।२४।७०-९७); भागवत (१२।२

२. दे० भगवद्गीता (४।२८)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को अपने हाथमें न लेता, तो भारतवर्षके गौरव और गर्वके इस स्वर्ण-युगके इतिहासको हम सदाके लिए खो बैठते ।

अब भी, इस विद्या और ज्ञानके युगमें भी, हममें ऐसे संकीर्ण-दृष्टि साम्प्रदायिकोंकी कमी नहीं है जो समझते हैं कि महाभारत-कालके पश्चात् भारतका जो भी महत्त्वका इतिहास है, वह, उनके लिए अरुचिकर न हो तो भी, उनके गर्व और गौरवकी वस्तु नहीं है । ऐसे भी संकुचित विचारों-के लोग हममें हैं जिनको, जैनों तथा बौद्धोंके उत्कृष्ट साहित्यको तो जाने दीजिए, भक्तिसुधाके प्रवाह-रूप भागवतसे, या भारतकी कोटिशः जनताकी धार्मिक अथवा आध्यात्मिक पिपासाको शान्त करनेवाले सन्तोंके हृदयंगम साहित्यसे भी कोई वास्तविक उल्लास या प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती ।

इस प्रकारकी एकांगी या पक्षपातकी दृष्टिसे न तो हम भारतीय संस्कृतिके प्रवाह और परम्पराको ही समझ सकते हैं, न हम उसके साथ न्याय करते हैं ।

वास्तवमें भारतीय संस्कृतिके प्रवाह और स्वरूपको समझनेके लिए हमें जनताके विकासकी दृष्टिसे ही उसका अध्ययन करना होगा । भारतीय इतिहासके विभिन्न कालोंका महत्त्व भी हमें, किसी सम्प्रदाय या राजवंशकी दृष्टिसे नहीं, किन्तु जनताकी दृष्टिसे ही मानना पड़ेगा । इस प्रकारके अध्ययनसे ही हमें प्रतीत होगा कि भारतीय संस्कृतिकी प्रगतिमें वैदिक युगके समान ही बौद्ध-युग या सन्त-युगका भी महत्त्व रहा है ।

राजवंशोंके इतिहाससे ही किसी देशकी संस्कृतिका इतिहास समाप्त नहीं हो जाता । राजवंश तो किसी नगरके बाह्य प्राकारके ही स्थानीय होते हैं । प्राकारके अन्दर प्रवेश करनेपर ही प्रजा या जनताके वास्तविक जीवनका पता लग सकता है ।

इसलिए जनताके जीवनके अविच्छिन्न प्रवाहको या लोक-संस्कृतिकी प्रगतिको समझनेके लिए किसी देशके समस्त इतिहाससे सम्बन्ध और सम्पर्क स्थापित करना आवश्यक होता है । इसीको हमने ऊपर ममत्व-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

भावना शब्दसे कहा है।

इस ममत्व-भावनाके होनेपर ही हम अपनी-अपनी संकीर्ण साम्प्रदा भावनाओंको पृथक् रखके, भारतके समस्त महान् व्यक्तियोंमें, चा किसी सम्प्रदायके या जातिके कहे जाते हों, ममत्वका, समादरका, श्र और गर्वका अनुभव करेंगे। आजकल इन महान् व्यक्तियोंको का दायिकोंने अपने-अपने सम्प्रदायोंकी तंग कोठरियोंमें क़ैद कर रखा हमारा कर्तव्य है कि हम उनको उस क़ैदसे निकालकर खुले असाम्प्रदा वातावरणमें लावें, जिससे उनके उपदेशामृतका लाभ समस्त देशके क्यों, सारे संसारको हो।

असाम्प्रदायिक भारतीय संस्कृतिकी भावनासे ही यह हो सकता है भारतीय संस्कृतिके सम्बन्धमें अन्तिम सिद्धान्त है –

भारतीय संस्कृतिकी अखिल-भारतीय भावना

भारतके समस्त इतिहासमें ममत्व-भावनाकी व्याख्या करते हुए भारतीय संस्कृतिके ऐतिहासिक विकास और विस्तारकी ओर संकेत है; उसी प्रकार भारतीय संस्कृतिकी अखिल भारतीय भावनाका उसके देशकृत विस्तारकी ओर है। ऐतिहासिक विकास और विस्त समान ही उसके अखिल दैशिक विस्तारके साथ भी ममत्व-भाव आवश्यकता है।

इसको हमारे देशके प्राचीन नेताओंने अच्छी तरह अनुभव किया इसीलिए हमारे धार्मिक तीर्थस्थान देशके कोने-कोनेमें, प्रत्येक प्रा नियत किये गये थे। हमारे कुम्भ-जैसे धार्मिक मेले भी देशके वि प्रान्तोंमें बारी-बारीसे होते हैं। इसीलिए तत्तत् प्रान्तोंमें किसीक राज्य हो, सब प्रान्तोंके वासी धार्मिक यात्राओंमें समस्त देशमें जाते सहस्रों मीलोंकी दूरीपर अवस्थित बदरीनारायण, गंगोत्तरी, काशी, रामे पुरी और द्वारका-जैसे तीर्थस्थानोंकी भक्ति और प्रेमसे गद्गद होकर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करना वे अपना पवित्र कर्तव्य समझते थे।[1] स्वभावतः सांस्कृतिक दृष्टिसे वे समस्त भारतको अपना देश समझते थे।

भारतीय संस्कृतिकी अखिल-भारतीय भावना ही प्रान्तीय संघर्षोंको बहुत-कुछ नियन्त्रणमें रख सकती है।

परन्तु इस सम्बन्धमें हमारा कर्तव्य केवल प्रान्तीय संघर्षोंके प्रतीकार-से समाप्त नहीं हो जाता। हमारा उत्तरदायित्व इससे बहुत अधिक है। आजके भारतवर्षकी एक बड़ी समस्या उसका साम्प्रदायिक संघर्ष तथा पिछड़ी जातियोंका प्रश्न है। भारतीय संस्कृतिकी अखिल भारतीय भावना-का अभिप्राय मुख्यतः यह है कि हम उक्त समस्याका वास्तविक समाधान भारतीय संस्कृतिकी दृष्टिसे कर सकें। भारतीय संस्कृतिके सम्बन्धमें ऊपर दिखलाये हुए सिद्धान्तोंको दृष्टिमें रखकर बड़े उदार हृदयसे साम्प्रदायिक तथा पिछड़ी जातियोंकी समस्याको हाथमें लेनेसे ही उसका समाधान हम कर सकेंगे। सम्प्रदायोंमें परस्पर समादर और सम्मानकी भावना स्थापित करनेसे, ऐसे जातीय तथा ऋतु-सम्बन्धी पर्वों और विभिन्न सम्प्रदायोंके मान्य महापुरुषोंकी जयन्तियोंकी स्थापनासे जिनमें सब प्रेमपूर्वक भाग ले सकें, तथा अधिकसे अधिक सद्भावनाके साथ बौद्धिक, नैतिक, साहित्यिक और कला-सम्बन्धी सम्पर्क स्थापित करनेसे ही साम्प्रदायिक समस्याका समाधान हो सकता है।

---

१. तु० "अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका। पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥ (पद्मपुराण, भूमिखण्ड)।
इसी सम्बन्धमें निम्नस्थ पद्यको भी देखिए, जिसका स्नान करते हुए प्रायः पाठ किया जाता है—

"गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्विति!
नर्मदे सिन्धु (?) कावेरि जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु॥"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

इस प्रश्नपर विशेष विचार हम इस ग्रन्थको अन्तिम अवस्था करेंगे। यहाँ तो हम केवल यह दिखलाना चाहते हैं कि भारतीय संस्कृति स्वरूपके निर्धारणमें हमारी दृष्टिका पूर्णतया प्रगतिशील, असाम्प्रदायिक और उदार होना अनिवार्यरूपसे आवश्यक है। तभी सारा देश भारतीय संस्कृतिकी भावनाको अपना सकेगा। तभी वह देशके लिए कल्याणकारी सिद्ध हो सकेगी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तीसरा परिच्छेद

भारतीय संस्कृतिकी वैज्ञानिक विचार-पद्धति

भारतीय संस्कृतिके आधार और भारतीय संस्कृतिके दृष्टिकोणके सम्बन्धमें पिछले दो परिच्छेदोंमें जो विचार किया गया है, उससे स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृतिकी समष्टि-दृष्टि-मूलक तथा सद्भावनापूर्ण विचार-धाराके आधारपर ही भारतीय समाजकी परम्परागत संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओंमें ऐसी क्रान्ति लायी जा सकती है, जिससे विग्रह, विघटन, साम्प्रदायिकता, विचार-संकीर्णता, पश्चाद्दर्शिता तथा अन्धरूढ़िवादके स्थानमें क्रमशः संग्रह, संघटन, असाम्प्रदायिकता, विचार-औदार्य, आदर्शवादिता तथा प्रगतिवादकी भावनाओंको देशमें स्थापित किया जा सकता है।

इस परिच्छेदमें हम मुख्य रूपसे उस वैज्ञानिक प्रक्रियाके स्वरूपको दिखाना चाहते हैं, जिसके द्वारा ही भारतीय परम्परासे प्राप्त और विभिन्न सम्प्रदायों तथा वर्गोंसे सम्बद्ध विस्तृत साहित्य और लम्बे इतिहासका एक धारावाहिक जीवित परम्पराके रूपमें अध्ययन किया जा सकता है।

उक्त वैज्ञानिक प्रक्रियाके स्वरूप और महत्त्वको स्पष्टतया समझनेके लिए आवश्यक है कि पहले हम उस परम्परागत साम्प्रदायिक विचार-पद्धतिको समझ लें, जो चिरकालसे भारतवर्षके विद्वानोंमें प्रायेण चली आ रही है, और जिसके प्रभावके कारण ही अब भी हमको देश और राष्ट्रकी गम्भीर समस्याओंके विषयमें खुले हृदयसे विचार करनेमें कठिनता प्रतीत होती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

साम्प्रदायिक विचार-पद्धति

साम्प्रदायिक विचार-पद्धतिका मौलिक आधार एकमात्र शब्द-प्रमा की प्रधानता ही है, जिका उल्लेख हम प्रथम परिच्छेदमें कर चुके हैं।

शब्द-प्रमाण अपनी उचित सीमाके अन्दर सबको मानना पड़ता हमारे प्रतिदिनके जीवनमें शब्द-प्रमाणका, अपने-अपने विषयोंके वि वैद्य, डॉक्टर आदिकी बातका, कितना महत्त्व है, यह किससे छिपा अनुभवी विशिष्ट विद्वानों या लेखकोंकी बातों या शब्दोंमें अपने विचा पुष्टि या समर्थन पाकर हम कितने प्रसन्न होते हैं ? ऐसे ही विशेषज्ञों जिन्होंने अपने अनुभव और परीक्षणसे किसी तत्त्वको साक्षात् किया प्राचीन शास्त्रोंकी परिभाषामें आप्त[1] कहा जाता था, और उनके ही को वास्तवमें शब्द-प्रमाण[2] कहना और मानना चाहिए।

परन्तु ज्यों ही शब्द-प्रमाण अपनी सीमाके बाहर चला जाता प्रत्यक्ष अनुभव और परीक्षणके मौलिक आधारसे विच्युत होकर जब मान्यता और अन्ध-विश्वासपर स्थित हो जाता है, वह ऐसी विचार-प का जनक होता है, जो प्रायेण न केवल अपनेको ही धोखा देती है, संसारको भी व्यामोहमें डालनेवाली होती है।

धार्मिक क्षेत्रमें एक बार बुद्धिवाद, प्रत्यक्षानुभव तथा अन्य प्रमा निरपेक्ष शब्द-प्रमाणके मान लेनेपर, लोगोंमें साम्प्रदायिकताके भावोंका आ जाना अनिवार्य हो जाता है।

भारतवर्षकी साम्प्रदायिक परम्परामें इसी दृष्टिका, शब्दैक-प्रम वादिताका, चिरकालसे साम्राज्य रहा है। "शब्दप्रमाणका वय यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्" (अर्थात्, हम तो केवल श प्रमाण माननेवाले हैं। हमारे लिए तो जो शास्त्रमें लिखा है वही प्र

---

१. तु० – "अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन याथार्थ्यज्ञानवान् आप्तः।"

२. देखिए – "आप्तोपदेशः शब्दः" (न्यायसूत्र १।१।७)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

) महाभाष्य-पस्पशाह्निकके इन शब्दोंके अनुसार ही प्रायः हमारे साम्प्र-
यिकोंके विचार चिरकालसे चले आ रहे हैं ।

"मनुष्या वा ऋषिपूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्
को न ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्य एतं
तर्कमृषिं प्रायच्छन् ।" (निरुक्त, परिशिष्ट)

अर्थात्, सत्य या धर्मको बतलानेवाले ऋषियोंके कालके समाप्त होनेपर,
नुष्योंने देवोंसे पूछा कि अब हमारा ऋषि या मार्गदर्शक कौन होगा । तब
वोंने मनुष्योंको तर्क-रूपी ऋषिको दिया ।) इस प्रकार निरुक्त-जैसे वेद-
षयक महत्त्वके ग्रन्थ-द्वारा तर्क या परीक्षणको सत्यान्वेषणमें प्रमुख स्थान
नेपर भी, वेदान्तसूत्र[1] का यही कहना है कि तर्कका कोई ठिकाना नहीं है,
ब्द-प्रमाणके पीछे-पीछे ही तर्कको चलना चाहिए । धर्मशास्त्रों[2] में भी इस
तपर बल दिया गया है कि अपनी मान्यताके शास्त्रोंके अविरोधसे ही तर्क
रा अनुसन्धान करना चाहिए ।

अपने वैयक्तिक तर्कको कुतर्कणाके मार्गसे बचानेके लिए ऊपरके
द्धान्तके माननेमें वास्तवमें कोई आपत्ति नहीं की जा सकती । परन्तु जब
छ लोग स्वार्थ या अन्ध-विश्वासके कारण अपने सम्प्रदायकी मान्य
तकोंके मानव-कल्याणकी दृष्टिसे मौलिक अभिप्रायको न समझकर उनके
ब्दोंको ही पकड़ने लगते हैं, उसी समयसे साम्प्रदायिक सहिष्णुताके
ानमें साम्प्रदायिक असहिष्णुता, संकीर्णता और दुराग्रहका दुष्प्रभाव
नतामें फैलने लगता है ।

ऐसे ही कारणोंसे संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओंका प्रसार हमारे देश-
चिरकालसे चला आ रहा है । सहस्रों ग्रन्थ इसी दृष्टिसे लिखे गये हैं ।

---

१. "तर्काप्रतिष्ठानात्" (वेदान्तसूत्र २।१।११) ।
२. तु० – "आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना । यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ (मनुस्मृति १२।१०६)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

हमारे धर्मशास्त्र, पुराण, यहाँतक कि दार्शनिक ग्रन्थ भी, संकीर्ण सा-दायिक भावनाओंसे अस्पृष्ट नहीं रहे हैं। साम्प्रदायिक विचार-पद्धति तात्पर्य वास्तविक सत्यके अन्वेषणमें इतना नहीं होता, जितना कि मान्यताओंकी (अथवा मान्य पुस्तकोंकी) पुष्टिमें या दूसरे सम्प्रदा-खण्डनमें होता है। यही इस पद्धतिका सबसे बड़ा दोष है।

शब्दैकप्रमाण-वादिता-मूलक साम्प्रदायिक विचार-पद्धति, मूलमें कुछ निर्दोष होते हुए भी, शनैः-शनैः सत्य-पक्षपातिता और सत्यान्वेषण प्रवृत्तिसे हटते-हटते, प्रायेण अबुद्धिपूर्वक, कितनी दूर चली जाती है, हम नीचे दिखाना चाहते हैं।

भारतवर्षमें उपर्युक्त साम्प्रदायिक विचार-पद्धतिके इतिहास विकासपर ध्यान देनेसे प्रतीत होगा कि उससे उत्पन्न विचार-प्रवृत्ति स्थूल रूपसे हम तीन रूपोंमें दिखा सकते हैं – १. एकवाक्यता या समन्वयकी प्रवृत्ति, २. अर्थान्तर या व्याख्या-भेदकी प्रवृत्ति, और ३. प्रक्षिप्तकी प्रवृत्ति। इनको क्रमशः हम नीचे स्पष्ट करेंगे।

एकवाक्यता या समन्वयकी प्रवृत्ति

सिद्धान्त-रूपसे सत्यकी रक्षा करते हुए, परस्पर सहिष्णुताके आधार विरोधमें अविरोधकी स्थापनाके लिए प्रयुक्त एकवाक्यता या समन्वय प्रवृत्तिकी उपयोगिता या उपादेयताको कौन स्वीकार नहीं करेगा भारतीय संस्कृतिकी विचारधारा स्वयं इसी प्रवृत्तिका एक उत्कृष्ट नि है। इस ग्रन्थमें हम क्रमशः इसी बातका प्रतिपादन करना चाहते हैं।

परन्तु साम्प्रदायिक विचार-पद्धतिसे समुद्भूत जिस एकवाक्यता समन्वयकी प्रवृत्तिसे यहाँ हमारा अभिप्राय है वह उक्त प्रकारकी प्र नितरां भिन्न है। यहाँ हमारा अभिप्राय प्रायेण मीमांसा-पद्धति-मूलक तथा-कथित एकवाक्यता या समन्वयकी प्रवृत्तिसे है, जिसका उ भारतवर्षमें अपने-अपने साम्प्रदायिक या सम्प्रदाय-सम्बद्ध साहित्यमें

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाने वाले परस्पर-विरुद्ध या विरुद्ध रूपमें प्रतीत होने वाले मतोंमें, किसी प्रकारके संकोच या विस्तारके द्वारा, अविरोध, एकवाक्यता या समन्वय स्थापित करनेके लिए किया जाता रहा है।

प्रायेण साम्प्रदायिक संघर्षके वातावरणमें ही इस प्रवृत्तिका उदय नहीं, तो विस्तार तो अवश्य ही हुआ था।

साम्प्रदायिक संघर्षके दिनोंमें विरोधियोंके आक्षेपोंके कारण प्रायः इसका प्रयत्न किया जाता है कि अपने-अपने सम्प्रदायमें ही जो अवान्तर विरुद्ध मत पाये जाते हैं, उनमें किसी प्रकार अविरोध स्थापित किया जाये।

अपनी सीमाके अन्दर यह प्रवृत्ति सर्वथा समुचित हो सकती है। किसी भी बुद्धिमान् व्यक्तिके लेखों या कथनोंमें जो परस्पर विरोध दिखाई देता है, वह प्रायेण आपाततः ही होता है और उसमें अविरोध स्थापित करना समुचित माना जा सकता है।

परन्तु कालके भेदसे या व्यक्तियोंके भेदसे पाये जानेवाले विचारोंके भेदमें आवश्यक रूपसे आग्रहपूर्वक एकवाक्यता या समन्वय स्थापित करनेका प्रयत्न करना स्पष्टतः उपर्युक्त प्रवृत्तिकी उचित सीमाका अतिक्रमण माना जायेगा।

भारतवर्षमें इस प्रकार औचित्यके अतिक्रमणकी कहाँतक चेष्टा की जाती रही है, इसको हम दो चार निदर्शनों-द्वारा दिखाना चाहते हैं।

विभिन्न कालोंमें और विभिन्न विचारकों-द्वारा प्रतिपादित मतोंके संग्रह-रूप उपनिषदोंमें यह स्वभावतः सम्भव है कि विश्वके मूलतत्त्वके विषयमें मुनियोंके विचारोंमें परस्पर थोड़ी-बहुत विभिन्नता पायी जाये। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि एक जगह उस मूलतत्त्वको ब्रह्मके रूपमें, अन्यत्र प्राण या आकाशादिके रूपमें वर्णन किया गया है। इस प्रकारका दार्शनिक मतभेद संसारमें सब जगह और सब कालोंमें पाया जाता है। ऐसा होनेपर भी, वेदान्त-सूत्र (= उत्तर-मीमांसा)की रचनाका मुख्य उद्देश्य यही है कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

किसी प्रकार उपनिषदोंके अन्तर्गत विभिन्न मतोंमें एकवाक्यता दि
जा सके।

इसी प्रकार धर्मशास्त्रों और कर्मकाण्डोंमें पाये जानेवाले
विरोधों या विभिन्नताओंका समाधान, काल-भेदसे होनेवाली स्वा
परिवर्तन-शीलताके आधारपर न मानकर, प्रायेण उक्त प्रवृत्ति-
दिखानेका प्रयत्न किया जाता रहा है।

तथाकथित आस्तिक दर्शनोंमें जो परस्पर विरोध या विचारभेद
जाता है, उसका समाधान भी प्रायेण उक्त प्रवृत्तिके द्वारा ही
जाता है।

अपने-अपने सम्प्रदायोंमें शब्द-प्रमाणके रूपमें अभ्युपगत सिद्ध
दृष्टिसे प्राचीन साहित्यमें पायी जानेवाली तद्विरुद्ध बातोंके समाधान
साम्प्रदायिकोंका यही सबसे पहला उपाय है। इतिहासमे उनके
सिद्धान्तोंके विरुद्ध घटनाएँ हुई हैं, इसको तो यथासम्भव वे मा
नहीं। कालभेदसे विचारोंमें परिवर्तन होता रहता है, इसको भी
नहीं मान सकते।

इन्हीं कारणोंसे विदेशी जातियोंके, लाखोंकी संख्यामें, इतिहास
भारतीयकरणको, अथवा इतिहाससे सिद्ध दूर-देशान्तरोंके लिए भारत
समुद्र-यात्राको, हमारे साम्प्रदायिक धर्मशास्त्री कोई महत्त्व नहीं
प्रचलित धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तोंके विरुद्ध विधवा-विवाह, क्षत्रियका
ग्रहण या ब्रह्मविद्योपदेश अथवा वर्ण-परिवर्तन-जैसी कोई बात यदि
ग्रन्थोंमें उल्लिखित मिल जाती है तो उसका समाधान भी ये साम्प्र
विद्वान् किसी प्रकार उपर्युक्त मिथ्या समन्वयवादकी प्रवृत्तिके द्
करते हैं।

ऐतिहासिक बुद्धिके अभाव और विचार-स्वातन्त्र्यके सिद्धान्त
माननेके साथ-साथ, उक्त एकवाक्यता या समन्वयकी प्रवृत्तिका एक
यह भी है कि वह प्रायः अपने-अपने सम्प्रदायमें ही सीमित रहती

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साम्प्रदायिक भावनासे ऊपर उठकर यदि इस प्रवृत्तिका उपयोग विभिन्न सम्प्रदायोंके परस्पर समन्वयके लिए किया गया होता, तो यह कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध होती और समष्टि-दृष्टि-मूलक भारतीय संस्कृतिके सिद्धान्तके पास तक हमें ला देती। परन्तु संकुचित उपयोगके कारण इससे साम्प्रदायिकताको ही बल मिलता रहा है।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, भारतीय संस्कृतिकी विचारधारा भी एकवाक्यता या समन्वयकी प्रवृत्तिको मानती है। परन्तु उसका दृष्टिकोण, संकुचित न होकर, परम उदार है। इसका कारण उसकी वैज्ञानिक विचार-पद्धति ही है, जिसका स्पष्टीकरण हम आगे चलकर इसी परिच्छेदमें करेंगे।

एकवाक्यता या समन्वयकी उक्त प्रवृत्तिसे साम्प्रदायिकोंका सब जगह काम नहीं चलता। इसलिए विवश होकर उन्हें अर्थान्तर या व्याख्या-भेदकी प्रवृत्तिका आश्रय लेना पड़ता है। उसीके स्वरूपको हम नीचे दिखाते हैं –

अर्थान्तर या व्याख्या-भेदकी प्रवृत्ति

उपर्युक्त एकवाक्यता या समन्वयकी प्रवृत्तिके साथ-साथ साम्प्रदायिक विचार-पद्धतिकी दूसरी प्रवृत्ति शब्दों, वाक्यों, या सम्पूर्ण ग्रन्थोंके ही अर्थान्तर या व्याख्यान्तर करनेकी है। भारतवर्षमें यह प्रवृत्ति भी पराकाष्ठा तक पहुँची हुई मिलती है।

इस प्रवृत्तिका प्रारम्भ हमें ब्राह्मण-ग्रन्थोंके कालसे ही मिलता है। उपनिषदों आदिमें भी यह प्रवृत्ति दिखाई देती है। किसी भी मन्त्र या ऋचाकी व्याख्या कई प्रकारसे की जा सकती है और इस प्रकार उससे अपने अभिप्राय या मतकी पुष्टि की जा सकती है, ऐसा मानकर ही वैदिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

मन्त्रों या ऋचाओंके उद्धरण प्रायः इन ग्रन्थोंमें दिये गये हैं।[1]

यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती गयी। अन्तमें तो पूरे-पूरे ग्रन्थोंको अपने मतके अनुसार व्याख्या करनेका रिवाज-सा हो गया। इसका अधिक प्रसिद्ध निदर्शन प्रस्थान-त्रयी (= उपनिषद्, वेदान्तसूत्र, भगवद्गीता) की विभिन्न साम्प्रदायिक व्याख्याएँ हैं। शंकर, रा मध्व आदि साम्प्रदायिक आचार्योंकी इन ग्रन्थोंपर व्याख्याएँ तो प्रसि हैं; इधर नवीन साम्प्रदायिक विद्वानोंने भी अपनी-अपनी व्या लिखी हैं।

अपने-अपने सिद्धान्तोंको शब्द-प्रमाण-मूलक सिद्ध करनेके साम्प्रदायिक विद्वानोंका बराबर यही प्रयत्न रहा है कि किसी-न प्रकार अपने पाण्डित्यके बलपर प्रामाणिक ग्रन्थोंकी अपने ही व्याख्या करके अपने सिद्धान्तकी पुष्टि की जाये।

आजकल तो यह प्रवृत्ति उपहासकी सीमा तक पहुँच गयी है। मन्त्रोंको कामदुघ मानकर, उनमें-से अपने-अपने अभीष्ट अर्थको नि की चेष्टा की जाती है। आधुनिक जगत्का कोई विज्ञान या आ ऐसा न होगा, जिसको वेदसे सिद्ध करनेका प्रयत्न न किया जाता रेल और तारका तो वेदसे निकालना साधारण-सी बात है। परन्तु आ की बात तो यह है कि दूसरों-द्वारा आविष्कृत विज्ञानादिकी पुष्टिमें ह किया जाता है। ये वैदिक विद्वान् स्वोपज्ञ-रूपसे कोई नया विज्ञा आविष्कार वेदसे नहीं निकाल पाते।

इन साम्प्रदायिक विद्वानोंकी कृपासे वेद 'भानमतीका पिटारा गया है'। हाथ डालते ही मनचाही वस्तु उसमें-से निकाली जा सक वेदके अनेक स्थलोंसे जहाँ एक पक्ष मृतकश्राद्ध, अवतारवाद, मू

---

१. उदाहरणार्थ, "चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः" (ऋग्० ४ इत्यादि मन्त्रकी निरुक्त (परिशिष्ट ७) तथा महाभाष्य (पस्प में विभिन्न व्याख्याओंको देखिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ोंमें पशुबलि, वेदमें इतिहास आदिकी पुष्टि करता है, वहाँ दूसरा पक्ष हीं स्थलोंसे तद्विपरीत अर्थ निकालनेका प्रयत्न करता है। एक पक्षसे ीकृत 'देवों' को, जिनके माननेपर सारा वैदिक कर्मकाण्ड निर्भर है, सरा पक्ष 'विद्वानों' के अर्थमें लेता है। इस दृष्टिसे वेद और वैदिक हित्यमें 'देव', 'पितृ' (पितरः), 'मांस' – जैसे शब्दोंका भी अर्थ अनिश्चित रह जाता है। यदि वास्तवमें ऐसा ही है, तब तो प्रश्न किया जा कता है कि वेदोंका अपना महत्त्व ही क्या है?

एक बार १९४० ई० के लगभग वेदोंके एक प्रसिद्ध विद्वान्‌ने हमारे भापतित्वमें दिये गये अपने भाषणमें 'माण्टेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड रिफ़ॉर्म' के नुसार जो धारा-सभाएँ आदि भारतवर्षमें चलायी गयी थीं उनके स्वरूप- वेदोंके प्रमाणोंसे सिद्ध करके दिखला दिया था। हमारा विश्वास है कि ही विद्वान् वर्तमान भारतीय संविधानको अथवा किसी अन्य संविधान- भी उसी सरलतासे वेदोंके आधारपर सिद्ध कर सकेंगे!

हम नहीं कह सकते कि इस प्रकार, वर्तमानको प्राचीन कालमें ारोपित करनेकी प्रवृत्ति (anachronism) पर निर्भर, मनमाने अर्थ न्य ग्रन्थोंपर लादनेसे हम उनका मान बढ़ाते हैं या उनको उपहासास्पद नाते हैं?

कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि साम्प्रदायिकोंकी अर्थान्तर करनेकी र्युक्त उपहासास्पद प्रवृत्तिका मूल न तो इतना शब्द-प्रमाणवादितामें या त्यान्वेषणकी भावनामें होता है, जितना कि "घटं भित्त्वा पटं छित्त्वा" अनुसार सत्यार्थकी बलि भी देकर अपने पक्षकी पुष्टि करनेकी इच्छामें ता है।

परन्तु अर्थान्तर करनेकी भी सीमा है। अनेक स्थलोंमें अर्थान्तर करनेसे साम्प्रदायिकोंका काम नहीं चलता। वहाँ उन्हें प्रक्षिप्तवादका आश्रय ना पड़ता है। उसीका स्पष्टीकरण हम नीचे देते हैं —

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

प्रक्षिप्तवादकी प्रवृत्ति

मुख्य रूपसे शब्द-प्रमाणको ही मानकर चलनेवाले साम्प्रदायिक जब अपनी मान्यताकी कोटिके ग्रन्थोंमें ऐसे स्थल पाते हैं, जिनकी अपने सिद्धान्तोंसे एकवाक्यता दिखायी जा सकती है, और न व्याख्यान किया जा सकता है, उस दशामें वे उन स्थलोंको बिना किसी संकोच आसानीसे, प्रक्षिप्त (=पीछेसे मिलाया गया) कह देते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि ग्रन्थोंमें, विशेषतः प्राचीन ग्रन्थोंमें, वास्तव रूपमें भी प्रक्षेपोंका होना सम्भव है। परन्तु इनका क्षेत्र तथा प्रकार सीमित ही होता है। वैज्ञानिक पद्धतिके आधारपर अनेक प्रकारके सच ही ऐसे वास्तविक प्रक्षेपोंका निर्णय किया जा सकता है, किया जाना चाहिए। केवल अपने सिद्धान्तके विरोधके कारण ही किसी स्थलको प्रक्षिप्त कह देना, सत्यकी हत्याके साथ-साथ, दुःसाहस भी है।

प्रक्षिप्तवादकी प्रवृत्तिके विशेष उदाहरणोंको देनेकी आवश्यकता है। फिर भी दो-चार उदाहरण देना यहाँ अनुचित न होगा।

मृतकश्राद्ध, अवतारवाद, देवमन्दिरोंमें मूर्तिपूजा, वैदिक कर्मकाण्ड, पशुबलि आदिको न माननेवाले साम्प्रदायिक लोग जब मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंमें मृतकश्राद्ध, भगवद्गीतामें अवतारवाद, वाल्मीकिरामायण में देवमन्दिरोंमें मूर्तिपूजा या इसी प्रकारकी अन्य पौराणिक धर्मकी बातें तथा श्रौतसूत्रों और ब्राह्मणग्रन्थोंमें यज्ञमें पशुबलिके प्रतिपादक स्थलोंको पाते हैं, तब उनको प्रक्षिप्त कहकर ही किसी प्रकार विरोधसे अपने प्राणोंकी रक्षा करते हैं। ये लोग कभी-कभी ऐसे ग्रन्थोंके, तथाकथित प्रक्षिप्तांशोंसे रहित, 'विशुद्ध' (?) संस्करणोंके प्रकाशनका भी प्रयत्न करते हैं।

एक ओर तो कहा जाता है कि हमारे प्राचीन विद्वानोंने घोर तपस्या द्वारा प्राचीन भारतीय वाङ्मयकी रक्षा की थी; दूसरी ओर उन्हींके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रक्षिप्त' करनेकी बात कही जाती है !

फिर यह कैसे मान लिया जाये कि किसी विषयमें जैसे हमारे विचार हैं, सब विद्वानोंके उस विषयमें सदासे वैसे ही विचार रहे हैं ?

उपर्युक्त प्रक्षिप्तवादसे मिलती-जुलती ही साम्प्रदायिक विचार-पद्धतिकी कुछ अन्य प्रवृत्तियाँ भी हैं, जिनका संक्षेपसे निर्देश करना यहाँ अनुचित न होगा।

साम्प्रदायिक विचार-पद्धतिकी अन्य प्रवृत्तियाँ

साम्प्रदायिक विचारधारा शब्दप्रमाणके प्राधान्यवादपर निर्भर है, यह हम ऊपर बता चुके हैं। इसी कारण साम्प्रदायिक लोग देशमें परम्परासे प्राप्त धार्मिक साहित्यमें या तो प्रामाणिकताकी दृष्टिसे तर-तम-भावकी कल्पना करते हैं या उसके अंश या अंशोंको अप्रामाणिक ही कह देते हैं।

उदाहरणार्थ, पुराणों-उपपुराणोंका बड़ा विस्तृत साहित्य भारतीय परम्परासे चला आया है। वर्तमान पौराणिक हिन्दू-धर्मके स्वरूप और विकासको समझनेके लिए उनको एक अर्थमें हम धार्मिक विश्वकोश कह सकते हैं। ऐतिहासिक सामग्रीकी दृष्टिसे भी उनका अद्वितीय महत्त्व है। देश और विदेशके विद्वान् अब उनके महत्त्वको मुक्तकण्ठसे स्वीकार करने लगे हैं।

ऐसा होनेपर भी कुछ साम्प्रदायिक दृष्टिके लोग उनकी निन्दा करते हुए नहीं थकते, उनको सर्वथा हेय तथा अप्रामाणिक ही समझते हैं।

इसी प्रकार धार्मिक साहित्यमें ही स्वतःप्रमाण और परतःप्रमाणकी कल्पना[1] भी शब्दप्रमाणवादी साम्प्रदायिकोंकी अनैतिहासिक मनोवृत्तिका ही परिणाम है।

---

१. तु० – "धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्यं स्यात्। विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्।" (मीमांसासूत्र १।३।१, ३)। इसी प्रसंगमें

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

सच्ची निर्दोष साम्प्रदायिक निष्ठाके आधारपर किसी ग्रन्थविशे पवित्रता और श्रद्धाकी भावना दूसरी बात है। वह क्षम्य ही नहीं, प्रश नीय भी हो सकती है। परन्तु वैसी ही श्रद्धाके आवेगके कारण परम्प प्राप्त किसी विस्तृत साहित्यके प्रति विरोध और असहिष्णुताकी भा किसी प्रकार क्षम्य नहीं कही जा सकती।

संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्तिकी एक दूसरी असहिष्णुताकी प्र और भी अधिक अक्षम्य होती है। इसका निदर्शन हमको नवीन वैज्ञा पद्धति और उससे प्रवर्तित विज्ञानों और आविष्कारोंके प्रति उसकी स्पष्ट अस्पष्ट असहानुभूतिमें मिलता है।

जहाँतक भौतिक विज्ञानों या आविष्कारोंका सम्बन्ध है, यह प्रवृत्ति रूपोंमें प्रकट होती है। यदि उनके विषयमें गुणपक्ष और दोषपक्ष दो हो सकते हैं, तब तो उनके दोषपक्षपर ही बल दिया जाता है। के गुणपक्षके होनेपर, गुणपक्षको लेकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न कि जाता है कि उन विज्ञानों या आविष्कारोंका उल्लेख हमारे प्राचीन ग्रन्थ भी पाया जाता है।

परन्तु जो नूतन विज्ञान और आविष्कार भौतिक नहीं हैं, उनके वि में तो सम्प्रदायवादियोंका प्रायः यही कहना होता है कि वे वैज्ञानिक आधारसे ही रहित हैं। १९वीं और २०वीं शताब्दियोंने भाषाविज्ञा मानवजातिविज्ञान, पुरातत्त्वविज्ञान, पुराणविज्ञान, मतविज्ञान आदि नवीन विज्ञानोंको जन्म दिया है। इन विज्ञानोंसे अनेक प्राचीन धारणा को धक्का लगा है। प्रायः इसीलिए इनके प्रति साम्प्रदायिकोंमें विरोध-भावना पायी जाती है। ऐसे साम्प्रदायिक विद्वानोंकी कमी नहीं

मनुस्मृति (२।१३) पर कुल्लूक भट्टकी टीका – "अत एव जाबाल श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।"; शंकरदिग्विजय (८।६) में "इ प्रमाणं परतः प्रमाणम्...।"; तथा स्वामी दयानन्द-कृत ऋग्वेदादिभा भूमिकाका 'ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य'-विषय भी देखिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साम्प्रदायिक मंचोंपर, जहाँ धर्म-सदाचारका ही उपदेश होना चाहिए, नवीन विज्ञानोंकी हँसी उड़ाते हुए उनका खण्डन करते हैं। कभी-कभी यह भी कहते सुने जाते हैं कि इन 'तथाकथित' विज्ञानोंके चलानेमें श्चात्त्य विद्वानोंका एक भयानक षड्यन्त्र है, जिसका अन्तरभिप्राय अपने शके पारम्परिक विश्वासों और धारणाओंको केवल धक्का पहुँचाना है!

वास्तवमें संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्तिके साथ, चाहे वह पश्चिमकी या पूर्वकी, ऐसी अनुदार भावनाएँ स्वभावतः ही रहती हैं।

ऊपरके प्रतिपादनसे स्पष्ट हो गया होगा कि मुख्यतः ऐतिहासिक दृष्टि- न होनेसे, और अनुभव तथा परीक्षण आदिसे निरपेक्ष शब्द-प्रमाणको ही धान पद देनेसे, साम्प्रदायिक विचार-पद्धति, सत्यान्वेषणके स्थानमें, उलटे नर्थकी सम्पादिका बन जाती है। उससे एक ओर सत्यकी हत्याका, र दूसरी ओर विचार-स्वातन्त्र्यके सर्वथा प्रतिषेधका भय उपस्थित हो ता है।

उसका एक बड़ा दोष यह भी है कि वह अपनी दृष्टि सदा अपने ही म्प्रदायके ग्रन्थोंमें सीमित या बद्ध रखती हुई, और न केवल अपनेसे न्न सम्प्रदायके ग्रन्थोंके विषयमें, अपितु देशकी लम्बी परम्पराके विभिन्न रोंसे सम्बद्ध विशाल साहित्य आदिके विषयमें भी, प्रायः उपेक्षा ही खाती है।

ऐसे ही कारणोंसे भारतीय संस्कृतिकी विचारधाराके लिए, जिसका म्बन्ध भारतके समस्त वाङ्मय और इतिहाससे है, संकुचित साम्प्रदायिक चार-पद्धतिको छोड़कर, वैज्ञानिक विचार-पद्धतिका ही अवलम्बन वश्यक हो जाता है। उसीके स्वरूप और महत्त्वको हम संक्षेपमें नीचे खाना चाहते हैं।

ज्ञानिक विचार-पद्धति

वैज्ञानिक विचार-पद्धतिका मुख्य आधार उसकी तुलनात्मक और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

ऐतिहासिक प्रक्रिया है। किसी विषयके स्वरूपको उपपत्ति और युक्ति सहित समझनेके लिए हमें उसके इतिहास और विकासके साथ-साथ उस वर्तमान आपेक्षिक परिस्थितिको भी ठीक-ठीक जानना आवश्यक होता है।

इसलिए व्यापक दृष्टिसे भारतीय संस्कृतिके स्वरूप, स्वभाव विकासको, उसकी अत्यन्त प्राचीनकालसे आनेवाली धारावाहिक परम्पराको, ठीक-ठीक समझनेके लिए उसके इतिहासको जाननेकी आवश्यकता है। इसके लिए सत्यके अन्वेषणमें तत्पर, किसी प्रकार पूर्वग्रह तथा पक्षपातसे रहित, विवेचनात्मक व्यापक ऐतिहासिक बुद्धिकी आवश्यकता है। इस ऐतिहासिक बुद्धिके परिपाकके लिए अन्य प्राचीन परम्परागत संस्कृतियोंके परिज्ञानके साथ-साथ भाषा-विज्ञान, मानव-शास्त्र विज्ञान, पुरातत्त्व-विज्ञान, पुराण-विज्ञान आदि नवीन विज्ञानोंके सिद्धान्तोंको भी जाननेकी अपेक्षा होती है।

भारतीय संस्कृतिकी कोई ऐतिहासिक विकासात्मक परम्परा है, यह दिखानेके लिए हमें अनिवार्य रूपसे उसकी प्रगतिशीलताके सिद्धान्तको मानना आवश्यक हो जाता है। प्रगतिशीलताके सिद्धान्तको मान लेने पर ऐतिहासिक शोधमें साम्प्रदायिक विचार-पद्धति और उसकी पूर्वग्रह प्रवृत्तियोंके लिए कोई स्थान ही नहीं रहता।

सत्यान्वेषणकी भावनासे प्रवृत्त ऐतिहासिकका कर्तव्य है कि वह प्रकारके पूर्वग्रह और पक्षपातसे रहित होकर भारतीय संस्कृतिके विभिन्न कालोंकी वस्तु-स्थितिका निरूपण करे। इसलिए उसको प्रयत्न करना पड़ता है कि उसकी विवेचनापर किसी साम्प्रदायिक झुकावका किसी प्रकारका अनुचित प्रभाव न पड़े और वह प्रत्येक कालके साथ न्याय कर सके। ऐसी अवस्थामें न तो उसे बलात् कृत्रिम एकवाक्यता या समन्वय न अर्थान्तरकी, और न प्रक्षिप्तवादके आश्रयकी अपेक्षा होती है। किसी भी वस्तुस्थितिको अच्छे या बुरे रूपान्तरमें दिखाना अपनी बुद्धिके विपरीत ही समझता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक कालको दूसरे कालमें अध्ययन या आरोप करनेकी प्रवृत्ति anachronism) अबुद्धिपूर्वक साम्प्रदायिकोंके अतिरिक्त अन्य लोगोंमें भी देखी जाती है। उदाहरणार्थ, वेदमन्त्रोंकी व्याख्यामें आजकल यह प्रवृत्ति प्रायः पायी जाती है। सच्चे ऐतिहासिकको इस प्रवृत्तिकी ओरसे अपनेको सदा सचेत रखना पड़ता है।

भारतवर्षमें हम लोगोंकी प्रायेण यही प्रवृत्ति रही है कि हम बड़े-बड़े धार्मिक आन्दोलनोंको, अवतारी महापुरुषोंको और बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक घटनाओंको पूर्वापर परिस्थितियोंसे असम्बद्ध तथा असम्पृक्त अथवा आकस्मिक घटनाके रूपमें ही देखते हैं। उदाहरणार्थ, भगवान् कृष्णके अवतारके विषयमें हमें इतनेसे ही सन्तोष हो जाता है कि कंस आदि पापियोंके संहारके लिए ही वह अवतार हुआ था। देशकी धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि पूर्ववर्ती परिस्थितिमें उस अवतारकी आवश्यकताको हम नहीं ढूँढ़ते; न यह जानना चाहते हैं कि देशकी परवर्ती परिस्थितियोंपर उसका चिरस्थायी अथवा अचिरस्थायी क्या प्रभाव पड़ा? परन्तु वैज्ञानिक पद्धतिके अनुसरणमें हमें इन सब बातोंका उत्तर देना आवश्यक हो जाता है।

जैसे भौतिक जगत्में आँधीके आनेसे पहले वायुमण्डलकी एक विशेष अवस्था होती है और आँधी भी उसी अवस्थाके कारण आती है। साथ ही, आँधी, स्वयं समाप्त हो जानेपर, वायुमण्डलमें अपना विशेष प्रभाव छोड़ जाती है। इसी प्रकार महान् आन्दोलनों और अवतारी महापुरुषोंकी पूर्ववर्ती और परवर्ती परिस्थितियोंमें कार्यकारणभावकी परम्परा रहती है। वैज्ञानिक पद्धतिका कर्तव्य है कि वह इसका पता लगाये और इसका निरूपण करे।

वास्तवमें, किसी भी इतिहासके समान ही, भारतीय संस्कृतिका इतिहास भी इसी प्रकारकी कार्यकारण-भावकी परम्पराओंसे निर्मित है। हमारा कर्तव्य है कि हम वैज्ञानिक पद्धतिके अवलम्बनसे उन परम्पराओं-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

का अध्ययन करें।

भारतीय संस्कृतिके लम्बे इतिहासमें काल-भेदसे जो विभिन्न
पाये जाते हैं, हमारा कर्तव्य है कि हम, न केवल उनके परस्पर सम्बन्ध
ही, किन्तु प्रत्येक स्तरकी पूर्वावस्था और अनन्तरावस्थाका भी, उन
त्रुटियोंका भी, जिनके कारण एक स्तरके पश्चात् अगले स्तरका
आवश्यक होता गया, पता लगायें, जिससे एक धारावाहिक जीवि
परम्पराके रूपमें भारतीय संस्कृतिको हम समझ सकें।

उपर्युक्त प्रकारके अध्ययनके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है
भारतीय संस्कृतिके विभिन्न कालोंके साथ हमारी, न केवल ममत्व
या तादात्म्यकी हो भावना हो, किन्तु बुद्धि-युक्त सहानुभति भी हो।

उपर्युक्त वैज्ञानिक पद्धतिका अनुसरण करते हुए ही हम भार
संस्कृतिकी धाराके अपने इस विशेष अध्ययनको करना चाहते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चौथा परिच्छेद

भारतीय संस्कृतिकी विचारधाराका लक्ष्य

भारतीय संस्कृतिके सम्बन्धमें हमने अबतक जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट है कि भारतीय परम्पराकी सूत्रात्माकी ओर संकेत करनेवाला 'भारतीय संस्कृति' यह शब्द-समुदाय या अभिधान एक ऐसी समन्वयात्मक भावनाको अभिव्यक्त करता है, जो एक प्रकारसे भारतीय विचारधारामें नयी वस्तु है। इसीलिए उसका एक नया सन्देश है, उसका अपना विशेष लक्ष्य है। इस परिच्छेदमें हम उसीको व्यक्त करना चाहते हैं। साथ ही, भारतीय संस्कृतिके विभिन्न स्तरोंके सम्बन्धमें आगे जो कुछ हमें कहना है उसके विशिष्ट दृष्टिकोणपर भी कुछ प्रकाश डालना चाहते हैं।

भारतीय राजनीतिक इतिहासमें 'लोकतन्त्रात्मक गणराज्य'की स्थापना एक अनोखी घटना है। इसके द्वारा, भारतके किसी विशिष्ट वर्गको नहीं, अपितु भारतीय जनताको विदेशी परतन्त्रतासे और कोटि-कोटि व्यक्तियोंके समुचित विकासमें बाधक अपने देशकी अन्धरूढ़ियोंसे भी मुक्ति प्राप्त हुई है।

भारतीय संस्कृतिकी नवीन विचारधारा भी सांस्कृतिक क्षेत्रमें ऐसी ही क्रान्तिमयी भावनाको लेकर प्रवृत्त हुई है। राष्ट्रमें सांस्कृतिक एकताकी चेतनाका उद्बोधन उसका मुख्य उद्देश्य है। इसकी प्राप्तिमें अनेकानेक बाधक प्रवृत्तियाँ सहस्रों वर्षोंसे भारतवर्षके इतिहासमें काम करती रही हैं। अब भी उनका बहुत-कुछ अस्तित्व है। उनको स्पष्ट करते हुए, उनके उन्मूलनके प्रकारोंको दिखाना अत्यावश्यक है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

भारतीय अन्तरात्माने राजनीतिक क्षेत्रमें विभिन्न परम्परागत रा विलयनका जो चमत्कारी दृश्य उपस्थित किया है, वह हमारे लि अभिमानकी वस्तु है। कौन नहीं जानता कि हमारे इतिहासमें राज्योंके कारण भारत प्रायः छिन्न-भिन्न रहा है; और उसकी परतन्त्रताका मुख्य कारण ऐसे ही राज्योंकी स्थिति थी।

हमें पूरी आशा है कि अब सांस्कृतिक क्षेत्रमें भी, अपनी स्वतन्त्र सत्ता या पृथक् संस्कृतिका अभिनिवेश या दुरभिमान रखे हमारे विभिन्न सम्प्रदाय अपनेको एक ही व्यापक समन्वयात्मक भा संस्कृतिका अंग समझने लगेंगे। सांस्कृतिक एकताकी चेतनाके उद्बो हमारा यही अभिप्राय है।

उत्तररामचरित (३।४७)में महाकवि भवभूतिने कहा है :

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥

अर्थात्, जैसे वास्तवमें एक ही जल भँवर, बुलबुले और तरंगोंके में देखा जाता है, इसी तरह मूलमें एक ही करुण रस निमित्तभेदसे वि शृंगार आदि रसोंके रूपोंमें देखा जाता है।

व्यापक भारतीय संस्कृतिके साथ विभिन्न सम्प्रदायोंका वास्तवमें ही सम्बन्ध है। इसी भावनाकी वास्तविक अभिव्यक्ति और स्पष्ट अ ही भारतीय संस्कृतिकी विचारधाराका अभिप्राय है।

भारतीय संस्कृतिका संकुचित अर्थ

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि हम बराबर 'भा संस्कृति'को उसके अत्यन्त व्यापक अर्थोंमें ही लेते हैं। भारतान्तर्गत सम्प्रदाय उसकी परिधिके अन्दर आ जाते हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश 'भा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'संस्कृति' इस शब्द-समुदायका संकुचित अर्थोंमें भी प्रयोग हमारे देशमें हो रहा है। प्रथम परिच्छेदमें हम इस ओर संकेत कर चुके हैं। मनमें अनेक प्रकारका दुराव या बचाव रखकर लोग इसका प्रयोग करते हैं। ऐसे ही लोग भारतीय राष्ट्रकी 'सम्प्रदाय-निरपेक्षता' या 'साम्प्रदायिक-समभाव'की आदरणीय नीतिके विरोधमें, संकुचित भारतीय संस्कृतिकी आड़में एक राजनीतिक पक्ष स्थापित करनेका विफल प्रयत्न करते रहते हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि हमारे अभिप्रायसे भारतीय संस्कृति-की विचारधारा राष्ट्रकी उपर्युक्त असाम्प्रदायिक नीतिकी ही समर्थक और पोषक है।

भारतीय संस्कृति और विभिन्न सम्प्रदाय

जैसा ऊपर कह चुके हैं, किसी भी सभ्य समाजमें विभिन्न सम्प्रदायों-का पाया जाना स्वाभाविक होता है; विशेषतः भारतवर्ष-जैसे विशाल और प्राचीन देशमें। ऐसा होनेपर भी, उनमें पारस्परिक सच्ची सद्भावना हो सकती है। संस्कृत साहित्यमें "इति सम्प्रदायः"-जैसे स्थलोंमें 'सम्प्रदाय' शब्दका बिलकुल निर्दोष प्रयोग पाया भी जाता है। विभिन्न विश्वविद्या-लयोंमें विद्या और ज्ञानके क्षेत्रमें जैसी स्पर्धा पायी जाती है, वैसी ही स्पर्धा किसी स्पृहणीय आदर्शको लेकर सम्प्रदायोंमें भी होनी चाहिए। किसी भी अवस्थामें उनमें पारस्परिक विद्वेषकी भावना अक्षम्य होनी चाहिए। इसलिए सच्चे अर्थोंमें चिरस्थायी भारतीय एकराष्ट्रीयताकी पुष्टिके लिए यह परमावश्यक है कि हमारे विभिन्न सम्प्रदायोंमें, समष्टि-दृष्टि-मूलक व्यापक भारतीय संस्कृतिके आधारपर, पारस्परिक सच्ची सद्भावना और सामंजस्यकी प्रवृत्ति बढ़ायी जाये। इसके लिए आव-श्यक है कि :

प्रथम तो, हमारे विभिन्न सम्प्रदायोंमें एक-दूसरेके प्रति समादर और सहिष्णुताकी भावना हो, और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

दूसरे, हम उन सम्प्रदायोंको भगवती गंगाकी तरह प्रगतिशील न्वयात्मक भारतीय संस्कृतिका पूरक ही समझें।

दूसरे शब्दोंमें, अबतक सम्प्रदायोंमें जो समानान्तरता या प्रति की भावना चली आ रही है, उसके स्थानमें, वे सब काल, परिस्थि स्थानके भेदसे एक ही भारतीय संस्कृतिकी प्रगतिके पोषक रहे भावनाको स्थापित करनेकी आवश्यकता है।

भारतवर्षमें साम्प्रदायिक नेताओंकी स्वार्थ या संकीर्णताकी कारण सम्प्रदायोंका जो इतिहास रहा है, वह बहुत कुछ ऊपरके बा विरुद्ध ही रहा है। अभी कुछ समय पूर्वके हिन्दू-मुसलमानोंके साम्प्र घोर रक्तपातको जाने दीजिए; उस समयसे पहलेके उस साम्प्र असहिष्णुताके वातावरणको स्मरण कीजिए, जब, विदेशी राज परतन्त्रताके रहनेपर भी, सभामंचोंसे हमारे धुरन्धर साम्प्रदायिक क दूसरे सम्प्रदायोंके, उनके प्रवर्तकोंके और उनकी धर्म-पुस्तकोंके स उनकी धज्जियाँ उड़ानेमें, लगे थे, और 'शास्त्रार्थों' तथा उनके 'आह्वानों'से आकाश गुंजायमान रहता था। सौभाग्यसे वह स्थि प्रायः नहीं रही है।

पवित्र कुम्भके मेलोंपर विभिन्न सम्प्रदायोंके महन्तों और अ सवारियोंके निकलनेपर संसारसे 'विरक्तों'के रक्तपात तककी क किसने न सुनी होंगी!

धर्मके नामपर साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता, पृथक्ताकी भावना, नेताओं-द्वारा समर्थनप्राप्त जाति-भेद और वर्णभेदकी भावना किस रूपमें हमारे वर्तमान सामाजिक जीवनमें व्याप्त हैं, इसके दो-चा निदर्शनोंको भी हम नीचे देते हैं।

साम्प्रदायिक तथा जातिगत और वर्णगत संकुचित भेद-भा वातावरणमें लिखे गये साहित्यको ही दिन-रात पढ़नेवाले लोगों यह स्वाभाविक है कि वे उस भेद-भावनाको अपने जीवनका चर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समझें। इसीलिए उनके द्वारा संचालित विद्यालयोंमें अब भी अध्यापकोंकी नियुक्ति और छात्रोंके प्रवेशमें उक्त संकीर्ण भेद-भावना प्रायः उग्र रूपमें पायी जाती है। प्रसिद्ध राजकीय संस्कृत महाविद्यालय भी इस महारोगसे प्रायः अछूते नहीं रहे हैं। तथाकथित शूद्र या अहिन्दूके प्रवेशकी तो बात ही क्या, उनमें जैन, बौद्ध, आर्यसमाजी आदि छात्रोंके प्रवेशपर भी, मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोंके नामपर, घोर आपत्ति की जाती रही है!

एक राजकीय संस्कृत महाविद्यालयमें तो एक बार माध्व सम्प्रदायकी गद्दीकी स्थापनापर भी विद्वन्मण्डलीने असन्तोष प्रकट किया था!

बड़े खेदकी बात है कि हमारी आधुनिक शिक्षा-संस्थाओंमें भी यह रोग पाया जाता है। एक बार एक प्रसिद्ध कॉलेजको हमें दिखाते हुए उसके प्रिन्सिपल महोदयने बड़े गर्वके साथ, निजी तौरपर, हमसे कहा था कि किसी-न-किसी तरह वे ऐसा प्रयत्न करते हैं कि जाति-विशेषके ही बालक अधिकसे अधिक उस कॉलेजमें प्रविष्ट हों। हमारे विश्वविद्यालयों तकमें इन संकीर्ण भेद-भावनाओंने प्रवेश कर लिया है, यह भी हमसे छिपा नहीं है।

इंग्लैण्डके स्कूलों और विश्वविद्यालयोंमें किसी भी देश और जातिके छात्र पढ़ सकते हैं; पर 'सार्वभौम वैदिक धर्म'के आदर्शपर स्थापित हमारे गुरुकुलोंमें अभीतक, अभारतीय तो क्या, सब भारतीय सम्प्रदायोंके छात्र भी प्रविष्ट नहीं हो सकते!

अपने नवीन राजनीतिक जीवनके चुनाव और 'ग्राम-पंचायत'-जैसे प्रयोगोंमें भी उक्त विषैले प्रभावको देखकर कभी-कभी बड़ी निराशा और आत्मग्लानिका अनुभव होता है।

उपर्युक्त संकीर्ण भावनाओंका उत्तरदायित्व बहुत कुछ हमारे प्राचीन और मध्यकालीन साहित्यपर है। इसलिए उस साहित्यकी भी थोड़ी-सी चर्चा यहाँ अप्रासंगिक न होगी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

'महाभाष्य'में एक सूत्रके उदाहरणके रूपमें दिये गये 'श्रमण-ब्राह्मण' का निर्देश हम प्रथम परिच्छेदमें कर चुके हैं।

"अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः" (पाणिनि-सूत्र ४।४।६०) से 'आस्तिक', 'नास्तिक' और 'दैष्टिक' शब्द सिद्ध होते हैं। टीकाकार के अनुसार इन विशुद्ध दार्शनिक शब्दोंका मूलमें साम्प्रदायिकतासे सम्बन्ध नहीं था। पर पीछेसे साम्प्रदायिक संघर्षके दिनोंसे, 'मनुस्मृति' "नास्तिको वेदनिन्दकः" (२।११) इस कथनके अनुसार, 'नास्तिक' शब्द बौद्ध, जैन आदिके लिए निन्दाके रूपमें रूढ-सा हो गया है, और शब्द-द्वारा हमारे दार्शनिक क्षेत्रमें भी साम्प्रदायिकताने चिरकालसे पा लिया है।

'मीमांसादर्शन' का महत्त्व वैदिकोंकी दृष्टिमें निर्विवाद है। उसीके प्रकरणकी ('मीमांसासूत्र' १।३।५-७) व्याख्या करते हुए माधवाचार्य 'जैमिनीयन्यायमालाविस्तर' में कहा है :

> शाक्योक्ताहिंसनं धर्मो न वा, धर्मः श्रुतत्वतः।
> न धर्मो नहि पूतं स्याद् गोक्षीरं श्वदृतौ धृतम्॥

अर्थात्, जैसे कुत्तेके चमड़ेकी थैली या कुप्पीमें रखा हुआ गौका ग्राह्य नहीं होता है, इसी तरह महात्मा बुद्ध आदि अवैदिकों-द्वारा पादित अहिंसा, अपरिग्रह आदिका उपदेश भी प्रामाणिक या आदर नहीं माना जा सकता।

सुप्रसिद्ध 'न्यायमञ्जरी' ग्रन्थका कर्ता जयन्तभट्ट बौद्ध आदि सम्प्रदायोंके लिए 'पापकाचारोपदेशी', 'वेदबाह्य' 'मोहप्रवृत्त'

---

१. तु० "परलोकोऽस्तीति यस्य मतिरस्ति स आस्तिकः। तद्विपरीतो नास्तिकः" (काशिका ४।४।६०)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शेषणोंका प्रयोग करके, अन्तमें कहता है[1] कि उनके अनुयायियोंका 'रके पतनम्' (= नरक-वास) ही होता है।

इसी प्रकार, वाचस्पतिमिश्र-जैसे परम-विद्वान्ने 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में द्ध, जैन आदि सम्प्रदायोंके मान्य ग्रन्थोंको 'आगमाभास' कहते हुए, उनके ए 'म्लेच्छ', 'पुरुषापसद', 'पशुप्राय'-जैसे अपशब्दोंका प्रयोग किया है[2]।

दार्शनिक क्षेत्रमें यह साम्प्रदायिक असहिष्णुताकी प्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते यं 'आस्तिक' कहलानेवाले दर्शनोंमें भी परस्पर दृष्टिगोचर होती है। प्रसिद्ध विद्वान् अप्पय दीक्षितका 'मध्वतन्त्रमुखमर्दन' और उसपर उनकी नी टीका 'मध्वमतविध्वंसन' इसी प्रवृत्तिके निदर्शन हैं।

चौदहवीं ईसवी शताब्दीके परम प्रसिद्ध विद्वान् माधवाचार्य-द्वारा मित 'शंकरदिग्विजय'-जैसे ग्रन्थमें श्री शंकराचार्य और मण्डनमिश्रके स्पर शास्त्रार्थके वर्णनमें साम्प्रदायिक असहिष्णुताके साथ-साथ अशोभन वोंका जो प्रदर्शन किया गया है, वह अक्षम्यताकी सीमा तक पहुँचा ा प्रतीत होता है।[3]

हमारे पुराणों-जैसे प्राचीन धार्मिक साहित्यमें भी जब साम्प्रदायिक हिष्णुताकी भावना यत्र-तत्र पायी जाती है, तब और साहित्यका तो ना ही क्या! पुराणोंसे शैवों-द्वारा वैष्णवोंकी और वैष्णवों-द्वारा शैवोंकी दाके उदाहरण हम पहले दिखा चुके हैं। एक ही महामुनि व्यास-द्वारा

---

१. देखिए 'न्यायमञ्जरी'का प्रमाण-प्रकरण (पृ० २४२–३, वाराणसीका १९३६ का संस्करण)।

२. देखिए–"...शाक्यभिक्षुनिर्ग्रन्थकसंसारमोचकादीनामागमाभासाः परिहृता भवन्ति।...एतेषां...कैश्चिदेव म्लेच्छादिभिः पुरुषापसदैः पशुप्रायैः परिग्रहाद्...।" (सांख्यतत्त्वकौमुदी ५)

३. तु० "कन्थां वहसि दुर्बुद्धे गर्दभेनापि दुर्वहाम्। शिखायज्ञोपवीताभ्यां कस्ते भारो भविष्यति॥", "यासां स्तन्यं त्वया पीतं यासां जातोऽसि योनितः। तासु मूर्खतम स्त्रीषु पशुवद्रमसे कथम्॥" (८।२०, २५) इत्यादि।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

संकलित कहे जानेवाले पुराणोंमें यह परस्पर विरोधकी भावना कैसे पायी जाती है, विद्वानोंके लिए यह एक विवेचनीय विषय है।

जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदायोंका साहित्य भी इस साम्प्र असहिष्णुताकी भावनासे खाली नहीं है।

चिर-परम्परासे प्राप्त इस साम्प्रदायिक असहिष्णुताका प्रभाव समाजमें अब भी किसी-न-किसी रूपमें पाया जाता है। इसी समन्वयात्मक भारतीयताकी सजीव भावनासे अभी हम बहुत दूर है

भारतीय संस्कृतिकी अन्तरात्मा

भारतीय संस्कृतिकी अन्तरात्मा उक्त साम्प्रदायिक विद्वेषकी ऊपर ही रही है। वैदिक समयसे लेकर अबतक उसने समय-समन्वयके लिए बराबर प्रयत्न किया है। जहाँ वैदिक मन्त्रोंमें हमें-

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

(यजु०

(अर्थात्, अग्नि, आदित्य, वायु, प्रजापति आदि देवता वास्तवमें मूलतत्त्वकी विभूतियाँ हैं) ऐसे विचार मिलते हैं, वहाँ 'मनुस्मृ स्पष्टतया कहती है,—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

(१२

अर्थात्, अग्नि, प्रजापति, इन्द्र आदि नामोंसे वास्तवमें एक ही मू कहा जाता है।

हमारे इतिहासके मध्यकालमें भी तत्त्व-विचारकोंने

एकस्य कस्यचिदशेषजगत्प्रसूति-
हेतोरनादिपुरुषस्य महाविभूतेः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सृष्टिस्थितिप्रलयकार्यविभागयोगाद्
ब्रह्मेति विष्णुरिति रुद्र इति प्रतीतिः ॥[1]

अर्थात्, एक ही अनादि पुरुषको सृष्टि, स्थिति और प्रलयके कार्यभेदके
ारण ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नामसे कहा जाता है), तथा

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥
(हनुमन्नाटक १।३)

अर्थात्, शैव, वेदान्ती, बौद्ध, जैन आदि शिव, ब्रह्म, बुद्ध, अर्हन् आदिके
पमें एक ही तत्त्वकी उपासना करते हैं) ऐसे सुन्दर और हृदयाकर्षक
ब्दोंमें जनतामें समन्वयात्मक भावनाको जगानेका प्रयत्न किया था ।

बुद्ध भगवान्की हमारे प्रमुख अवतारोंमें गणना भी [2]उक्त प्रवृत्तिका
क महत्त्वपूर्ण उदाहरण है ।

हमारे इतिहासके पिछले कालमें लोक-वन्दनीय महात्मा कबीर और
ानक-जैसे सन्तोंने मुसलमानोंको भी सम्मिलित करके भारतीय संस्कृतिमें
त्यन्त व्यापक समन्वय-भावनाकी जो धारा बहायी थी, वह हमारी
स्कृतिका सर्वोत्कृष्ट निदर्शन है । वर्तमान भारतको, न केवल अपने ही
नए, अपितु संसारके कल्याणके लिए भी, ऐसे ही सन्तोंकी आवश्य-
ता है ।

ऐसा होनेपर भी, साम्प्रदायिक नेताओंने स्वार्थनिष्ठ आर्थिक और
जनीतिक कारणोंके आधारपर, साम्प्रदायिक विरोध और असहिष्णुताको

---

१. 'न्यायमञ्जरी' (१९३६ संस्करण), पृ० २४२ ।

२. तु० "निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम् । सदयहृदय ! दर्शितपशुघातम् । केशव ! धृतबुद्धशरीर ! जय जगदीश ! हरे !" (गीतगोविन्द १।९) । तथा 'भागवत' (१।३।२४; ६।८।१९) ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

प्रोत्साहन देने और बढ़ानेका सदासे ही काम किया है। इस जितनी सत्यता आज है, उतनी ही हमारे प्राचीन और मध्यकालके हासमें भी रही है।

हमारा विश्वास है कि समन्वयात्मक भारतीय संस्कृतिकी आधारपर ही हम अपनी परम्परागत साम्प्रदायिक संकीर्ण भावना दूर करके सम्प्रदायोंमें परस्पर समादर, सहिष्णुता और 'पूरकता' की की स्थापना कर सकते हैं।

भारतीय संस्कृतिकी भावनाका मूर्त-रूप

समन्वयात्मक भारतीय संस्कृतिकी भावनाको जनतामें बद्धमूल और मूर्त-रूप देनेके लिए आवश्यक है कि हम --

१. विभिन्न सम्प्रदायोंके उत्कृष्ट साहित्यको भारतीय संस्कृतिकी च्छिन्न धारासे सम्बद्ध मानते हुए, उसे अपनी राष्ट्रीय सम्पत्ति और दाय समझें और उससे लाभ उठायें;

२. उनके अपने-अपने महापुरुषोंको सबका पूज्य और मान्य समझें

३. अपने विचारोंको साम्प्रदायिक पारिभाषिकतासे निकालकर, वास्तविक अभिप्राय और लक्ष्यको समझनेका यत्न करें। दूसरे प्राचीन ग्रन्थोंके वचनोंके शब्दानुवादके स्थानमें भावानुवादको कता है।

कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि उपर्युक्त उपायोंके अवलम्बनसे एक ओर हमारी अपने-अपने सम्प्रदायमें श्रद्धा बढ़ेगी, वहाँ दूसरी वर्तमान साम्प्रदायिक संकीर्णताके हटनेसे सम्प्रदायोंमें परस्पर समादर और सहिष्णुताकी भावनाकी वृद्धि भी होगी। इसी प्रकार समष्टयात्मक भारतीय संस्कृतिकी भावना बद्धमूल हो सकती है।

समष्टयात्मक भारतीय संस्कृतिकी भावनाके उद्बोधनके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आवश्यक उपाय हमने ऊपर दिखाये हैं, उनकी कुछ व्याख्याकी अपेक्षा होनेसे उसे हम संक्षेपमें नीचे देते हैं –

१. विभिन्न सम्प्रदायोंके उत्कृष्ट साहित्यका अध्ययन

विभिन्न सम्प्रदायोंके उत्कृष्ट साहित्यको, भारतीय संस्कृतिकी अविच्छिन्न परम्परासे सम्बद्ध मानकर ही, पढ़नेसे जहाँ एक ओर हम भारतीय संस्कृतिकी धाराके प्रवाह और स्वरूपको जान सकते हैं, वहाँ दूसरी ओर उन सम्प्रदायोंकी वास्तविक पृष्ठभूमिको और भारतीय संस्कृतिमें उनकी देन, स्थान और उपयोगिताको भी ठीक-ठीक समझ सकते हैं।

उदाहरणार्थ, बौद्ध और जैन सम्प्रदायोंके प्रभावको समझे बिना हम ब्राह्मसूत्रों, श्रौतसूत्रों आदिमें वर्णित वैदिक धर्मके कालान्तरमें होनेवाले पौराणिक धर्मके रूपमें महान् परिवर्तनको समझ ही नहीं सकते। सिद्धों और सन्तोंके साहित्यके परिचयके बिना शूद्र कहलानेवाली जातियोंके सम्बन्धमें होनेवाले क्रमिक दृष्टि-परिवर्तनको नहीं समझा जा सकता। भारतवर्षमें इसलामके प्रभावको समझे बिना महात्मा कबीर और नानकके स्वरूपको और सिख सम्प्रदायके उत्थानको हम नहीं समझ सकते। इसी तरह क्रिश्चियन धर्मके प्रभावको समझे बिना हिन्दू धर्मके आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज आदि नवीन आन्दोलनोंको तथा रामकृष्ण-सेवाश्रम-जैसी संस्थाके उदयको कैसे समझा जा सकता है ?

भारतीय संस्कृतिकी प्रगतिशील अविच्छिन्न परम्पराकी दिव्य-दृष्टिसे ही हमें भारतीय संस्कृतिके विकासमें व्यास, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शंकर, कबीर आदि सन्त, दयानन्द और गान्धी आदि अवतारी महापुरुषोंकी देन और महत्ताका स्पष्ट अनुभव हो सकता है।

इसके अतिरिक्त, सबसे बड़ा लाभ तो, सांस्कृतिक दृष्टिसे, यह होगा कि हम अशोभन संकीर्णता और अनुदारताके वातावरणसे अपनेको पृथक् करके, सच्चे सुसंस्कृत भारतीयके रूपमें भारतके समस्त उत्कृष्ट तत्त्व-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

विचारकों और उदात्त-चरित अवतारी महापुरुषोंसे अपना साक्षात् जोड़ते हुए, उनके उत्कृष्ट विचारों और कल्याणप्रद उपदेशोंसे लाभ सकेंगे। इस प्रकार भारतका प्रत्येक सुशिक्षित जन भारतके लम्बे इति से, उसके समस्त उत्कृष्ट साहित्यसे और महान् व्यक्तियोंसे अपने सम्ब जोड़कर अभूतपूर्व गौरव और गर्वका अनुभव कर सकता है।

युरॅपके लोग क्रिश्चियन धर्मको मानते हुए भी, उत्कृष्ट ग्रीक लैटिन साहित्यका, घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्बन्धके कारण, श्रद्धा और नि साथ अध्ययन करते हैं। हम लोग भी विदेशी उत्कृष्ट साहित्यके अध्य गर्वका अनुभव करते हैं। अनेक विदेशी विद्वानोंने आजीवन घोर परि और तपस्या करके हमारे विभिन्न सम्प्रदायोंके साहित्यका सादर अ किया है। इसपर भी हम भारतीय अपनी साम्प्रदायिक संकीर्ण मनोवृ कारण अपने ही देशके महान् व्यक्तियोंके उदात्त विचारोंसे अपनेको व रखते रहे हैं। हमारे पण्डित जैन, बौद्ध और सन्त साहित्यको महत्त्व देते। सुशिक्षित मुसलमान भी गीता और उपनिषदोंको नहीं पढ़ते।

अन्य सम्प्रदायोंके साहित्यका पढ़ना तो दूर रहा, इधर साम्प्र संकीर्णताके कारण विभिन्न सम्प्रदायोंके साहित्यकी निन्दा और खण्डन अधिक ध्यान दिया गया है।

२. विभिन्न सम्प्रदायोंके महापुरुषोंका समादर

जो कुछ ऊपर विभिन्न सम्प्रदायोंके उत्कृष्ट साहित्यके विषयमें है, वह बहुत कुछ उनके महापुरुषोंके विषयमें भी ठीक है।

साम्प्रदायिक संकीर्णताके कारण भारतकी महान् विभूतियोंके हमने घोर अन्याय किया है, न केवल भिन्न सम्प्रदायवालोंने ही, उनके अनुयायियोंने भी। भिन्न सम्प्रदायवालोंकी उनके प्रति उपे एक मुख्य कारण यह रहा है कि साम्प्रदायिकोंने अपने महान् व्यक्ति अपनी ही सीमामें 'क़ैद' कर रखा है। संसारमें बड़ेसे बड़े पुरुषोंका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

र ग्रन्थोंकी उपयोगिता प्रायः इसीलिए कम हो जाती है, क्योंकि उनको नके ही माननेवालोंने तत्तत् सम्प्रदायकी चहारदीवारीके अन्दर बन्द कर या होता है।

इसलिए भारतीयताके नाते हम सबका कर्त्तव्य है कि हम भारतकी हान् विभूतियोंको साम्प्रदायिकताके संकीर्ण वातावरणसे निकालकर, वीन भारतके स्वच्छ जीवनप्रद खुले असाम्प्रदायिक वातावरणमें बिठाकर, न सबमें ममत्वका अनुभव करें। वास्तवमें कृष्ण, बुद्ध, महावीर और न्धी-जैसे महापुरुष, किसी सम्प्रदायके तो क्या, किसी देश-विशेषके भी हीं होते। वे तो संसार-भरके होते हैं। मानव-मात्रका कल्याण उनका य होता है। उनका सन्देश सार्वभौम होता है।

साम्प्रदायिक पारिभाषिकताका दुष्प्रभाव

साम्प्रदायिक पारिभाषिकतासे हमारा अभिप्राय रूढ़िवादकी उस न्धप्रवृत्तिसे है जिसके कारण मनुष्य अपने साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके वचनोंका र रूढ़ियोंका, उनके मौलिक अभिप्रायको समझे बिना, केवल चेतनाहीन न्त्रिक दृष्टिसे, अनुसरण करना चाहता है। किसी भी विधि-विधानकी हत्ता उसके मौलिक अभिप्रायमें रहती है, यह न समझकर वह उसके शुद्ध शाब्दिक अर्थको ही महत्त्व देता है; भावार्थको नहीं। इसीलिए लमें एक ही अभिप्रायसे प्रेरित होनेपर भी, अनेक परिस्थितियोंके कारण ह्य स्वरूपमें कुछ भी भिन्नता रखनेवाले विधि-विधानका वह विरोधी न जाता है।

उदाहरणार्थ, किसी देवताकी उपासनामें और उपासना-गृह बनानेमें नुष्योंकी प्रवृत्तिका एक ही मौलिक अभिप्राय हो सकता है। पर अनेका-क कारणोंसे इनके प्रकारमें भेद होना स्वाभाविक है। विचारशील व्यक्ति-लिए प्रकार-भेद गौण और मौलिक अभिप्राय ही मुख्य होता है।[1]

१. तु० "उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

साम्प्रदायिक मनोवृत्तिकी अवस्था इसके प्रतिकूल ही होती है।

भारत-जैसे महान् देशमें, जहाँ स्वभावतः अनेकानेक सम्प्रदाय उपर्युक्त साम्प्रदायिक पारिभाषिकतासे केवल हानि ही होती है। यहाँ विभिन्न सम्प्रदायोंकी रूढ़ियोंको, नैतिकता और मानवहितकी परि अन्दर, सहानुभूति और सहिष्णुतासे समझनेकी विशेष आवश्यकता है।

उपर्युक्त पारिभाषिकताको छोड़नेका अभिप्राय यह भी है कि भार संस्कृतिके वर्णाश्रमधर्म-जैसे वैज्ञानिक विचारोंका, या उपनयन, वेदार जैसे उपयोगी संस्कारोंका महत्त्व हम तभी बता सकेंगे, जब हम रूढार्थको छोड़कर, इनके मौलिक अभिप्रायको संसार और राष्ट्रके सा रखेंगे। दूसरे शब्दोंमें, हमको अपने सिद्धान्तोंकी, मानव-हितकी दृष्टिसे कि अपने-अपने सम्प्रदायकी दृष्टिसे, उदार व्याख्या करनी होगी।

उदाहरणार्थ, वानप्रस्थाश्रम आजकल एक लुप्त-प्राय आश्रम वनोंके न रहनेसे वह अपने शाब्दिक अर्थमें पुनर्जीवित भी नहीं हो सक पर गृहस्थाश्रमके उत्तरदायित्वके पश्चात् मनुष्यको परार्थ जीवन व करना चाहिए—इस भावार्थको लेकर भारतीय राष्ट्रके पुनर्निर्माणमें प्रकारकी सेवा हमारे नवीन युगके वानप्रस्थी कर सकते हैं। प्र सम्प्रदाय और समाज इसका स्वागत करेगा।

ग्रन्थों और शास्त्रोंकी मान्यता अर्थदृष्ट्या ही होती है न कि दृष्ट्या, ऐसा मान लेनेपर, सम्प्रदाय-भेदकी तरह, शास्त्र-भेद भी स दृष्टि-मूलक भारतीय संस्कृतिकी भावनामें बाधक न हो सकेगा, और भा के विभिन्न सम्प्रदाय एक ही संस्कृतिकी सजीव भावनाको अपना स कोई किसीको न तो नास्तिक कहेगा, न म्लेच्छ, और न काफ़िर।

इस ग्रन्थकी विशेषता

भूमिकाके रूपमें लिखित, पिछले परिच्छेदोंसे और इस परि ऊपरके लेखसे स्पष्ट हो गया होगा कि प्रकृत ग्रन्थकी अपनी एक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विशेषता यह है कि भारतीय संस्कृतिके विषयमें हमारा दृष्टिकोण और लक्ष्य, दोनों ही दूसरे लेखकोंसे बहुत-कुछ भिन्न हैं।

भारतीय संस्कृतिके विषयमें अबतकके लेखकोंको प्रायेण तीन वर्गोंमें बाँटा जा सकता है :

पहला वर्ग तो संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टि रखनेवाले उन लोगोंका है, जिनके सामने प्रगतिशील समष्टयात्मक भारतीय संस्कृति-जैसी कोई वस्तु या भावना रह ही नहीं सकती। विभिन्न भारतीय सम्प्रदायोंमें भी वे पारस्परिक पूरकताके स्थानमें समानान्तरता और प्रतिद्वन्द्विताकी भावनाको ही सामने रखकर कुछ लिखनेमें प्रवृत्त होते हैं। अपने ही सम्प्रदायको सर्वोत्कृष्ट और सर्वांशमें सत्य माननेके कारण, वे दूसरे सम्प्रदायोंके विषयमें न्याय्य दृष्टिसे काम ले ही नहीं सकते।

दूसरे वर्गके लेखक प्रायः वे विदेशी विद्वान् हैं, जिन्होंने बहुत कुछ अपने राजनीतिक स्वार्थ या अभिनिवेशके कारण, जाने या अनजाने, भारतीय सम्प्रदायोंकी ऊपरी प्रतिद्वन्द्वितापर ही अधिक बल दिया है। ऐसे ही लेखकोंके प्रभावके कारण हमारे जातीय जीवनमें आर्य-अनार्य, वैदिक-अवैदिक, ब्राह्मण-अब्राह्मण, वर्णाश्रमी-वर्णाश्रमेतर, हिन्दू-अहिन्दू, हिन्दू-मुसलमान, हिन्दू-सिख-जैसी प्रतिद्वन्द्वी भावनाओंने जड़ पकड़कर नयी समस्याओंको खड़ा कर दिया है।

तीसरे वर्गमें उन भारतीय विद्वान् लेखकोंका स्थान है, जो भारतीय चिर-परम्परासे प्राप्त जाति, वर्ण, या सम्प्रदायमूलक गहरे अभिनिवेशके कारण, जनताके वास्तविक जीवनके प्रवाहकी उपेक्षा करके, बहुत कुछ तथाकथित 'शास्त्रीय दृष्टि' को ही सामने रखकर भारतीय संस्कृतिकी एकदेशी व्याख्यामें प्रवृत्त होते हैं।

केवल शास्त्रोंमें प्रतिपादित, पर व्यावहारिक जीवनसे असम्पृक्त, संस्कृतिको संस्कृति कहा भी जा सकता है या नहीं, इसमें हमें सन्देह है। व्यवहार-पक्षकी उपेक्षा करके, विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टिसे किसी भी संस्कृतिका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

ऐसा मनोमोहक चित्र खींचा जा सकता है, जिसका अस्तित्व, किसी दि लोकमें भले ही हो, इस मर्त्यलोकमें तो नहीं हो सकता।

फिर, शास्त्रीय अभिनिवेशवाला लेखक विभिन्न सम्प्रदायोंका कहाँ न्यायपूर्ण विचार कर सकता है ?

हम चाहते हैं कि प्रकृत ग्रन्थमें हम, अपनेको संकीर्ण साम्प्रदा भावनासे पृथक् रखते हुए, प्रगतिशील भारतीय संस्कृतिके अविच्छिन्न प्र और विकासको इस प्रकार दिखा सकें, जिससे –

१. एक समन्वयात्मक भारतीय संस्कृतिके आधारपर हमारे भा तीय राष्ट्रको दृढ़ता और पुष्टि प्राप्त हो सके;

२. भारतीय संस्कृतिकी प्रगतिमें, वास्तविकताके आधार विभिन्न सम्प्रदायोंकी देन और साहाय्यको दिखलाते हुए उनमें प्रतिद्वन्द्विताके स्थानमें पूरकताकी भावनाका वि कर सकें;

३. सम्प्रदायोंमें नैतिकता, नागरिकता और मानवताकी वृ सहयोगके साथ-साथ, परस्पर समादर और सद्भावनाकी वृद्धि हो सके;

४. सम्प्रदायोंके स्वरूप और प्रभावके निरूपणमें हम पूर्ण स वना और न्याय्य-बुद्धिसे काम ले सकें। इस सम्बन्धमें जो हम लिखें, उसका आधार, केवल पुस्तकाध्ययन न हो यथासम्भव उनके व्यावहारिक जीवनका आन्तरिक अवेक्षण हो। दूसरे शब्दोंमें, शास्त्रीय और व्यावहारिक, दोनों प हम साथ लेकर ही चलना चाहते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय संस्कृतिकी
वैदिक धारा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पाँचवाँ परिच्छेद

वैदिक वाङ्मयकी रूपरेखा

अवतरणिका

पिछले परिच्छेदोंमें हमने, भूमिकाके रूपमें, भारतीय संस्कृतिके सम्बन्धमें कुछ मौलिक सिद्धान्तोंकी व्याख्या की है। यहाँसे हम अपने मुख्य विषय – भारतीय संस्कृतिकी प्रगति और विकासकी चर्चा आरम्भ करना चाहते हैं। स्पष्टतः इसके लिए भारतीय संस्कृतिकी प्रगतिमें सहायक विभिन्न विचारधाराओंके, यथासम्भव उनके कालक्रमके अनुसार, वर्णन और विवेचनकी आवश्यकता है।

प्रत्येक धाराके वर्णन और विवेचनमें हम यही क्रम रखना चाहते हैं कि उसकी साहित्यिक भूमिकाकी रूपरेखाको दिखलाते हुए, उसके प्रारम्भ, स्वरूप, गुणपक्ष, दोषपक्ष, भारतीय संस्कृतिके लिए उसकी देन, कालान्तर-में उसका शैथिल्य अथवा ह्रास, और अन्तमें उसकी वर्तमानकालीन आवश्यकताओंका विचार करें।

उन धाराओंमें परस्पर अपेक्षाकृत किसका कितना महत्त्व है, इस विचारमें यथासम्भव हम नहीं पड़ना चाहते; क्योंकि जैसा हम पहले कह चुके हैं, इस ग्रन्थमें हम, विभिन्न साम्प्रदायिक विचारधाराओंके पारस्परिक तारतम्य या प्रतिद्वन्द्विताके स्थानमें, मुख्यतः भारतीय संस्कृतिकी प्रगतिमें उनकी देन और साहाय्यको ही दिखाना चाहते हैं। राष्ट्रमें एक समष्ट्यात्मक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

भारतीय संस्कृतिकी भावनाका विकास और पोषण इसी प्रका
सकता है।

सबसे पहले हम वैदिक धाराका विचार करेंगे।

वैदिक धाराका महत्त्व

भारतीय संस्कृतिके विकासमें अपनी प्राचीनता और अपने ब
तथा व्यापक प्रभावके कारण वैदिक धाराका निर्विवाद रूपसे अत्य
महत्त्व है।

न केवल अपने सुग्रथित, सुरक्षित और विस्तृत वाङ्मयकी अतिप्रा
परम्पराके कारण ही, न केवल अपनी भाषा और वाङ्मयके अ
व्यापक प्रभावके कारण ही, अपितु भारतके धार्मिक, सामाजिक
सांस्कृतिक जीवनमें अपने शाश्वतिक प्रभावके कारण भी, भा
संस्कृतिमें वैदिक धाराका सदासे अत्यधिक महत्त्व रहा है और ब
रहेगा।

सितासिते सरिते यत्र संगथे
तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति[1]। (ऋग्वेद-खिल)

इस ऋचाके अनुसार अपने स्वच्छन्द प्रवाहसे बहनेवाली गंगा
ही तरह स्वच्छन्द-प्रवाहिणी यमुनाके संगमके अनन्तर भी गंगा ही कह
है, और आगे चलकर अन्य धाराओंको आत्मसात् करती हुई भी
नामको नहीं छोड़ती। इसी तरह किसी प्राचीनकालमें प्राग्वैदिक धा
धाराओंसे समन्वित होकर भी, और उत्तरकालमें अन्य नवीन धारा

---

१. अर्थात्, सित असित, श्वेत और कृष्ण, दोनों धाराएँ जहाँ संगत हो
वहाँ स्नान करनेवाले द्युलोकको पहुँचते हैं। [तु० कालिदास, रघुवं
५४-५८ (गंगा-यमुनाके संगमका लोकोत्तर वर्णन)]। हमें तो यहाँ
और प्राग्वैदिक, दोनों संस्कृतियोंके लोक-कल्याणकारी समन्व
ध्वनि सुनाई देती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भावित होकर भी, वैदिक धारा अपने ही नामसे चली आ रही है। यही सकी अद्वितीय महत्ता और विशेषता है। इसी अभिप्रायसे कोई-कोई भारतीय संस्कृति'के स्थानमें 'वैदिक संस्कृति' पदका प्रयोग करना पसन्द करते हैं। पर हम 'भारतीय संस्कृति' पदके ही क्यों पक्षपाती हैं, इसका केत हम पहले कर चुके हैं।

कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि इस प्रसंगमें हम वैदिक धाराका र्णन यथासम्भव उसके अपने विशुद्ध मौलिक रूपकी दृष्टिसे ही करना ाहते हैं।

प्रथम परिच्छेदमें हमने वैदिक संस्कृतिसे प्राचीनतर या प्राग्वैदिक ाराके अस्तित्वकी ओर संकेत किया है। ऐसी स्थितिमें हमें भारतीय स्कृतिके विकासकी चर्चाका आरम्भ प्राग्वैदिक धारासे ही करना ाहिए। ऐसा न करनेका कारण यही है कि अभीतक प्राग्वैदिक धाराका रूप उतना स्पष्ट और व्यक्त नहीं है, जितना कि वैदिक धारा या उसकी त्तरवर्ती धाराओंका है। इसी कारणसे भारतीय संस्कृतिके विकासकी र्चाका प्रारम्भ हम वैदिक धारासे ही कर रहे हैं। व्यक्त धाराओंके वर्णन-अनन्तर उस अव्यक्त धाराका वर्णन भी हम यथास्थान करेंगे।

दिक धाराकी साहित्यिक भूमिका

वैदिक वाङ्मयको हम चार भागोंमें विभाजित कर सकते हैं : वेद, ह्मण, वेदांग और वैदिक परिशिष्ट। नीचे, संक्षेपमें ही, हम इनका मशः वर्णन करेंगे।

वेद

वैदिक धाराका उद्गम वेदसे है, उसी तरह, जिस तरह गंगाका गम गंगोत्तरीसे। सांस्कृतिक दृष्टिसे वेदका महत्त्व हम आगे दिखायेंगे; भी भारतीय परम्पराकी दृष्टिसे वेदका कितना महत्त्व है, इस विषयमें ाँ दो-चार प्रमाणोंका देना अप्रासंगिक न होगा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

'मनुस्मृति'में वेदके विषयमें कहा है :

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् (२।६)।[1]

सर्वज्ञानमयो हि सः (२।७)।

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।[2]

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥ (१२।९७)

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते। (२।१६६)

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ (२।१६८)

अर्थात्, वेद धर्मका मूल है और समस्त ज्ञानसे युक्त है। चारों वर्ण, लोक, चारों आश्रम, भूत, वर्तमान और भविष्य, इन सबका परिज्ञान होता है। विप्रके लिए वेदका अभ्यास ही श्रेष्ठ तप माना जाता है। द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) वेदको बिना पढ़े अन्य विषयमें करता है, वह जीता ही अपने वंशके सहित शूद्रत्वको प्राप्त हो जाता

ऊपरके प्रमाणोंसे, वैदिक धाराकी दृष्टिसे, वेदका कितना महत्त्व यह स्पष्ट है।

वेदके विषयमें सबसे पहला प्रश्न यह है कि वेद किसको कहते इस विषयमें तीन दृष्टियाँ हो सकती हैं :

पहली दृष्टि यह है कि 'वेद' शब्द 'विद ज्ञाने' धातुसे बना है इसका मौलिक अर्थ 'ज्ञान' ही है। 'विद्या' शब्द भी इसी धातुसे हैं। इसलिए मूलमें 'विद्या' और 'वेद' शब्द समानार्थक ही हैं शब्दका इस सामान्य अर्थमें प्रयोग 'आयुर्वेद', 'धनुर्वेद' आदि प्राचीन कालसे चला आया है। इसी प्रकार आश्वलायन-श्रौतसूत्र (

---

१. तु० "वेदाः प्रमाणं प्रथमं स्वत एव ततः परम्। स्मृतयश्च पुराणानि मुनिपुङ्गवाः!" (सूतसंहिता १।१।३५)।

२. तु० "तथा (=श्रुत्या) वर्णाश्रमाचारः प्रवृत्तो वेदविदि (सूतसंहिता १।१।४९)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में अनेक विद्याओंके साथ 'वेद' शब्दका प्रयोग किया गया है[1]।

दूसरी दृष्टिके अनुसार 'वेद' शब्दका सामान्य 'ज्ञान' के स्थानमें विशिष्ट पारिभाषिक अर्थमें ही प्रयोग होता है। "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" (आपस्तम्ब-यज्ञपरिभाषासूत्र ३१), (अर्थात्, मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंको 'वेद' शब्दसे कहा जाता है) इस प्राचीन परिभाषाके अनुसार मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग दोनोंके लिए समान रूपसे 'वेद' शब्दका प्रयोग चिरकालसे भारतीय साहित्यिक परम्परामें चला आया है।

तीसरी दृष्टि दूसरी दृष्टिसे भी अधिक संकुचित है। उसके अनुसार वेदके मन्त्र-भाग (या संहिता-भाग) को ही 'वेद' कहना चाहिए।

इस विषयमें हमारा अपना मत यह है कि प्रारम्भमें 'वेद' शब्द वास्तवमें सामान्येन ज्ञान या विद्याके अर्थमें ही प्रयुक्त होता था[2]। कालान्तरमें अनेक कारणोंसे यह प्राचीन परम्परासे प्राप्त मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वैदिक साहित्यके लिए ही प्रयुक्त होने लगा। परन्तु मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भागमें परस्पर विभिन्न-प्रकारता है। ब्राह्मण-भाग मन्त्र-भागके पीछे-पीछे चलता है। इसलिए प्रतिपादनकी सुविधाकी दृष्टिसे हम भी 'वेद' शब्दका प्रयोग मन्त्र-भाग (या संहिता-भाग) के लिए ही करना उचित समझते हैं।

वेदके ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, ये चार भाग माने

---

१. देखिए—"यजुर्वेदो वेदः।", "अथर्वाणो वेदः।", "असुरविद्या वेदः।", "पुराणविद्या वेदः।", "इतिहासो वेदः।" इसी प्रसंगमें शतपथ-ब्राह्मण (१३।४।३।६-१४) को भी देखिए। गोपथ-ब्राह्मण (१।१।१०) "सर्पवेद", "पिशाचवेद", "असुरवेद", "इतिहासवेद" तथा "पुराणवेद"का उल्लेख करता है।

२. एक बार एक चेकोस्लोवैक सज्जनने हमसे कहा था कि उनकी भाषामें आजकल भी 'वेद' शब्द प्रयुक्त होता है और उसका अर्थ है 'साइंस' या विज्ञान।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

जाते हैं। इनके लिए ही ऋक्संहिता, यजुःसंहिता, सामसंहिता और अथर्वसंहिता ये नाम प्रसिद्ध हैं। इनमें-से प्रत्येकका कुछ विस्तारसे वर्णन आगे दिया जायेगा।

पौराणिक परम्पराके अनुसार मूलमें एक ही वेद था। उसीके कृष्णद्वैपायन वेद-व्यासने याज्ञिक दृष्टिसे अध्ययनाध्यापन-परम्पराकी सुविधाके लिए उपर्युक्त चार विभाग किये थे[1]।

वेदोंके लिए 'त्रयी' शब्दका व्यवहार

ऊपर वेदके चार भागोंका उल्लेख किया गया है। परन्तु वेदोंके लिए 'त्रयी' शब्दका प्रयोग भी अत्यन्त प्राचीन कालसे चला आया है। शतपथ आदि ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें तथा मनुस्मृति, गीता आदिमें[2] 'त्रयी' और 'त्रयं ब्रह्म' का प्रयोग प्रायः पाया जाता है। इन शब्दोंका अर्थ ऐसे स्थलोंमें ऋक्, यजुः और साम, यही किया जाता है। इस प्रकार अथर्ववेदका उल्लेख छूट जाता है। इसी आधारपर यह विवाद प्राचीन कालसे[3] आ रहा है कि अथर्ववेदको भी वेद मानना चाहिए या नहीं।

इस विवादमें हम यहाँ नहीं पड़ना चाहते। यहाँ केवल यह मानने से काम चल सकता है कि जहाँ-जहाँ चार वेदोंका उल्लेख है, वहाँ संहिता रूपमें चार संहिताओंसे अभिप्राय है, और 'त्रयी' या 'त्रयं ब्रह्म' (=त्रयी वेद) से अभिप्राय, संहिताओंके स्थानमें, ऋक् (=पद्यात्मक वेद

---

१. देखिए–"व्यदधाद् यज्ञसंतत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्। ऋग्यजुःसामाथर्ववेदाश्चत्वार उद्धृताः।" (भागवत १।४।१९-२०)। "चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत् प्रभुः।" (विष्णुपुराण ३।४।२)

२. देखिए – "त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि" (शतपथब्राह्मण ४।[illegible]) "त्रयं ब्रह्म सनातनम्...ऋग्यजुःसामलक्षणम्।" (मनुस्मृति १।२३)।

३. देखिए – 'न्यायमञ्जरी'का प्रमाणप्रकरण (पृ० २३२, बनारसका [illegible] संस्करण)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रचना), यजुः (= गद्यात्मक वैदिकी रचना) और साम (= गीतात्मक वैदिकी रचना) रूपसे वेद-मन्त्रोंकी तीन प्रकारकी रचनाका है। वास्तवमें ऋक्, यजुः और सामका शास्त्रीय अर्थ यही है[1]। चारों वेदोंके मन्त्रोंका अन्तर्भाव उक्त तीन प्रकारकी रचनाओंमें हो जाता है। इसीलिए शतपथ-ब्राह्मण आदिमें 'त्रयी' के साथ 'विद्या' शब्दका भी प्रयोग प्रायः किया गया है। इस प्रकार 'वेदत्रयी' और 'वेदचतुष्टय' शब्दोंमें केवल दृष्टिका भेद रह जाता है; वास्तविक विरोध नहीं।

तो भी हो सकता है कि त्रयीत्वकी कल्पना प्राचीनतर हो।

गीतामें 'त्रयीधर्म' इस शब्द-समुदायका प्रयोग हुआ है।[2] वहाँ त्रयी-धर्मसे अभिप्राय स्पष्टतया ऋग्वेद, यजुर्वेद ओर सामवेदसे साध्य वैदिक श्रौत यज्ञोंसे है। जैसा हम नीचे अथर्ववेदके सम्बन्धमें बतलायेंगे, उस वेद-का सम्बन्ध श्रौत यज्ञोंसे नहीं है। इसलिए, ऐतिहासिक दृष्टिसे, उक्त तीनों वेदों (= त्रयी) के पश्चात् ही अथर्ववेदका विकास हुआ, ऐसा मानना पड़ेगा। यह विकास क्योंकर और कैसे हुआ, इसकी व्याख्या हम नीचे अथर्ववेद-संहिताके प्रसंगमें करेंगे।

पर इधर चिरकालसे वैदिकोंकी परम्परामें वेदचतुष्टयका ही व्यवहार रहा है। इसलिए प्रकृतमें हम भी 'वेद चार हैं', यह मानकर ही आगे चलेंगे।

---

१. देखिए – "ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः-शब्दः।" (पूर्वमीमांसासूत्र २।१।३५-३७)।

२. देखिए गीता (९।२१) – "एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।" 'गीता' (९।२०) में 'त्रैविद्याः' शब्दका सम्बन्ध भी 'त्रयी' के इसी अभिप्रायसे है। "त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः" (भागवत ६।३।५५) इस पद्यमें भी 'त्रयी' शब्दका वही अभिप्राय है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

वेदोंकी शाखाओंका विचार

प्रत्येक वेदके विषयमें कुछ कहनेसे प्रथम वेदोंकी शाखाओंके विषयमें कुछ विचार करना आवश्यक है। जैसा आगे चलकर विदित होगा, प्रत्येक वेदकी अनेक शाखाएँ मानी जाती हैं। इस शाखा-भेदका क्या अभिप्राय है, इस विषयमें प्रायः भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। पर प्रत्येक वैदिक जानता है कि उसका किस वेदकी किस शाखासे सम्बन्ध है। वह यह भी जानता है कि उसकी शाखामें प्रचलित वेद-संहिताका पाठ अपने ही वेदकी शाखासे सम्बद्ध संहिताके पाठसे कुछ ही अंशोंमें भिन्न है। इसलिए स्पष्ट है कि वेदोंका शाखा-भेद बहुत अंश तक, किसी भी प्राचीन ग्रन्थके समान, पाठ-भेदपर ही अवलम्बित है।

इसपर भी आजकलके साम्प्रदायिक विचारधाराके लोग 'वेद शाश्वत हैं', 'वेद ईश्वर-कृत हैं', इसीलिए 'उनमें पाठभेद नहीं हो सकता', इन धारणाओंसे प्रेरित होकर वेदोंकी शाखाओंका मनःकल्पित अर्थ करते हैं।

शाखा-भेद कैसे हुआ ? इसका उत्तर स्पष्ट है। वैदिक परम्परामें ऐसा समय था, जब कि अध्ययनाध्यापनका आधार केवल मौखिक था। उसी कालमें एक ही गुरुके शिष्य-प्रशिष्य भारत-जैसे महान् देशमें फैले हुए, विशेषतः गमनागमनकी उन दिनोंकी कठिनाइयोंके कारण, किसी पाठको पूर्णतः अक्षुण्ण नहीं रख सकते थे। पाठ-भेदका हो जाना स्वाभाविक था।[२]

---

१. इस विषयके लिए इसी ग्रन्थके परिशिष्ट (क) में 'संस्कृत साहित्यमें प्रणयन' शीर्षक लेख देखिए।

२. तु० "एवं वेदं तदा व्यस्य भगवानृषिसत्तमः। शिष्येभ्यश्च पुनर्दत्वा स्तप्तुं गतो वनम्। तस्य शिष्यप्रशिष्यैस्तु शाखाभेदास्त्विमे कृताः (वायुपुराण ६१।७७)। तथा "वेदश्चैकश्चतुर्धा तु व्यस्यते द्वापरे ऋषिपुत्रैः पुनर्वेदा भिद्यन्ते दृष्टिविभ्रमैः ॥" (मत्स्यपुराण १४३।११

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साथ ही जान-बूझकर पाठका कुछ परिवर्तन या परिवर्द्धन भी, अवस्था-विशेषमें, सम्भावनासे बाहरकी बात नहीं है। यह स्मरण रखनेकी बात है कि एक ऐसा भी समय था, जब नवीन ऋचाएँ भी बनायी जाती थीं।[1] भी तो वैदिक वाङ्मयमें ऐसी भी ऋचाएँ और मन्त्र मिलते हैं, जो उपलब्ध वैदिक संहिताओंमें नहीं पाये जाते। ऐसी अवस्थामें पाठ-भेद कर ना या पाठ-भेदका हो जाना असम्भावित नहीं हो सकता। वैदिक संहि-ताओंमें परिशिष्टरूपसे जोड़े हुए सूक्तोंके लिए 'खिल-सूक्त' यह प्राचीन ारिभाषिक शब्द प्रसिद्ध है।

ऊपरके सामान्य विचारके बाद हम नीचे प्रत्येक वैदिक संहिताका क्षेपमें परिचय देनेका यत्न करेंगे।

ऋग्वेद-संहिता

वैदिक संहिताओंमें ऋग्वेद-संहिता सबसे बड़ी है। छन्दोबद्ध या द्यात्मक मन्त्रको ऋक् या ऋचा कहते हैं। ऋक्संहिता या ऋग्वेद-हिता ऐसी ही ऋचाओंका बड़ा भारी संग्रह है। संहिताका अर्थ है, ग्रह।

थोड़े-बहुत पाठ-भेदोंके कारण इस संहिताकी अनेक शाखाएँ मानी ाती हैं। महाभाष्य-जैसे प्राचीन ग्रन्थमें (लगभग १५० ई० पूर्व) कहा कि ऋग्वेदकी इक्कीस शाखाएँ थीं ('एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्',)[2]। ीछेके ग्रन्थोंमें केवल पाँच शाखाओंका उल्लेख मिलता है। शाखाओंकी

---

१. "अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत" (ऋग्० १।१।२), "इमां प्रत्नाय सुष्टुतिं नवीयसीं वोचेयम्" (ऋग्० १०।९१।१३), "ये च पूर्वे ऋषयो ये च नूत्ना इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः" (ऋग्० ७।२२।९) इत्यादि ऋचाओंमें स्पष्टतः प्राचीन और नवीन ऋषियोंका और बिलकुल नवीन बनायी हुई ऋचाओंका भी उल्लेख है।

२. देखो, महाभाष्य, पस्पशाह्निक।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

इस कमीका मुख्य कारण अध्ययनाध्यापनका संकोच ही हो सकता
आजकल जो ऋग्वेद-संहिता प्रचलित है, उसका सम्बन्ध शाकल-शाखा

इस संहिताके दस भाग हैं, जिनको मण्डल कहते हैं। प्रत्येक मण्
अनेक सूक्त होते हैं, और सूक्तोंमें अनेक ऋचाएँ। इनके विवरणके
नीचेकी तालिका देखिए –

मण्डल	सूक्त-संख्या	ऋक्-संख्या
प्रथम मण्डल	१९१	२०[illegible]
द्वितीय मण्डल	४३	४[illegible]
तृतीय मण्डल	६२	६[illegible]
चतुर्थ मण्डल	५८	५[illegible]
पंचम मण्डल	८७	७[illegible]
षष्ठ मण्डल	७५	७[illegible]
सप्तम मण्डल	१०४	८[illegible]
अष्टम मण्डल	९२	१६[illegible]
नवम मण्डल	११४	११[illegible]
दशम मण्डल	१९१	१[illegible]
	१०१७	१०४[illegible]

ऋचाओंके ऋषि, देवता और छन्द

ऋग्वेद-संहिताकी छपी पुस्तकोंमें प्रत्येक सूक्तके प्रारम्भमें उस
ऋषि, देवता और छन्द (छन्दस्) का निर्देश होता है। छन्द (गायत्री
का अर्थ स्पष्ट है। प्रत्येक ऋचाका कोई-न-कोई छन्द होना ही चा

'ऋक्' शब्दका मूलार्थ है, जिससे स्तुति की जाये[1]। "ऋच स्तु
धातुसे यह बना है। इसलिए ऋचा या सूक्तमें जिस विषय या पद

१. तु० "ऋग्भिः शंसन्ति" (निरुक्त १३।७)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्तुति, वर्णन या प्रतिपादन होता है, वह उसका देवता कहलाता है[1]। इस पारिभाषिक अर्थके कारण देवता-रूपसे प्रसिद्ध इन्द्र, वरुण, अग्नि आदिके साथ-साथ सूक्तोंमें वर्णित ज्ञान, संज्ञान, कृषि, अक्ष आदिको भी उनका 'देवता' कहा जाता है।

ऋचाओं या सूक्तोंके ऋषिसे क्या अभिप्राय है? इस विषयमें अनेक मत हैं। प्राचीन ग्रन्थोंमें कहीं तो ऐसा उल्लेख आता है कि ऋषि उनको कहते हैं, जिन्होंने वेद-मन्त्रोंका साक्षात्कार किया था। कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि मन्त्रोंके बनानेवालेको ही ऋषि कहा जाता था।[2] हमारे मतमें दोनों बातोंमें कोई मौलिक भेद नहीं है।

करुणाके आवेगमें आदिकवि वाल्मीकिके मुखसे –

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥
(वाल्मीकिरामायण १।२।१५)

यह श्लोक निकल पड़ा था। इसपर ब्रह्माजीने आकर उनसे कहा कि "मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती" (वाल्मीकिरामायण १।२।३१), अर्थात्, मेरी प्रेरणासे ही यह सरस्वती तुम्हारे मुखसे प्रवृत्त हुई है। कवि-की लोकोत्तर प्रतिभासे रची हुई कवितामें कविका अपना कितना हाथ होता है और लोकोत्तर (या दैवी) प्रेरणाका कितना, यह कहना कठिन है। दूसरे, 'खाना खा लीजिए' और 'भोजन पा लीजिए' अथवा 'बैठिए' और 'पधारिए' में अर्थका भेद न होनेपर भी भावनाका अवश्य भेद है। इसी तरह 'ऋषिने मन्त्र बनाया' या 'ऋषिपर मन्त्र प्रकट हुआ' या 'उसने मन्त्रको देखा', इनमें वस्तुतः अर्थैक्यके होनेपर भी भावनाका भेद है।

---

१. तु० "या तेनोच्यते सा देवता" (ऋक्सर्वानुक्रमणी १।२।५)।
२. तु० "ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः।" (निरुक्त २।११), तथा "यस्य वाक्यं स ऋषिः" (ऋक्सर्वानुक्रमणी १।२।४)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

फिर अनेक मन्त्रोंमें ऋषि स्वयं देवताको लक्ष्य करके कहता है कि 'तुम्हारे लिए इन मन्त्रोंकी रचना की है'।[1]

इसलिए उपर्युक्त मतभेदको हम कोई विशेष महत्त्व नहीं देते। इतना तो स्पष्ट ही है कि मन्त्रोंकी शाब्दिक परम्परा या श्रुति-परम्परासे उनका ऋषियोंका मौलिक सम्बन्ध अवश्य है।[2]

यह भी स्मरण रहे कि काल-भेदसे भाषाके मुहावरोंमें अन्तर आ जाता है। 'विद्या पढ़ी जाती है' इसी बातको वैदिक मुहावरेमें कहते 'विद्या सुनी जाती है'। 'मन्त्रोंको देखना' और 'मन्त्रोंको बनाना' में भी ही मुहावरेका भेदमात्र है। वस्तुगत भेद न है, न हो ही सकता है।

मण्डलोंका ऋषियोंसे सम्बन्ध और संहिताका क्रम

जैसा आगे चलकर विदित होगा, अन्य वैदिक संहिताओंसे ऋग्वेद संहिताके क्रममें विशेष अन्तर है। इस संहिताके क्रमकी मुख्य विशेषता यह है कि इसमें, याज्ञिक कर्मकाण्डके किसी क्रमको ध्यानमें न रखकर केवल मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों या ऋषि-वंशोंके आधारपर ही सूक्तोंको संगृहीत किया गया है। इसीलिए इस संहिताके क्रममें जैसी ऐतिहासिक महत्ता है वैसी अन्य संहिताओंके क्रममें नहीं।

पहले और दसवें मण्डलोंमें सूक्त-संख्या (१९१) तो समान है। उनमें परस्पर यह भी समानता है कि उन दोनोंमें विभिन्न ऋषियोंके सूक्तोंका संग्रह संगृहीत हैं। दूसरे मण्डलसे सप्तम मण्डल तक प्रत्येक मण्डलका सम्बन्ध केवल एक ही ऋषि या उसके वंशसे है। क्रमसे उन ऋषियोंके नाम हैं

---

१. तु० "तुभ्यं ब्रह्माणि···कृणोमि" (ब्रह्माणि = मन्त्रोंको; ऋग्० ७।२२।७) "स्तोमं जनयामि नव्यम्" (ऋग्० १।१०९।२)।

२. तु० "ननु चोक्तम्। नहि च्छन्दांसि क्रियन्ते। नित्यानि च्छन्दांसि। यद्यप्यर्थो नित्यः। या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सानित्या" (= सा अनित्या) (महाभाष्य ४।३।१०१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ। अष्टम मण्डलका सम्बन्ध प्राधान्येन कण्व ऋषिके वंशसे है। इस मण्डलमें प्रगाथ नामक विशेष छन्दकी बहुलता है, इसलिए इसके ऋषियोंको 'प्रगाथ' भी कहा जाता है। नवम मण्डलकी विशेषता यह है कि उसके लगभग सब सूक्तों-का देवता पवमान सोम है। ऋषि तो मण्डल २–७ के ऋषियोंमें-से ही हैं।[1]

ऋग्वेद-संहिताके अवान्तर क्रमका यह ऐतिहासिक आधार अपना विशेष महत्त्व रखता है। इससे जहाँ एक ओर संहिताके मन्त्रों और सूक्तोंका घनिष्ठ सम्बन्ध विशिष्ट ऋषियों या उनके वंशोंसे स्पष्ट है, वहाँ दूसरी ओर उनका, याज्ञिक कर्मकाण्डसे निरपेक्ष, मौलिक स्वरूप भी बहुत-कुछ प्रतीत हो जाता है।

ऋग्वेद-संहिताका विषय

विभिन्न दृष्टियोंसे वेदके प्रतिपाद्य विषयोंका विचार हम आगे करेंगे; तो भी ऋग्वेद-संहिताका क्या विषय है, इसको सामान्य रूपसे यहाँ बतला देना आवश्यक है।

ऋग्वेदका अर्थ है—ऋचाओंका वेद। अन्य वेदोंमें भी ऋचाएँ सम्मिलित हैं। पर ऋग्वेदमें केवल ऋचाओंका ही संग्रह है। ऋचासे स्तुति की जाती है; जिनकी स्तुति की जाती है उनको 'देवता' कहते हैं; यह हम ऊपर कह चुके हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सामान्यतः इस संहिताका विषय देवताओंकी स्तुतियाँ हैं।

वैदिक देवता क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकसे सम्बन्ध रखनेके

---

१. देखिए—"अथ ऋषयः। शतर्चिनो माध्यमा गृत्समदो विश्वामित्रो वामदेवोऽत्रिर्भरद्वाजो वसिष्ठः प्रगाथाः पावमान्यः क्षुद्रसूक्ता महासूक्ता इति।" (आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।४।२)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

कारण तीन प्रकारके माने जाते हैं। अग्नि, सोम, पृथिवी आदि पृथिवी-स्थानीय कहलाते हैं; इन्द्र, रुद्र, वायु आदि अन्तरिक्ष-स्थानीय, और वरुण, मित्र, उषस्, सूर्य आदि द्युस्थानीय।

ऋग्वेदमें लगभग २५० सूक्तोंमें इन्द्रकी, लगभग २०० में अग्निकी और १०० से अधिक सूक्तोंमें सोमकी स्तुति की गयी है। यम, मित्र, वरुण, रुद्र, विष्णु आदि देवताओंके भी सूक्त हैं; पर उनकी संख्या इन्द्र, अग्नि और सोमके सूक्तोंकी संख्याके बराबर नहीं है।

वैदिक देवतावादका विचार हम आगे करेंगे।

एक प्रकारसे अपना व्यक्तित्व रखनेवाले इन्द्र, अग्नि आदि देवताओंके अतिरिक्त ऋग्वेदमें ऐसे भी देवता हैं, जिनका वैसा व्यक्तित्व नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ, मन्यु, श्रद्धा आदि ऐसे ही देवता हैं।

इसके अतिरिक्त, इस संहितामें ऐसे भी अनेक सूक्त हैं जिनका सामाजिक अथवा दार्शनिक दृष्टिसे विशेष महत्त्व है। उदाहरणार्थ, ऋ० १०।८५ (विवाहसम्बन्धी); १०।१४ – १८ (अन्त्येष्टिसम्बन्धी); १०।३४ (द्यूतनिन्दा तथा कृषि-प्रशंसा); १०।७१ (ज्ञान-प्रशंसा); १०।१२९ (सृष्टि-वर्णन); १।१६४, आदि ऐसे ही सूक्त हैं।

ऋग्वेदकी विशेषता

ऋग्वेदके सम्बन्धमें यहाँ कुछ विस्तारसे कहनेका कारण यही है कि इसकी कई विशेषताएँ हैं। इस संहिताके अवान्तर-क्रमके ऐतिहासिक महत्त्वकी बात हम ऊपर कह चुके हैं। इसीलिए वैदिक विचारधाराके स्वरूपको समझनेके लिए जितनी मौलिक तथा पुष्कल सामग्री ऋग्वेदमें मिल सकती है, उसकी दूसरी संहिताओंकी सामग्रीसे कोई तुलना ही

---

१. दे० "तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वा वा अन्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः।" (निरुक्त ७।५)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की जा सकती। वास्तव में वैदिक वाङ्मयका मूल ऋग्वेद ही है।[1] सारे वैदिक कर्मकाण्डका मुख्य आश्रय भी ऋग्वेद ही है।

यजुर्वेद-संहिता

महाभाष्यकार पतञ्जलिके समयमें यजुर्वेद-संहिता १०१ शाखाओंमें पायी जाती थी[2]। अन्य ग्रन्थोंमें इन शाखाओंकी संख्या, अपने-अपने समयके अनुसार, १०१ से कम या अधिक बतलायी गयी है। परन्तु आजकल केवल पाँच शाखाएँ या संहिताएँ मुद्रित रूपमें उपलब्ध हैं।

चिरकालसे यजुर्वेद-संहिताके शुक्ल और कृष्ण नामोंसे दो भेद चले आ रहे हैं। उपर्युक्त शाखाओंका समावेश इन्हीं दो भेदोंमें माना जाता है। इस प्रकार कुछ शाखाओंका सम्बन्ध शुक्लयजुर्वेदसे और कुछका कृष्णयजुर्वेदसे रहा है। आजकलकी मुद्रित पाँच शाखाओंमें-से तीन (तैत्तिरीय, मैत्रायणी और कठ) का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेदसे, और दो (माध्यन्दिन और काण्व) का शुक्लयजुर्वेदसे है।

उपर्युक्त दोनों (शुक्लयजुर्वेद और कृष्णयजुर्वेद) भेदोंमें वस्तुगत दृष्टिसे यही अन्तर है कि जहाँ शुक्लयजुर्वेदमें केवल मन्त्र-भागका सन्निवेश है, वहाँ कृष्णयजुर्वेदमें मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग दोनों मिले-जुले सन्निविष्ट हैं।

वेदोंकी पद्यात्मक (= ऋचाओंके रूपमें) या गद्यात्मक रचनाओंको, जिनको प्रायः याज्ञिक कर्मकाण्डमें पढ़ा जाता है, मन्त्र कहते हैं। ब्राह्मण, जैसा आगे विदित होगा, एक प्रकारसे मन्त्र आदिपर व्याख्यात्मक रचना या ग्रन्थको कहते हैं। इस प्रकार मन्त्र और ब्राह्मणके स्वरूपोंमें मौलिक अन्तर है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं मन्त्र और ब्राह्मणके भागोंके सम्मिश्रणके कारण यजुर्वेदका एक भेद कृष्ण, और इस सम्मिश्रणसे रहित

---

१. तु० "वह्वृचमिति त्वेव स्थितम्। एतत्परिचरणावितरौ वेदौ।" (कौषीतकिब्राह्मण ६।११)

२. तु० "एकशतमध्वर्युशाखाः" (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

होनेके कारण दूसरा भेद शुक्ल कहा जाने लगा। दोनोंमें, कृष्णयजु प्राचीन, और शुक्लयजुर्वेद नवीन समझा जाता है।

हमारे मतमें एक और कारण भी हो सकता है। कृष्णयजुर्वे शाखाओंका विस्तार प्रायेण दक्षिण-भारतमें, और शुक्लयजुर्वेदका भारत (या मनुके आर्यावर्त) में है। स्वभावतः कृष्णयजुर्वेदके सा पर जितना प्रभाव वैदिकेतर विचारधाराका है,[1] उतना शुक्लयजु साहित्यपर नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्णयजुर्वेदकी प्रवृत्तिके विरोधमें 'शुद्ध' वैदिक धाराके पक्षपात या अभिनिवेशके ही शुक्लयजुर्वेदका प्रारम्भ हुआ होगा; बहुत-कुछ उसी तरह, जिस वर्तमानकालमें समन्वयात्मक पौराणिक धर्मके विरोधमें आर्यसमा प्रारम्भ हुआ। 'शुद्ध' धाराके कारण ही कदाचित् 'शुक्ल' और 'कृ शब्दोंका प्रचलन होने लगा।

शुक्लयजुर्वेदमें, अन्य वैदिक संहिताओंके समान, केवल मन्त्र ही सन्निविष्ट होनेसे, यहाँ हम उसका ही कुछ विशेष रूपसे वर्णन चाहते हैं। शुक्लयजुर्वेदमें भी, काण्वशाखीय संहिताकी अपेक्षा माध्य शाखाकी यजुर्वेदसंहिताका कहीं अधिक प्रचार है। कहा तो यह जा कि माध्यन्दिनशाखीय यजुर्वेदसंहिताका जितना प्रचार और वि भारतमें है, उतना किसी भी अन्य शाखाका नहीं है। इसलिए नीचे उसीके सम्बन्धमें कहेंगे।

माध्यन्दिनशाखीय शुक्लयजुर्वेदकी संहितामें ४० अध्याय और १

---

१. तु० "गिरिसुताय धीमहि। तन्नो गौरी प्रचोदयात्॥ तत्कुमाराय वि कार्तिकेयाय धीमहि। तन्नः स्कन्दः प्रचोदयात्॥ (मैत्रायणी-संहिता तथा काठक-संहिता १७।११)। यहाँ कार्तिकेय, स्कन्द और गौरी पौराणिक देवी-देवोंका उल्लेख स्पष्टतः वैदिकेतर धाराके प्रभावका है॥ और भी देखिए – "तन्नो गरुडः प्रचोदयात्", "दुर्गां देवीं शर प्रपद्ये" (तैत्तिरीयारण्यक १०।१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कण्डिकाएँ (या मन्त्र) हैं। मन्त्रोंकी संख्याके विषयमें मतभेद भी है। इस संहितामें गद्यात्मक मन्त्रों (= यजुस्) के साथ-साथ ऋचाएँ भी सम्मिलित हैं। संहिताका लगभग आधा भाग ऋचाओंका ही होगा। उन ऋचाओंमें-से ७००से अधिक ऋग्वेदमें भी पायी जाती हैं।

यजुर्वेद-संहिताका क्रम और विषय

ऋग्वेद-संहिताके विपरीत, यजुर्वेद-संहिताका क्रम विशिष्ट याज्ञिक कर्म-काण्डके क्रमको लक्ष्यमें रखकर ही निर्धारित किया गया है। उदाहरणार्थ, प्रथम अध्यायसे द्वितीय अध्यायके २८वें मन्त्र तक दर्श-पूर्णमास नामक यज्ञ-का प्रसंग है। इसी प्रकार अगले भागोंमें पिण्डपितृयज्ञ, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य आदि वैदिक यज्ञोंसे सम्बद्ध मन्त्रोंका संग्रह है। केवल अन्तमें ४०वें अध्यायका सम्बन्ध कर्मकाण्डसे न होकर ज्ञानकाण्ड (उपनिषद्)से है।

यजुर्वेदका घनिष्ठ सम्बन्ध याज्ञिक प्रक्रियासे है, यह तो उसके नामसे ही स्पष्ट है। 'यजुस्' और 'यज्ञ' दोनों शब्द "यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु" इस धातुसे निकले हैं। निरुक्तकार यास्कने भी कहा है – "यजुर्भिर्यजन्ति" (१३।७) तथा "यजुर्यजतेः" (७।१२)।

यजुर्वेद-संहिताका याज्ञिक कर्मकाण्डसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, यही सिद्धान्त यजुर्वेदके शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थोंका तथा प्राचीन भाष्यकारोंका है। याज्ञिक दृष्टि आजके जगत्को रुचिकर नहीं है, यह अनुभव करते हुए इधर आचार्य स्वामी दयानन्दने, याज्ञिक दृष्टिके बिना, स्वतन्त्र सामान्य दृष्टिसे भी यजुर्वेदकी व्याख्या करनेका यत्न किया है।

सामवेद-संहिता

महाभाष्यमें सामवेदकी एक सहस्र शाखाओं[1]का उल्लेख है। परन्तु

---

१. देखिए – "सहस्रवर्त्मा सामवेदः" (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

आजकल कौथुम, राणायनीय और जैमिनीय केवल ये तीन शाखाएं लब्ध हैं।[1]

सामवेदकी राणायनीय संहितामें, जो सबसे अधिक प्रसिद्ध है, १५४९ ऋचाएँ हैं। इनमें-से केवल ७५को छोड़कर, शेष सब ऋग्वेदसे गयी हैं।

सामवेदमें दो भाग हैं, पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिकके भाग हैं, जिनको प्रपाठक कहते हैं। उत्तरार्चिकमें नौ प्रपाठक हैं।

यजुर्वेद-संहिताके समान, सामवेद-संहिता भी याज्ञिक कर्मकाण्ड दृष्टिसे ही संगृहीत की गयी है। सामवेदमें संगृहीत ऋचाएँ विशेष सोम-यागमें गायी जाती थीं। साम-गानकी पुस्तकोंमें ये ही ऋचाएँ गान दृष्टिसे सजायी हुई रहती हैं। संहितामें तो वे ऋग्वेदके समान ही दी हैं, केवल स्वर लिखनेका प्रकार सामवेदका अपना है।

केवल साम-गानकी दृष्टिसे संगृहीत सामवेदका विशेषतः अपना प्रतिपाद्य विषय कुछ नहीं है। ऋचाओंके द्वारा जो विभिन्न देवताओंकी स्तुति होती है, वही उनका प्रतिपाद्य विषय कहा जा सकता है। पर ध्येय उनका साम-गान ही है। साम-गानकी दृष्टिसे एक विशिष्ट वेदकी कल्पना हमारे पूर्वजोंकी उदात्त-भावनामयी मनोवृत्तिकी ही द्योतक है। इसी के लिए गीतामें भगवान् कृष्णने कहा है – "वेदानां सामवेदोऽस्मि" (गीता १०।२२)।

अथर्ववेद-संहिता

महाभाष्यकारके समयमें अथर्ववेदकी नौ शाखाएँ पायी जाती थीं।[2]

---

१. तु० "गुर्जरदेशे कौथुमी प्रसिद्धा। कार्णाटके जैमिनी (?) प्रसिद्धा। राष्ट्रदेशे राणायनीया प्रसिद्धा" (महादेवकृत चरणव्यूहपरिशिष्टभाष्य)।

२. देखिए – "नवधाथर्वणो वेदः" (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

र आजकल दो ही शाखाएँ उपलब्ध हैं — शौनक और पैप्पलाद। दोनोंमें-
शौनक शाखाकी संहिता ही अधिक प्रसिद्ध है।

अथर्ववेदकी (शौनकशाखीय) संहितामें २० काण्ड (भाग), ७३०
सूक्त और लगभग ६००० मन्त्र हैं। उक्त मन्त्रोंमें-से कोई १२०० मन्त्र
स्पष्टतः ऋग्वेद-संहितासे ही लिये हुए प्रतीत होते हैं। उनमें कुछ पाठान्तर
अवश्य हैं। अथर्ववेदका २०वाँ काण्ड तो, कुछ ही अंशको छोड़कर, पूराका-
रा ऋग्वेदसे ही उद्धृत है। १५वाँ काण्ड और प्रायः १६वाँ काण्ड भी
ब्राह्मणों-जैसे गद्यमें है। अन्य काण्डोंमें भी यत्र-तत्र गद्य अथवा शिथिल
पद्यात्मक शैलीका सम्मिश्रण पाया जाता है।

अथर्ववेद-संहिताका वैशिष्ट्य

कई दृष्टियोंसे अथर्ववेद-संहिताका अपना वैशिष्ट्य है। इसकी मुख्य
विशेषता यह है कि जहाँ उपर्युक्त तीनों संहिताओंका सम्बन्ध श्रौत
(= वैदिक) यज्ञोंसे है, वहाँ अथर्ववेदका (बीसवें काण्डको छोड़कर)
सम्बन्ध प्रायेण गृह्य कर्मकाण्ड (जैसे जन्म, विवाह या मृत्युसे सम्बद्ध
संस्कार आदि) या राजाओंके मूर्धाभिषेक-सम्बन्धी कर्मकाण्डसे है। बीसवें
काण्डमें अधिकतर इन्द्र देवताकी स्तुतिके सोमयागोपयोगी सूक्तोंका ही
संग्रह है।

अथर्ववेदको एक प्रकारसे जादू-टोना-सदृश मन्त्रोंका संग्रह समझा जाता
है। इसीलिए अथर्ववेदके मन्त्रोंका विनियोग अनेक रोगों तथा उत्पातोंकी
शान्ति, शत्रु आदिके प्रतीकार, पौष्टिक कर्म और वशीकरण आदिमें किया
जाता है। अनेकानेक ओषधियोंसे सम्बन्धित मन्त्र भी अथर्ववेदमें संगृहीत
हैं। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, सांमनस्य, राजविद्या, अध्यात्मविद्या
आदि महत्त्वपूर्ण विषयोंसे सम्बन्धित अनेक सूक्त भी अथर्ववेदमें पाये
जाते हैं। अथर्ववेदका पृथ्वीसूक्त (१२।१) अपने विषयकी अद्वितीय
रचना है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

यह कहा जा सकता है कि अन्य वैदिक संहिताओंकी परम्परामें को प्रधानतया वैदिक या श्रौत यज्ञोंका अंग मानकर ही उनकी उपयो समझी जाती है।[1] अथर्ववेदमें यह बात नहीं है।[2] यहाँ मन्त्रको बहु स्तरपर रखा गया है। मन्त्रमें स्वयं शक्ति है; दूसरे शब्दोंमें, मन्त्र में निहित शक्तिके उद्भावनकी प्रधान कुंजी है, और इसीलिए प्रयोग-उपयोग, किसी श्रौत यज्ञके आश्रयके बिना, स्वतन्त्र रूपसे भी जा सकता है, यह मौलिक सिद्धान्त ही अथर्ववेदकी प्रमुख विशेषता एक प्रकारसे यदि बहुद्रव्यसाध्य यज्ञों (= गीताके शब्दोंमें 'द्रव्यय से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य वेदोंको केवल सम्पन्नवर्गका वेद कहा जा अथर्ववेदको जनताका वेद[5] कहा जा सकता है।

अथर्ववेदका विकास या निर्माण

'वेद चार हैं और उनमें चतुर्थ अथर्ववेद है,' परम्परासे प्राप्त मान्यताका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। साथ ही हमने यह भी

---

१. तु० "मन्त्राश्च कर्मकरणाः" (आश्वलायन-श्रौतसूत्र १।१।२।१ "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" (मीमांसासूत्र १।२।१)।

२. तु० "अथर्ववेदस्तु यज्ञानुपयुक्तः शान्तिपौष्टिकाभिचारादिकर्म कत्वेनात्यन्तविलक्षण एव।" (प्रस्थानभेद)।

३. तु० "न तिथिर्न च नक्षत्रं न ग्रहो न च चन्द्रमाः। अथर्वमन्त्र सर्वसिद्धिर्भविष्यति॥" (अथर्वपरिशिष्ट २।५)। तु० गोप (१।१।९)।

४. दे० गीता (४।२८,३३)।

५. तु० "याँश्च ग्रामे याँश्चारण्ये जपन्ति मन्त्रान्नानार्थान् बहुधा सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपियन्ति…(गोपथब्राह्मण १।५।२५)। त निष्ठा या विद्या स्त्रीषु शूद्रेषु च। आथर्वणस्य वेदस्य शेष शन्ति।" (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।२९।११ - १२)। इन सूत्रोंपर भी देखिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है कि ऐतिहासिक दृष्टिसे श्रौत कर्मकाण्डकी निर्वाहक 'त्रयी' के पश्चात् ही अथर्ववेदका विकास या निर्माण हुआ, ऐसा मानना पड़ेगा।

इस विषयको ठीक तरह बुद्धिगत करनेके लिए हमें निम्नलिखित बातोंपर ध्यान देना होगा—

१. अथर्ववेदका निर्माण क्षत्रिय राजाओंकी प्रेरणासे तथा उनके आश्रयमें उनके पुरोहित-वर्ग-द्वारा हुआ है।

२. इसीलिए इसका सम्बन्ध अन्य लौकिक 'विद्याओं' के साथ-साथ ब्रह्मविद्या और राजाओंके मूर्धाभिषेकसम्बन्धी कर्मकाण्डसे भी है। इसीलिए इसको क्षत्रवेद[1] और ब्रह्मवेद[2] भी कहा जाता है। ब्रह्मविद्याका मूलतः सम्बन्ध क्षत्रिय राजाओंसे है, यही उपनिषदों और गीताका मत है।[3]

३. राजप्रेरणासे ही इसमें, त्रयीमें अनुपलब्ध, उस समयकी अन्य विद्याओंको (सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद और पुराणवेदके आधारपर[4]) समावेश किया गया।

---

१. तु० शतपथब्राह्मण (१४।८।१४।१–४) तथा बृहदारण्यकोपनिषद् (५।१३।४)

२. दे० "चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेद इति" (गोपथब्राह्मण १।२।१६)

३. दे० छान्दोग्योपनिषद् ५।३; ५।११। बृहदारण्यकोपनिषद् २।१। गीता ४।१–२।

४. तु० "स·····पञ्च वेदान् निरमिमीत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदमिति। स प्राच्या एव दिशः सर्पवेदं निरमिमीत दक्षिणस्याः पिशाचवेदं प्रतीच्या असुरवेदमुदीच्या इतिहासवेदं ध्रुवायाश्चोर्ध्वायाश्च पुराणवेदम्·····" (गोपथब्राह्मण १।१।१०)। तथा गोपथब्रा० १।५।२५। तथा "अथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पम्" (छान्दोग्योपनिषद् ३।४।१)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

दूसरे शब्दोंमें, अथर्ववेद उस समयके यावत् ज्ञानका विश्वकोश यह कार्य उस समयके राजाओंके आश्रयमें उनके पुरोहित-वर्ग-द्वारा हुआ था।

४. राज्याश्रयके कारण ही अथर्ववेदविद् राजपुरोहितको ब्रह्माका पद प्राप्त हुआ; क्योंकि उसकी 'मार्फ़त' ही याज्ञिकोंको दक्षिणा प्राप्त होती थी।

इस विषयका विशद प्रतिपादन हम इसी ग्रन्थके अगले 'औपनिषद धारा' में करेंगे।

यहाँ तो हम इतना ही कहना चाहते हैं कि अपने विषयोंके और गाम्भीर्य दोनों दृष्टियोंसे यह वेद चारों वेदोंमें निःसन्देह अपना महत्त्व रखता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ

वेदोंके बाद वैदिक वाङ्मयमें ब्राह्मण-ग्रन्थोंका स्थान है। हम कह चुके हैं कि प्राचीन परिभाषाके अनुसार मन्त्रभाग और ब्राह्मण दोनोंके लिए समान रूपसे वेद शब्दका प्रयोग साहित्यिक परम्परामें आया है। इससे ब्राह्मण-ग्रन्थोंका महत्त्व स्पष्ट है।

प्रत्येक वैदिक संहिताके साथ एक या अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थोंका सम्बन्ध माना जाता है। इसी दृष्टिसे ऋग्वेदके ऐतरेय-ब्राह्मण यजुर्वेदके शतपथ-ब्राह्मण आदि, सामवेदके ताण्ड्य-महाब्राह्मण आदि ब्राह्मण माने जाते हैं। अथर्ववेदका केवल एक ब्राह्मण गोपथ है।

उपर्युक्त सब ब्राह्मण बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं। शतपथ तो बहुत बड़ा है। इसमें १०० अध्याय और १४ काण्ड हैं। अन्य ब्राह्मण छोटे-छोटे।

ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी एक विशेषता यह है कि वे गद्यात्मक हैं। संस्कृतभाषाकी गद्यात्मक शैलीके विकासके अध्ययनकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्व है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दर्शपूर्णमास आदि वैदिक (श्रौत) यज्ञोंकी विधि, उनकी व्याख्या और प्रसंगतः अनेक वैदिक मन्त्रोंकी व्याख्या, यही ब्राह्मण-ग्रन्थोंका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। वैदिक यज्ञोंके स्वरूप आदिको समझनेके लिए सबसे अधिक प्रामाण्य इन्हीं ग्रन्थोंका है। इसीलिए याज्ञिक दृष्टिसे वेद और ब्राह्मणोंको एक ही कोटिमें रखा जाता है।

औपनिषद धाराके उदयसे पहले, सामाजिक, धार्मिक आदि दृष्टियोंसे वैदिक धाराका जो परिनिष्ठित रूप था वह ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें उपलब्ध है। इसलिए उसके अध्ययनके लिए ब्राह्मण-ग्रन्थोंका असाधारण महत्त्व है।

औपनिषद धारा तथा वर्तमान दर्शन-शास्त्रोंके उदयसे प्राचीनतर दार्शनिक विचारधारा तथा ऊहापोहकी शैली, विभिन्न विषयोंपर नपे-तुले परिमार्जित विचार[1], शब्दोंका निर्वचन, यत्र-तत्र बिखरी हुई विविध ऐतिहासिक तथा भौगोलिक सामग्री—इनके लिए भी, गौण दृष्टिसे, ब्राह्मण-ग्रन्थोंका पर्याप्त महत्त्व है।

संक्षेपमें, वैदिक-धाराके स्वरूप और प्रवाहको ठीक-ठीक समझनेके लिए ब्राह्मण-साहित्यका अध्ययन आवश्यक है।

वेदाङ्ग

शिक्षा, छन्दः, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, और कल्प, ये छह वेदाङ्ग कहलाते हैं।

शिक्षासे अभिप्राय अ, क आदि वर्णोंके ठीक-ठीक उच्चारणकी विद्यासे है। छन्दःका विषय गायत्री आदि छन्दोंकी व्याख्या है। व्याकरण प्रसिद्ध है। निरुक्तको हम निर्वचन-शास्त्र या लगभग भाषा-विज्ञान कह सकते हैं। ज्योतिषसे यहाँ अभिप्राय खगोल-विद्यासे है। कल्पके श्रौतकर्मकाण्ड, स्मार्तकर्मकाण्ड तथा धर्मसूत्रोंका विषय, ये तीन भेद हैं।

---

१. इस विषयमें हमारे ऐतरेयब्राह्मण-पर्यालोचन, ऐतरेयारण्यकपर्यालोचन तथा कौषीतकिब्राह्मणपर्यालोचन ग्रन्थोंको देखिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

कालान्तरमें विभिन्न विचारोंके घात-प्रतिघात तथा परिस्थिति-वै कारण वेदोंके अध्ययनाध्यापन आदिकी परम्परामें कुछ-न-कुछ दो आना स्वाभाविक था। इसीलिए भारतवर्षके परिवर्तित वातावरणमें वे उच्चारणकी रक्षा, वेदोंके अध्ययनकी सुविधा और वैदिक आचार-वि तथा कर्म-काण्डकी परम्पराकी सुरक्षाकी दृष्टिसे ही उक्त छह वे (= वेदकी सहायक विद्याओं) का प्रारम्भ और अद्वितीय वि प्राचीन कालमें ही हो गया था।

ऊपरके छहों नाम वास्तवमें विद्या-(अथवा विषय-) परक हैं, परक नहीं। तो भी, आजकल प्रत्येक वेदांगसे कुछ निश्चित ग्र समझे जाते हैं; जैसे, शिक्षासे पाणिनिमुनिकी शिक्षा (यद्यपि वह पा की बनायी हुई नहीं है), छन्दःसे पिंगलकृत छन्दःसूत्र (इसमें और लौकिक संस्कृतके भी छन्दोंकी व्याख्या है), व्याकरणसे पाणि कृत अष्टाध्यायी (इसमें भी लौकिक संस्कृत तथा वैदिक भाषा, व्याकरण दिया है), निरुक्तसे यास्कमुनिकृत निरुक्त, ज्योतिषसे आचार्यका वेदांग-ज्योतिष, और कल्पसे विभिन्न वेदों और वैदिक शा से सम्बद्ध (१) गृह्यसूत्र, (२) श्रौतसूत्र, और (३) धर्मसूत्र।

वेदांगोंकी परम्परामें धीरे-धीरे छन्दः, व्याकरण, ज्योतिष और सूत्रान्तर्गत धर्मसूत्रोंके विषयोंने सामान्य विद्याओंका रूप धारण कर और इस रूपमें ये विषय बराबर उन्नति करते रहे। इसी प्रका अनेक भारतीय विद्याओंके विकासमें वैदिक परम्पराका साक्षात् या अ रूपमें हाथ रहा है।

उपर्युक्त वेदांगोंके नामसे प्रसिद्ध ग्रन्थोंमें प्रायः सबके निर्माणका ईसवी सन्से कुछ शताब्दियों पहलेका है। हम भारतीयोंके लि साधारण गर्वकी बात नहीं है। व्याकरणके विषयमें तो भारतने वह सीमा प्राप्त की थी, जहाँतक संसार अभीतक नहीं पहुँच स

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैदिक परिशिष्ट

वेदांगोंके अतिरिक्त वेदोंके पाठ, तथा उनके ऋषि, छन्दः, देवता आदि-की अनुक्रमणियों आदिके सम्बन्धमें लिखे हुए सैकड़ों फुटकल छोटे-बड़े ग्रन्थोंका परिगणन वैदिक परिशिष्टोंमें किया जाता है।

भारतमें वैदिक वाङ्मय हस्तलिखित पोथियोंमें सुरक्षित अवश्य रहा है। उसका मुद्रण और प्रकाशन भी इस नवीन युगमें बहुत कुछ उन्हीं पोथियोंके आधारपर हुआ है। तो भी यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि उसका, और विशेषकर वैदिक संहिताओंका, अध्ययनाध्यापन प्रारम्भ-काल-से ही बराबर गुरु-शिष्यकी मौखिक परम्परा-द्वारा ही चलता था। अब भी कुछ अंशोंमें वह परम्परा जीवित है।

बहुत कुछ उक्त परम्पराके कारण ही, वेदोंकी भिन्न-भिन्न शाखावालों-ने अपनी-अपनी संहिताको सुरक्षित रखनेकी दृष्टिसे प्राचीनकालमें अनेका-नेक उपायोंका अवलम्बन किया था। संहिताओंमें पदोंकी सन्धिको तोड़कर उनके पद-पाठ आदि अनेक प्रकारके पाठ तैयार किये गये। संहिताओंकी अनेक प्रकारकी सूचियाँ या अनुक्रमणियाँ बनायी गयीं। उनके पदों तककी संख्या की गयी। स और श या षके भेदपर तथा ब और वके भेदपर और इसी प्रकारकी अन्य छोटीसे छोटी बातोंको लेकर पुस्तकें लिखी गयीं। अभिप्राय था अपनी-अपनी संहिताको सुरक्षा।

परिशिष्टात्मक ग्रन्थोंमें ऋग्वेदसे सम्बन्ध रखनेवाली शौनक आचार्यकी 'बृहद्देवता' (लगभग ई० पू० ५०० की) तथा कात्यायनकी 'ऋक्सर्वानु-क्रमणी' (ई० पू० ४५० के लगभग) अति प्रसिद्ध हैं।

सैकड़ोंकी संख्यामें उपलब्ध इन परिशिष्टात्मक ग्रन्थोंसे भारतीय वाङ्मयकी परम्परामें वेदोंका अद्वितीय महत्त्व और वैदिक धाराके अनु-यायियोंमें वेदोंके प्रति अगाध श्रद्धाका अस्तित्व ही प्रकट होते हैं।

■

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

छठा परिच्छेद

वैदिक धाराकी दार्शनिक पृष्ठभूमि

पिछले परिच्छेदमें हमने वैदिक धाराकी साहित्यिक भूमिकाके वैदिक वाङ्मयकी रूपरेखाको दिखाया है। वैदिक धाराके स्वरूप, विकास आदिको दिखानेसे पहले, उनको ठीक-ठीक समझनेके लिए यह आवश्यक है कि वैदिक धाराकी दार्शनिक पृष्ठभूमिको भी दिया जाये।

उक्त रूपरेखासे प्रतीत हो गया होगा कि वैदिक धाराका इतिहास लम्बा ही नहीं है, उसके क्रमिक विकासमें शनैः-शनैः अनेक प्रकार परिवर्तन भी होते रहे हैं। इन परिवर्तनोंके कारण ही अन्तमें एक स्थिति आयी, जिसमें उसका अपना मौलिक वेग बहुत मन्द होने लगा। इसकी आवश्यकता हुई कि उसके वेगको आगे बढ़ानेके लिए उसके किसी नयी धाराका संगम हो।

उक्त परिवर्तन और विकासका प्रभाव उसकी मौलिक दार्शनिक पर भी पड़ना स्वाभाविक था। वास्तवमें परिस्थिति और दार्शनिक दृ कुछ ऐसा अन्योन्याश्रयसम्बन्ध है कि दोनोंका एक-दूसरेपर प्रभाव बिना नहीं रह सकता। सृष्टिकी परम्परामें बीज और वृक्षमें कौन है, यह कहना कठिन है। इसी तरह परिस्थिति और दार्शनिक दृष्टि पहले है, यह कहना प्रायः कठिन होता है।

वैदिक धाराकी क्रमशः बदलती हुई परिस्थितिमें उसकी दार्शनिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी समष्टि रूपमें बराबर एक-सी नहीं रह सकती थी। इसलिए इस परिच्छेदमें जिस दार्शनिक पृष्ठभूमिको हम दिखाना चाहते हैं, उससे हमारा अभिप्राय प्रायेण वैदिक धाराकी उस दार्शनिक दृष्टिसे है, जिसको लेकर वह मूलमें आगे बढ़ी थी।

अगले परिच्छेदमें हम वैदिक धाराके इतिहासमें क्रमशः आनेवाली तीन अवस्थाओंका वर्णन करेंगे। उनमें-से प्रायेण प्रथम अवस्थाकी ही जो दार्शनिक दृष्टि कही जा सकती है, उसीको यहाँ हम दिखाना चाहते हैं। वास्तवमें उसीको 'वैदिक धाराकी दार्शनिक पृष्ठभूमि' कहा जा सकता है। सबसे पहले हम देवतावादपर विचार करेंगे –

देवतावाद

मानव-जातिके इतिहासमें सदासे देवतावादका विशिष्ट स्थान रहता आया है। मूलमें देवतावाद, एक प्रकारसे, मनुष्यके आदर्शवादका ही नामान्तर या रूपान्तर है[1]। बलवती प्राकृतिक शक्तियों और घटनाओंके सामने अपनेको दुर्बल और बेबस पाकर क्षणभंगुर जीवनवाला मानव ('मर्त्य') अपने सामने ऐसे आदर्शोंको खड़ा करता है, जिनसे वह समय-समयपर अपने जीवनमें सान्त्वना, प्रेरणा तथा शान्ति प्राप्त कर सके। वैदिक साहित्यके प्रमुख ग्रन्थ 'निरुक्त'[2] में, मनुष्यकी कामना (या आदर्श) के आधारपर, जो देवताकी परिभाषा की गयी है, उससे भी यही ध्वनि निकलती है।

इसीलिए प्रत्येक जातिके देवता या देवताओंके स्वरूपमें उसके अपने

---

१. तु० "कालभेदेन भिन्नानां देशभेदेन वा पुनः। देवतानामयं भेदो मन्यते भावमूलकः॥ संस्कृतेस् तारतम्यं य आदर्शा दर्शयन्ति नः। त एव देवतारूपा दृश्यन्ते भावमूलकाः॥" (रश्मिमाला २८।३–४)

२. दे० "यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।" (निरुक्त ७।१)। तु० बृहद्देवता १।६।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

आदर्शोंकी अनुरूपता स्पष्टतया प्रतिबिम्बित होती है। इसलिए क्रूर कर्म निरत जातिके देवताओंमें क्रूरताप्रधान गुण और सौम्य जातिके देवताओं दया, प्रेम-जैसे सौम्य गुण देखे जाते हैं। वास्तवमें, किसी भी जाति स्वरूप और स्वभावका बहुत कुछ चित्रण उसके देवताओंके स्वरूप और स्वभावके अध्ययनसे किया जा सकता है।

देवताओंके सम्बन्धमें यह बात भी ध्यानमें रखने योग्य है कि उनका घनिष्ठ सम्बन्ध तत्तज्जातिकी अपनी प्राकृतिक परिस्थितिसे भी प्रायः होता करता है। उदाहरणार्थ, शीतप्रधान देशमें ही अग्निमें देवतात्वकी भावना का उदय होना समझमें आ सकता है[1]। ऐसा होनेपर भी, प्रत्येक देवता (अग्नि-देवताका प्राकृतिक अग्निके समान) प्राकृतिक या भौतिक आधार अवश्य ही हो, ऐसा नहीं है। कमसे कम, अनेकानेक देवताओंके विषय उस आधारको दिखाना बहुत कठिन होता है।

वैदिक देवतावाद

वैदिक देवताओंके विषयमें सबसे पहली बात यही है कि उनमें बहुत का प्राकृतिक आधार प्रायः स्पष्ट है। उदाहरणार्थ, अग्नि, वायु, आप (जल), आदित्य, उषस् आदि वैदिक देवताओंके वर्णनोंसे (तथा नामों भी) स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ भौतिक अग्नि आदिको ही ऊपर उठाकर देवतात्वके आसनपर बिठाया गया है। अश्विन् (या अश्विनौ), वरुण आदि कुछ वैदिक देवताओंके वर्णनमें इस दृष्टिसे अस्पष्टता रहनेसे, उनके भौतिक या प्राकृतिक आधारके विषयमें सन्देह अवश्य रह जाता है। अधिकतर वैदिक देवताओंके स्वरूपको देखते हुए, इसमें सन्देह नहीं रहता कि मूलमें इनका भी कोई निश्चित भौतिक आधार अवश्य रहा होगा। वेद-मन्त्रों तथा अन्य वैदिक साहित्यके सूक्ष्म विवेचनात्मक अध्ययनसे

---

१. तु० "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" (यजु० २३।१०)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तुलनात्मक देवता-विज्ञान आदिकी सहायतासे इसका ठीक-ठीक पता अवश्य लगाया जा सकता है।

इस प्रकार मूलमें प्राकृतिक आधार रखनेवाले प्रधान वैदिक देवताओं-की न केवल संख्याका[1] ही उल्लेख मिलता है, उनका कर्मभेद तथा स्थान-भेदसे वर्गीकरण भी 'निरुक्त'-जैसे प्रामाणिक ग्रन्थोंमें किया गया है[2]।

यही नहीं, उनके मूलमें प्राकृतिक आधार होनेपर भी, स्तोताकी तन्मयताके आवेगके कारण, उन-उन देवताओंमें, उनके पृथग्व्यक्तित्वकी पराकाष्ठाके द्योतक, पुरुष-विधत्व[3]का आरोप भी प्रायः मन्त्रोंमें देखा जाता है। देवताओंके हाथ, पैर आदि अंगोंके साथ[4] उनके वाहन[5], यहाँतक कि उनकी पत्नियों[6]का भी वर्णन मन्त्रोंमें देखा जाता है। विभिन्न देवताओंके मन्त्रोंमें विभिन्न प्रकारकी स्तुतियोंसे उनके पारस्परिक पृथक्त्व और व्यक्तित्वकी भावना और भी पुष्ट हो जाती है।

इस प्रकार वैदिक मन्त्रोंमें बहुदेवतावाद स्पष्ट दिखाई देता है। यहाँ

---

१. तु० "ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ। अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥" (ऋग्० १।१३९।११) यहाँ देवताओंकी संख्या ३३ दी है। तु० शतपथब्राह्मण (४।५।७।२), ऐतरेयब्राह्मण (१।१० तथा २।१८), कौषीतकिब्राह्मण (१०।३;१२।६), गोपथब्राह्मण (२।२।१३), बृहदारण्यकोपनिषद् (३।९।२-९)।

२. तु० "तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वा इन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वात्।...अपि वा पृथगेव स्युः। पृथग्हि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि।" (निरुक्त ७।५)।

३. तु० "अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युरित्येकम्।..." (निरुक्त ७।६)।

४-६. तु० "ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू" (ऋग्० ६।४७।८)। "आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि" (ऋग्० २।१८।४)। "कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते" (ऋग्० ३।५३।६)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

प्रश्न हो सकता है कि क्या यह देवताओंकी अनेकता वास्तविक है? उसके पीछे रहनेवाली किसी मौलिक एकताका भान उस समय नहीं इसका उत्तर यही है कि व्यावहारिक दृष्टिसे यह ठीक है कि वैदिक देव अपनी-अपनी स्वतन्त्र या पृथक् सत्ताके साथ माने जाते थे। वि प्राकृतिक कार्योंका संचालन करनेवाली इन दैवी शक्तियोंकी प्रात्य पृथक् सत्ता किससे छिपी है? तो भी, वैदिक मन्त्रोंके गम्भीर अध्य विभिन्न-स्थानीय और विभिन्न कर्म करनेवाले देवताओंमें अनुस्यूत जो सूत्रता दिखाई देती है, उसके आधारपर यह मानना पड़ता है कि उ मूलरूप अध्यात्म है, जिसकी कार्मिक दृष्टिसे विभिन्न प्रतीतिको ही त देवताका नाम दिया गया था।

वैदिक देवता परस्पर केवल अविरोध भाव[1] से ही नहीं, अपितु प रोन्नायक भावसे भी कार्य करते हुए, चराचर जगत्के नैतिक (आभ्यन्तर) तथा भौतिक (या बाह्य) शाश्वत नियमोंके अनुसार 'ऋ' और 'ऋत' का पालन करते हुए ही अपना-अपना कार्य करते हैं। "भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते" (ऋग्० १०।१९१।२), (अर्थात् शक्तियाँ परस्परोन्नायक या सामंजस्यके भावसे ही अपने-अपने कर्त्त पालन करती हैं), "सत्यमेव देवाः", "ऋतज्ञाः[2]" इत्यादि वैदिक व का यही अभिप्राय है।

वैदिक देवताओंकी उक्त मौलिक आध्यात्मिक[3] एकताका वर्णन वेदों

---

१. इस अविरोध-भावसे देवताओंकी मौलिक एकता ही सिद्ध होती है।

२. "सत्यमेव देवाः...एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्" (शतपथ ब्रा १।१।१।४-५)। "ये देवानां...अमृता ऋतज्ञाः" (ऋग्० ७।३५।१ "ऋतधीतय...सत्यधर्माणः" (ऋग्० ५।५१।२)।

३. निरुक्तमें इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है: "भाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये प्रत्यङ्गानि भवन्ति।...प्रकृतिसार्वनाम्याच्च।..." (निरुक्त ७।४)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(ऋग्० १।१६४।४६)

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ (यजु० ३२।१)

(अर्थात्, तत्त्वदर्शी लोगोंकी दृष्टिमें इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, ब्रह्म, आपः, प्रजापति आदि नाम एक ही मौलिक सत्ता या अध्यात्म-तत्त्वका प्रतिपादन करते हैं) इस प्रकार यत्र-तत्र पाया जाता है ।

गीताका विभूतिवाद[1] भी इसी सिद्धान्तकी व्याख्या करता है ।

तो भी यह मानना पड़ेगा कि वैदिक मन्त्रोंमें सामान्यतः दृष्टि जितनी तत्तद्देवताओंके अपने व्यक्तित्व (या व्यष्टित्व) पर है, उतनी उनकी मौलिक एकतापर नहीं है । विराट्रूपमें या अन्यथा एकताकी ओर स्पष्टतया संकेत करनेवाले स्थल वेदोंमें अवश्य हैं; पर उनकी दृष्टि उस समयकी सर्वसाधारणकी मान्यता और विश्वासकी दृष्टिसे बहुत ऊँची है ।

इसीलिए, जैसा कि आगे चलकर हम दिखायेंगे, याज्ञिक कर्मकाण्डकी अत्यधिकताकी दृष्टिके समय वह एकता प्रायः ओझल हो जाती है, और अन्तमें प्रायः बिलकुल नहीं रहती । इसी अवस्थाकी प्रतिक्रियाके रूपमें पीछेसे अद्वैतकी प्रतिपादक औपनिषद धाराका उदय वेदान्त (= वेद + अन्त) के रूपमें हुआ था ।

उपर्युक्त कारणसे ही वेदोंमें किसी ऐसे शब्दका मिलना कठिन है, जो आजकलके 'ईश्वर' या 'परमेश्वर' शब्दकी तरह, एक ही देवाधिदेवका

---

१. दे० गीता (१०।१६–४१) ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

असन्दिग्ध रूपमें प्रतिपादक हो।[1] 'ब्रह्म' या 'विराट् पुरुष' शब्दोंका स
मौलिक तत्त्वके अर्थमें, तत्त्ववेत्ताओंकी दार्शनिक दृष्टिसे है, सर्वसाधा
देवतावादसे नहीं।

इस सम्बन्धमें एक और बातकी ओर भी संकेत करना आवश्यक
आजकल वेद-व्याख्याता अग्नि, इन्द्र आदि वैदिक देवताओंके स्व
व्याख्या 'प्रकाशमान् ईश्वर', 'ऐश्वर्यशाली परमेश्वर' इत्यादि प्रकार
कर देना पर्याप्त समझते हैं। पर क्या इनका प्रयोग वेदमें विशेषण-
ही हुआ है? ऐसा तो नहीं प्रतीत होता। तत्तद्देवताके लिए नि
रूपसे विशिष्ट नाम देनेका अभिप्राय उनके स्थिर-निश्चित स्वरूपसे
होना चाहिए। "अहं वैश्वानरो भूत्वा····पचाम्यन्नं चतुर्विधम्" (
१५।१४) गीताके इस वचनसे इसी बातका कुछ संकेत मिलता है।
लिए हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि अनेकानेक वैदिक देवताओंके
अपने विशिष्ट स्वरूपको समझनेका अपेक्षणीय यत्न अभीतक कि
नहीं गया है। अश्विनौ, त्वष्टा, पूषा, नराशंसः आदि ऐसे ही नाम
'अग्नीषोमौ', 'मित्रावरुणौ', 'इन्द्रवायू', 'इन्द्रापूषणौ', 'इन्द्राबृहस्
इत्यादि देवता-द्वन्द्वोंसे भी उपर्युक्त धारणाको पुष्टि मिलती है। इस सम
में तत्तद्देवताओंके विशिष्ट वर्णनोंके गम्भीर अध्ययनकी आवश्यकता है

वैदिक देवताओंका स्वरूप

ऊपर कहा है कि वैदिक देवता पारस्परिक पूर्ण सामंजस्यसे
करते हैं। वे समस्त चराचर जगत्की न केवल प्राकृतिक व्यवस्था (
अपितु नैतिक व्यवस्था (सत्य) के भी पोषक और संरक्षक हैं।
नियम अटल हैं। उनकी सारी प्रवृत्ति जगत्के भद्र और कल्याणके
है। वे प्रकाश-रूप हैं; अज्ञान और अन्धकारसे परे हैं। वे सतत कर्म

---

१. इस सम्बन्धमें द्वितीय परिच्छेदके प्रथम पाद-टिप्पणमें उल्लिखित
शब्द-विषयक हमारे लेखको देखिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं। इसीलिए मनुष्यका वास्तविक कल्याण देवताओंके साथ सर्वथा सायुज्य और तादात्म्यमें ही है।[1]

प्राकृतिक शक्तियोंका, वैदिक देवताओंके रूपमें, यह वर्णन कितना सुन्दर और ऊँचा है! वैदिक देवतावाद प्राकृतिक शक्तियोंके साथ मनुष्य-जीवनके सामीप्यकी ही नहीं, तादात्म्यकी भी आवश्यकताको बताता है। वास्तवमें आजके जगत्की यह एक अत्यन्त आवश्यकता है, जब कि यन्त्रों और वैज्ञानिक आविष्कारोंके प्रभावसे हमारा जीवन प्रकृति और स्वाभाविकतासे बहुत दूर होता जा रहा है।[2] वानप्रस्थाश्रम, तीर्थोंकी यात्रा, मुनियोंके आश्रम तथा गुरुकुलोंकी परम्पराका स्मरण रखनेवाली भारतीय संस्कृतिका सदासे यह सन्देश मानव जातिके लिए रहा है। आज संसारको

---

१. तु० "देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्तताम्। देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे॥" (ऋग्० १।८९।२)

"सत्यमेव देवाः" (शतपथ-ब्राह्मण १।१।१।४)। "इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति" (अथर्व० २०।१८।३) "विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवाः" (ऋग्० २।२३।१९)। "महतां...देवानां बृहताम्" (ऋग्० १०।३६।११)। "देवाः...अमृता ऋतज्ञाः। रातिषाचो अभिषाचः स्वर्विदः" (ऋग्० १०।६५।१४)। "देवान् हुवे...ज्योतिष्कृतो...ये...अमृता ऋतावृधः" (ऋग्० १०।६६।१)।

तथा "सातत्येन स्वकर्तव्यपालने ये दृढव्रताः। स्वार्थबुद्ध्या न संपृक्ताः परोपकरणे रताः॥ विश्वसंचालने भागं संजानाना उपासते।...ते देवा वेद आम्नाता महद्भ्योऽपि महत्तराः।...सायुज्यमथ सारूप्यं सालोक्यमपि वा पुनः। वस्तुतः सखिभावश्च तैः सहास्माभिरिष्यताम्॥" (रश्मिमाला ३८।१-५)।

२. तु० "प्राणिनां बुद्धिजीवित्वात् तिष्ठतां मूर्ध्नि सर्वथा। दुर्दशेयं मनुष्याणां कुत एतद् विचिन्त्यते॥ प्रकृत्या सह संपर्कं त्यक्त्वा स्वास्थ्यैककारणम्। इन्द्रियार्थेषु लोलानां मनुष्याणामियं गतिः॥"

(रश्मिमाला ३७।५६)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

इसकी और भी अधिक आवश्यकता है।

वैदिक स्तोताका स्वरूप

उपर्युक्त कल्याणोन्मुखता आदि स्वभाववाले देवताओंमें आस्था रखनेवाले वैदिक स्तोताका स्वभाव और चरित्र भी उन देवताओंके अनुरूप होना चाहिए।

"सत्यमेव देवाः, अनृतं मनुष्याः" (शतपथ-ब्राह्मण १।१।१।) अर्थात्, स्वभावसे ही देवता सत्याचरणवाले और मनुष्य अनृताचरण होते हैं) इस वैदिक उक्तिके अनुसार वह अपनी मानवस्वभाव-सुलभ त्रुटियों और दुर्बलताओंको अच्छी तरह समझता है। तो भी उसको उदात्त आदर्शोंमें विश्वास और आस्था है, और इसीलिए वह उन आदर्शोंके प्रतिमूर्ति-रूप देवताओंके अनुरूप ही अपनेको बनाना चाहता है। उसका पहला व्रत-ग्रहण यही है—

"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयम्....
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥" (यजु० १।५)

अर्थात्, हे व्रतोंके पति अग्नि देवता! मैं अनृतको छोड़कर सत्यको प्राप्त करना चाहता हूँ। तुम्हारे अनुग्रहसे मैं इसको पूरा कर सकूँ, यह मेरा व्रत है।

वह मंगलमयी आशामयी उदात्त भावनाओंका केन्द्र है। वह चारों ओर, न केवल अपने देश या जातिमें, न केवल इस पृथ्वीमें अपितु समग्र विश्वमें सुख, शान्ति, सौमनस्य, सौहार्द और प्रकाश-साम्राज्य चाहता है। उसका दृष्टिकोण अत्यन्त विशाल है।[1]

---

१. तु० "विश्वदानीं सुमनसः स्याम" (ऋग्० ६।५२।५)। "यत्रानन्दाश्च मोदाश्च...तत्र माममृतं कृधि" (ऋग्० ९।११३।११)। "पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः" (ऋग्० ६।७५।१४)। "अग्ने...मा सुचरितेभ्यो भूयासम्" (यजु० ४।२८)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैदिक उदात्त भावनाओंका वर्णन हम एक स्वतन्त्र परिच्छेदमें करेंगे।

वह अन्धकार (=अज्ञान) से प्रकाश (=ज्ञान) की ओर जाने को उत्सुक है[1]।

वह जीवनकी वास्तविक परिस्थितिको खूब समझता है; पर उससे घबराता नहीं है। उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि वह उसका वीरतापूर्वक सामना करे। वह संसारमें परिस्थितियोंका स्वामी, न कि दास, होकर जीवन व्यतीत करना चाहता है[2]।

उपर्युक्त कारणोंसे जीवन उसके लिए भारभूत या दुःखमय न होकर, उत्तरोत्तर उन्नति करनेके लिए एक महान् साधन है[3]।

वह जीवनमें ही स्वतः एक अनोखा उल्लास और उत्साह अनुभव करता है, जो केवल निर्दोष बाल्यभावसे युक्त हृदय ही अनुभव कर सकता है[4]।

उपर्युक्त भावनाओंसे ही प्रेरित होकर, वह अपने देवताओंकी स्तुति और प्रार्थना करता है। उस स्तुतिमें दास्य-भाव नहीं होता। वास्तवमें दास्य-भावसे वह परिचित ही नहीं है। "न त्वेवार्यस्य दासभावः" (अर्थात्, आर्यत्व और दास्य, दोनों एक साथ नहीं रह सकते), यह एक प्राचीन उक्ति है। उसका अपने उपास्य देवताओंके साथ सख्य-भाव या

---

१. तु० "उद्वयं तमसस्परि···अगन्म ज्योतिरुत्तमम्" (यजु० २०।२१)।

२. तु० "अहमिन्द्रो न परा जिग्ये" (ऋग्० १०।४८।५) "अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्" (अथर्व० १२।१।५४)। "मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः" (ऋग्० १०।१२८।१) "अहमस्मि सपत्नहा" (ऋग्० १०।१६६।२)। इत्यादि।

३. तु० "जीवा ज्योतिरशीमहि" (साम० पू० ३।७।७)। "उदायुषा स्वायुषोदस्थाम्" (यजु० ४।२८)। "रोहेम शरदः शतम्" (अथर्व० १९।६७।४)

४. तु० "भवेम शरदः शतम् भूषेम शरदः शतम्" (अथर्व० १९।६७।६-७)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

ऐसा ही प्रेम-मूलक भाव होता है।[1]

किसी भी दार्शनिक दृष्टिका आन्तरिक स्वरूप जीवनकी दृष्टि और चरम लक्ष्यमें प्रतिबिम्बित या पर्यवसित होना चाहिए। इसलिए वैदिक धाराको दार्शनिक पृष्ठ-भूमिके स्वरूप और प्रेरणाको ठीक-ठीक समझनेके लिए वैदिक जीवनकी दृष्टि और चरम लक्ष्यपर विचार करना आवश्यक है। इसलिए इन दोनों प्रश्नोंपर और उनसे सम्बद्ध 'सृष्टिका प्रयोजन', इस प्रश्नपर भी यहाँ हम विचार करेंगे।

वैदिक जीवनकी दृष्टि और चरम लक्ष्य

दार्शनिक दृष्टिकोणसे वैदिक जीवनकी दृष्टि और चरम लक्ष्यको हम समझ सके हैं, वह जीवन और उसके लक्ष्यके विषयमें हमारी सहस्र वर्षोंकी परम्परासे प्राप्त दृष्टिसे मौलिक रूपमें भिन्न है। इसलिए उसके अपने स्वरूपको दिखानेसे पहले परम्परागत दृष्टिको संक्षेपमें दिखाना आवश्यक है।

जैसा हम पहले परिच्छेदमें संकेत कर चुके हैं, जीवनके विषयमें हमारी परम्परागत दृष्टि (= संसार और जीवन दुःखमय हैं। अतएव हेय हैं। इनसे मोक्ष या छुटकारा पाना ही हमारा ध्येय होना चाहिए) का मौलिक आधार हमें बहुत-कुछ प्राग्वैदिक या प्राचीनतर वैदिकेतर संस्कृति संस्कृतियोंमें ही दिखाई देता है। इस विषयमें परम्परागत दृष्टि, वैदिक (= संसार और जीवनका उद्देश्य हमारा उत्तरोत्तर विकास है। उत्तरोत्तर विकासका ही नाम अमृतत्व है। यही निःश्रेयस है) से, जैसा हम दिखायेंगे, इतनी भिन्न है कि परम्परागत दृष्टिकी जड़को प्राग्वैदिक

---

१. तु० "देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम्" (ऋग्० १।८९।२)। "स नः सूनवे" (ऋग्० १।१।९)। "मातेव यद् भरसे पप्रथानः" (ऋग्० ५।१५।४)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तक ले जाये बिना हम उसके उद्गम और विकासको समझ ही नहीं सकते। दोनोंमें बहुत-कुछ वैसा ही अन्तर है, जैसा कि साधारणतया जीवनके विषयमें एक जरा-जीर्ण बूढ़े मनुष्य और एक प्रफुल्लचित्त शक्तिशाली तथा सच्चरित्र नवयुवककी दृष्टियोंमें पाया जाता है।

उक्त परम्परागत दृष्टिका मौलिक आधार जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि इधर सहस्रों वर्षोंसे भारतवर्षके वातावरणमें वह व्याप्त रही है। हमारे सारे दर्शन (वैदिक और वैदिकेतर कहे जानेवाले) तथा पुराण, धर्म-शास्त्र आदिका साहित्य प्रायः उसी दृष्टिको लेकर चलता है और उसी-को पुष्ट करना चाहता है।

यहाँ हम विषय-विस्तारके भयसे अन्य पुराणादिके साहित्यको न लेकर, केवल दर्शनोंसे ही इस विषयपर कुछ प्रकाश डालना चाहते हैं।

यह मानी हुई बात है कि हमारे सारे दर्शनोंका मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही है कि मनुष्योंको सांसारिक जीवनके दुःखोंसे छुटकारेका वास्तविक मार्ग दिखाया जाये। इसके लिए वे सब अपने-अपने दृष्टिकोणसे सांसारिक जीवनको दुःखमय, और इसीलिए 'बन्ध' कहते हैं, और उससे छूटनेको 'मुक्ति', 'मोक्ष', 'अपवर्ग', या 'निर्वाण'-जैसे शब्दों-द्वारा व्यक्त करते हैं। प्रायः सब, किसी-न-किसी रूपमें, हेय (= त्यागनेके योग्य, अर्थात् दुःख), हेयहेतु (= अविद्या आदि कारण, जिनसे दुःख उत्पन्न होता है), हान (= दुःखका मुक्तिके रूपमें नाश) और हानोपाय (= दुःखसे मुक्ति पानेके तत्त्वज्ञान आदि उपाय), इन चार पदार्थोंका मुख्यतया प्रतिपादन करते हैं[1]।

---

१. तु० "हेयं दुःखमनागतम्। तस्य हेतुरविद्या। तदभावात् संयोगाभावो हानम्...। विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।" (योगसूत्र २।१६,२४-२६)। "हेयं, तस्य निवर्तकं, हानमात्यन्तिकं, तस्योपायोऽधिगन्तव्य इत्येतानि चत्वार्यर्थपदानि सम्यग् बुद्ध्वा निःश्रेयसमधिगच्छति।" (न्यायसूत्र-वात्स्यायनभाष्य १।१।१)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

उदाहरणार्थ, 'गौतम-न्यायसूत्र'में कहा है : "दुःखजन्मप्रवृत्तिदो मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः । बाधनालक्ष दुःखम् । तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः । विविधबाधनायोगाद् दुःखमेव जन्मे त्पत्तिः ।" (न्यायसूत्र १।१।२,२१–२२ । तथा ४।१।५५) ।

अर्थात्, दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान, इनमें-से उत्तरो (मिथ्याज्ञान आदि) के अपायसे उनके अनन्तर (दोष आदि) का अप हो जाता है, और इस प्रकार अपवर्ग अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होती है दुःखके अत्यन्त अभावको ही अपवर्ग कहते हैं । अनेक-संकटाकीर्ण होने जन्मको भी दुःख-स्वरूप ही मानना चाहिए ।

इसी प्रकार 'कापिल-सांख्यसूत्र'का कहना है : "अथ त्रिविधदु खात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः । ज्ञानान्मुक्तिः । बन्धो विपर्ययात् । (सांख्यसूत्र १।१ । तथा ३।२३–२४),

अर्थात्, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, इन तीनों प्रका दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति ही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है । तत्त्वज्ञा 'मुक्ति' होती है और 'बन्ध' का कारण मिथ्याज्ञान है ।

इसी प्रकार हेय, हेय-हेतु, हान तथा हानोपायकी व्याख्याके साथ 'पातञ्जल-योगसूत्र'का कहना है : "दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (योग २।१५) ।

अर्थात् विवेकी मनुष्यकी दृष्टिमें यह सारा संसार दुःखरूप ही है ।

बौद्ध-दर्शनमें भी "सर्वं दुःखम्" (= संसारमें सब-कुछ दुःखमय है ऐसी भावनापर बड़ा बल दिया गया है । जीवनके चरम लक्ष्यभूत मो लिए उनका पारिभाषिक शब्द 'निर्वाण' (= दीपककी लौकी तरह जाना) है, जिसमें स्पष्टतः अभावात्मक अर्थकी प्रधानता है ।

इसी प्रकार वेदान्त-दर्शन, जैन-दर्शन, आदिमें भी बन्ध, दुःख मोक्षका सिद्धान्त किसी-न-किसी रूपमें माना गया है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उक्त दार्शनिक विचारधाराका जीवनकी दृष्टि और उसके चरम लक्ष्य-के सम्बन्धमें क्या अर्थ निकलता है, इसपर किंचित् विचार करनेकी आवश्यकता है।

सबसे मुख्य बात यही है कि उक्त दार्शनिक विचारधाराकी दृष्टिसे हमें मानना पड़ता है कि –

१. यह संसार, चाहे वह किसी ईश्वरका बनाया हुआ है, या हमारे अदृष्ट (= पुण्य तथा अपुण्य) के कारण या अन्यथा अपने रूपमें आया है, निश्चित रूपसे हमारे कर्मोंके फलोंको भोगनेका स्थान है;

२. हमें उन फलोंको भोगनेके लिए किसी अदृष्ट शक्ति-द्वारा बरबस इसमें डाला गया है;

३. अतएव यह हमारे लिए बन्ध, दूसरे शब्दोंमें, कारागृह या जेलके रूपमें है।

इसीलिए यह संसार, चाहे प्रकृतिने इसे कितना ही सुन्दर क्यों न बनाया हो, हमारे लिए केवल दुःखमय है। स्वभावतः कोई भी क़ैदी जेल-के अन्दरके शोभा-सौन्दर्यमें कोई रुचि नहीं रख सकता। उसका मन तो सदा अपनी मुक्तिकी प्रतीक्षामें ही व्यग्र रहता है। इस तरह हमारा प्रथम कर्तव्य हो जाता है कि किसी-न-किसी प्रकारसे इस दुःखमय संसारके बन्धनसे मुक्तिकी प्राप्ति की जाये।

इस विचारधाराके अनुसार सृष्टिका प्रयोजन केवल यही रह जाता है कि वह हमारे लिए एक जेलका काम कर सके। ऐसी अवस्थामें हमारे दुःखमय जीवनका चरम लक्ष्य भी केवल निषेधात्मक या अभावात्मक मोक्ष या छुटकारा-मात्र रह जाता है।

इस प्रकारकी जेलकी मनोवृत्तिमें आशावाद, उल्लास और उदात्त नैतिक भावनाओंके स्थानमें केवल निराशावाद, अवसाद और नैतिक अधः-पतनका ही प्रसार हो सकता है। ऐसे वातावरणमें जीवनका नीरस और भाररूप हो जाना स्वाभाविक है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

इस विचारधाराका हमारे पुराणादिके साहित्यपर कैसा प्रभाव पड़ा उसके कुछ नमूने हम नीचे उद्धृत करते हैं।

संसार या मृत्यु-लोकके विषयमें कोई कह रहा है –

मृत्युलोके महादुःखं कथयामि ततः शृणु।
....

संसारः स्वप्नमात्रश्च चलाः प्राणा धनं तथा।
सुखं तत्र न पश्यामि दुःखं तत्र दिने दिने॥
इन्द्रजालमयं दृष्ट्वा संसारं...
अभ्रमध्ये च पश्यन्ति चञ्चलां विद्युतां गतिम्।
क्षणं दृष्ट्वा च नश्यन्ति तथा संसारिणो जनाः॥
जले च बुद्बुदो यद्वत्तद्वत्संसारिणो जनाः।...

अर्थात्, मृत्युलोकमें महादुःख है। संसार एक स्वप्न-मात्र है। प्रा धनादि अस्थायी हैं। उसमें सुख नाम-मात्रको नहीं है; दुःख प्रतिदिन ब है। संसार इन्द्रजालमय या धोखेकी चीज है। बादलोंमें चंचल वि अथवा पानीमें बुलबुलेके समान ही मनुष्योंका जीवन है। इत्यादि।

'बोधसार' (पृ० १७, १९) में कहा है—

कारागृहं गर्भवासो बाल्यं केवलमूढता।
तत्रापि दुःसहात्यन्तं पराधीनतया स्थितिः॥
पुनर्जन्म पुनर्मृत्युः पुनर्दुःखं पुनर्भयम्।
न जानाति गतिं जन्तुर्निमग्नो मोहसागरे॥

अर्थात्, अज्ञानके सागरमें डूबा हुआ प्राणी इस संसारकी गतिको समझता। वास्तवमें गर्भमें रहना कारागारके समान है, बाल्यावस्थामें मूढ़ता ही रहती है और साथ ही उस समयमें अत्यन्त पराधीन हो रहना पड़ता है। इस संसारमें बार-बार जन्म, बार-बार मृत्यु, बार दुःख और बार-बार भय, यही लगा हुआ है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसी प्रकारके संसारको हेय, असार और मिथ्या तथा जीवनको क्षण-भंगुर और दुःखमय बतानेवाले विचार हमारे पुराणादिमें तथा संस्कृतेतर प्रान्तीय भाषाओंके साहित्यमें भी भरे पड़े हैं।[1] भारतवर्षकी जनतापर और विशेषकर हमारे पारिवारिक आदि जीवनपर उनका जैसा निराशामय प्रभाव रहा है और अबतक है, वह किससे छिपा है ?

उपर्युक्त विचारधाराकी तुलनामें अब हमें वैदिक विचारधाराको देखना चाहिए।

वैदिक विचारधाराके अनुसार हमारा जीवन, एक क़ैदीका-सा दुःखमय निराशामय जीवन न होकर, हमारे उत्तरोत्तर विकासकी एक आशामय अवस्थाविशेष है। जैसे अपनी बुद्धि और ज्ञानके उत्तरोत्तर विकासके लिए उत्सुक छात्र उत्साह और उमंगके साथ एक श्रेणीसे दूसरीमें, दूसरीसे तीसरीमें, इसी तरह क्रमशः उत्तीर्णता प्राप्त करता हुआ, अपने विकासके मार्गमें अग्रसर होता जाता है, वैसे ही जीवनकी यात्रामें उन्नति-विरोधिनी भावनाओं और शक्तियोंपर विजय प्राप्त करता हुआ, आत्मा बराबर अपने उत्तरोत्तर विकासकी ओर उन्नति करता जाता है।

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥
(यजु० २०।२१)

(अर्थात्, अज्ञानसे प्रकाशकी ओर बढ़ते हुए हम अपनेको उत्तरोत्तर

---

१. दे० "कष्टेऽस्मिन् दुःखबहुले निःसारे भवसागरे। रागग्राहाकुले रौद्रे विषयोदकसंप्लवे॥ इन्द्रियावर्तकलिले दुष्टोर्मिशतसंकुले। मोहपङ्काविले दुर्गे लोभगम्भीरदुस्तरे॥ निमज्जज्जगदालोक्य निरालम्बमचेतनम्। पृच्छामस्त्वां महाभागं ब्रूहि नो मुनिसत्तम!॥..." (ब्रह्मपुराण २६।१९।२१) तथा "अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः। आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत्तत्र न पण्डितः॥" (महाभारत, शान्तिपर्व, २०५।४)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

समुन्नत करें,[1]) आदि वैदिक वचनोंमें इसी उत्तरोत्तर विकासकी ओर है। इस दृष्टिसे मनुष्य-जीवनके स्वरूपका वर्णन हम अपने शब्दोंमें प्रकार कर सकते हैं :

जीवनं परमोत्कृष्टः प्रसादो जगतीपतेः।
तस्य तत्त्वं रहस्यं च ये विदुस्ते मनीषिणः॥
कर्मैव जीवनं नित्यं विकासस्तस्य भास्वरः।
उत्तरोत्तरलोकेषु कर्तव्यत्वेन मन्यताम्॥
उत्तरोत्तरमुत्कर्षि जीवनं शाश्वतं हि नः।
अस्पृष्टं तमसा चापि मोहरूपेण सर्वथा॥

(रश्मिमाला २।१, ६-

अर्थात्, यह हमारा जीवन भगवान्का सर्वोत्कृष्ट प्रसाद है। मनी लोग ही इसके तत्त्व और रहस्यको समझते हैं। कर्म ही तो जीवन उसका प्रकाशमय उत्तरोत्तर विकास ही हमारा कर्तव्य है। वास्तवमें आत्माका जीवन शाश्वत है। वह सर्वदा उत्तरोत्तर उत्कर्षकी ओर ब है। वह मोह अथवा निराशारूपी अन्धकारसे परे है।

इस विचारधाराकी दृष्टिसे, यह स्पष्ट है, इस सृष्टिका प्रयोजन बन्ध या क़ैदमें डालकर दण्ड देनेका नहीं है, अपितु हमारे सतत-समृ शील विकासमें सहायक होना ही है।

जगत्-सृष्टिके मूलमें जो भी सर्जन करनेवाली शक्ति है, वह नि ही चेतनायुक्त होनेके साथ-साथ करुणामयी भी है[2]। उसके द्वारा उत्प

---

१. तु० "परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु" (अथर्व० १८।३।६२)। "भद्रादधि प्रेहि" (अथर्व० ७।८।१)। "स्वरभिविख्येषम्" (यजु० १।११)। "मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मामृतं गमय।" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३

२. तु० "विश्वमेतद् यथा शक्त्या धार्यते पाल्यते तथा! नूनं सा बुद्धिश्चेतना चैव मन्यताम्॥ तया सहेतुकं विश्वमाब्रह्माण्डं व्यवहि चाल्यते हितभावेन···॥" (रश्मिमाला ६६।१-२)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हुई इस सृष्टिका सारा उद्देश्य या प्रयोजन केवल हमारे विकासमें सहायता देनेका ही है; ठीक उसी तरह, जैसे एक सुन्दर रमणीय विद्यालयका निर्माण बच्चोंके सर्वप्रकारके विकासके लिए होता है। ऐसे स्कूल या विद्यालयके छात्रों और जेलके क़ैदियोंकी मनोवृत्तियोंमें कितना मौलिक अन्तर होता है! एक क़ैदीके निराशामय और दुःखमय जीवनकी तुलनामें, छात्रके जीवनमें आशा, उल्लास और उत्साह होते हैं। उसका हृदय आशाके प्रकाशसे सदा प्रकाशित रहता है। उसके जीवनका पहला मन्त्र होता है :

निराशायाः समं पापं मानवस्य न विद्यते ॥
आशा सर्वोत्तमं ज्योतिर्निराशा परमं तमः ॥
(रश्मिमाला १।१,३)

अर्थात्, मनुष्यके लिए निराशाके बराबर दूसरा पाप नहीं है। आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है और निराशा घोर अन्धकार है।

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि वैदिक विचारधाराके अनुसार जीवनका चरम लक्ष्य, दुःखका अभावरूप, मुक्ति या मोक्ष-जैसा न होकर, निश्चितरूपसे भावात्मक ही है। वह चरम लक्ष्य केवल अमृतत्व, आनन्त्य या निःश्रेयस ही कहा जा सकता है। वैदिक साहित्यमें प्रायः इन्हीं शब्दों-द्वारा चरम लक्ष्यका निर्देश किया गया है।

इन अमृतत्व आदि शब्दोंका अभिप्राय यही है कि मनुष्य (या आत्मा) अपनी अज्ञानबहुल अपूर्णताकी अवस्थासे अपनेको विकसित करता हुआ, पूर्णताकी ओर बढ़ता जाता है। वह पूर्णता स्वयं अनन्त है, उसी तरह, जैसे आकाश या अनन्तानन्त सूर्यरूपी ताराओंसे युक्त यह दृश्य तथा अदृष्ट ब्रह्माण्ड अनन्त है।

जीवनके इसी चरम लक्ष्यको वैदिक परिभाषामें 'अन्धकारसे प्रकाशकी ओर जाना' (तु० "तमसो मा ज्योतिर्गमय" बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८) या 'आनन्दमय ज्योतिर्मय अमृत लोककी प्राप्ति' (तु० "यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्। तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षिते।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

ऋग्० ९।११३।७) जैसे भावात्मक आदर्शोंके रूपमें भी प्रायः वर्णन गया है। वास्तवमें इन सबका अभिप्राय एक ही है।

वैदिक दार्शनिक दृष्टिका महत्त्व

भारतीय संस्कृतिकी वैदिक धाराकी दार्शनिक पृष्ठभूमिको जिस हमने ऊपर दिखाया है, वह वास्तवमें अत्यन्त प्राचीन होनेपर भी प्रकारसे बिलकुल नवीन भी है। कमसे-कम यह तो स्पष्ट ही है कि सहस्रों नहीं, तो सैकड़ों वर्षोंसे हमारी जिस उत्तरवर्ती दार्शनिक धाराको वैदिक समझा जाता रहा है, वह वैदिक विचारधाराकी दार्शनिक दृष्टिसे अत्यन्त भिन्न है।

वैदिक धाराकी मौलिक दार्शनिक दृष्टिके विषयमें जो कुछ ऊपर गया है, वह किंचिन्मात्र भी वैदिक मन्त्रोंकी खींचा-तानीपर आश्रित है। हमारा विश्वास है कि वैदिक मन्त्रोंमें जो उदात्त, आशामय धारा बह रही है, उसको हम पूर्वोक्त दार्शनिक दृष्टिको स्वीकार किये समझ ही नहीं सकते। एकके बिना दूसरी रह नहीं सकती।

बहुत-से विद्वानोंको भी यह जानकर आश्चर्य होगा कि वैदिक ताओंमें 'मुक्ति', 'मोक्ष' अथवा 'दुःख' शब्दका प्रयोग एक बार भी नहीं मिला। हमारी समझमें उपर्युक्त वैदिक दार्शनिक दृष्टिकी पुष्टि एक अद्वितीय प्रमाण है।

जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि उपर्युक्त दार्शनिक पृष्ठभू भावभित्तिके आधारपर ही हम अधिकतर वैदिक मन्त्रोंके स्वरूपको सकते हैं और वैदिककालीन आर्योंके जीवनको मानो स्नेहमयी प्रकृति की गोदमें खेलते हुए बच्चोंका उल्लासमय जीवन कह सकते हैं। वह प्रकृतिके प्रत्येक रूपमें : उषामें, रात्रिमें, अरण्यानीमें, सूर्य और वायुमें, सर्वत्र ही अकृत्रिम सौन्दर्य, माधुर्य और निर्दोष आनन्दकी धाराका अनुभव कर सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उक्त मानसिक अवस्थाका वर्णन हम अपने शब्दोंमें इस प्रकार कर सकते हैं :

प्रकृतेर्मातृभूतायाः क्रोड़े क्रीडन्ननारतम् ।
लालितः पालितश्चापि सदानन्दो वसाम्यहम् ॥
स्नेहार्द्रं नित्यसंस्थायि तस्या माधुर्यमद्भुतम् ।
दृष्ट्वा पीत्वेव पीयूषं सदानन्दो वसाम्यहम् ॥

(रश्मिमाला ३६।१-२)

अर्थात्,

प्रकृति-माता की गोद में
सदा क्रीड़ा करता हुआ,
तथा लालित और पालित,
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ !
उसके स्नेह से आर्द्र, नित्य रहने वाले,
अद्भुत माधुर्य को देखकर,
मानो अमृत को पीकर,
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ !

लोकोत्तरेण दिव्येन माधुर्येण समन्विता ।
येयं प्रसादनी शक्तिर्लोके सर्वत्र संस्थिता ॥
सूर्ये चन्द्रे जले वायावुत्फुल्लकुसुमावलौ ।
सेयमाविर्भवेत् शश्वत् तिष्ठतान्मम मानसे ॥

(रश्मिमाला ३४।१-३)

अर्थात्,

लोकोत्तर दिव्य माधुर्य से समन्वित,
जो प्रसादनी शक्ति
सृष्टि में सर्वत्र –
सूर्य में, चन्द्रमा में, जल में, वायु में,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

प्रफुल्ल कुसुमावलि में –
संस्थित है, वह आविर्भूत होकर
सर्वदा मेरे मन में वास करे !

उपर्युक्त भाव-भूमिकामें ही हम वेदके अनेकानेक जीवन-संगीत मर्मको समझ सकते हैं। उदाहरणार्थ, ऐसा ही एक जीवन-संगीत हम देते हैं :

पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम् ।
बुध्येम शरदः शतम् । रोहेम शरदः शतम् ।
पूषेम शरदः शतम् । भवेम शरदः शतम् ।
भूषेम शरदः शतम् । भूयसीः शरदः शतात् ॥
(अथर्व० १९।६७।१

अर्थात्, सौ और सौसे भी अधिक वर्षों तक हम जीवित रहें, सुनने आदिमें सशक्त रहें, ज्ञानका उपार्जन करें, बराबर उन्नति करें पुष्ट रहें, आनन्दमय स्वस्थ जीवन व्यतीत करते रहें और अपनेको करते रहें !

जीवनके विषयमें यह सुखद, स्वस्थ, भव्य और स्वर्गीय कितनी उत्कृष्ट है ! भारतीय संस्कृतिकी लम्बी परम्परामें निस्सन्देह अद्वितीय है और गंगाकी लम्बी धाराकी परम्परामें गंगाजलके समान दिव्य और पवित्र है !

इस मौलिक वैदिक विचारधाराका वैदिक-कालमें ही शनैः रूपान्तर कैसे हो गया, इसको हम आगे दिखानेका यत्न करेंगे।[1]

■

१. वैदिकधाराकी दार्शनिक पृष्ठभूमिको जैसा हमने समझा है उसका वर्णन हमने अपनी पद्यात्मक रचना 'रश्मिमाला,' अथवा 'जीवन-गीताञ्जलि' (प्रकाशक-हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) में है, जिज्ञासु पाठक उसे देख सकते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

सातवाँ परिच्छेद

वैदिक धाराकी तीन अवस्थाएँ

पिछले परिच्छेदमें, वैदिक धाराकी दार्शनिक पृष्ठभूमिका वर्णन करते
ए, हमने वैदिक धाराके इतिहासमें क्रमशः आनेवाली विभिन्न अवस्थाओं-
ओर संकेत किया है। यह सत्य है कि हमारे प्राचीन ग्रन्थकारोंके
खोंमें किसी भी विचारधाराकी क्रमिक अवस्थाओंपर विचार करनेकी
द्धति स्पष्टतः नहीं पायी जाती। इन ग्रन्थकारोंका अपना दृष्टिकोण प्रायः
म्प्रदायिक होता है और वे उसी दृष्टिकोणसे अपनी साम्प्रदायिक विचार-
राके गीत गाते हैं। उनके लिए उनकी साम्प्रदायिक विचारधारा एक
रन्तन, शाश्वत परम्पराकी वस्तु होती है और इसीलिए उसके प्रारम्भ,
कास और ह्रासके विषयमें विचार करनेकी गुंजाइश ही नहीं होती।

परन्तु प्रकृत ग्रन्थकी तो विशेषता ही यह है कि भारतवर्षकी विभिन्न
चारधाराओंमें न केवल उनके पारस्परिक प्रभाव अथवा आदान-प्रदानको
खाया जाये, अपितु उनमें-से प्रत्येक प्रधान विचारधाराकी अवान्तर
मिक अवस्थाओंको दिखाते हुए, उसके अनन्तर आनेवाली विचारधाराके
थ, उसके ऐसे अपरिहार्य क्रमिक सम्बन्धको भी सहेतुक दिखाया जाये,
ससे अन्तमें हम समष्टिमूलक भारतीय संस्कृतिकी एक जीवित अवि-
छन्न परम्पराके सिद्धान्तकी स्थापना कर सकें।

किसी भी ऐतिहासिक विकासके अध्ययनमें दो पक्ष हो सकते हैं।
क तो बाह्य प्रभावोंका अन्वेषण, और दूसरा, आन्तरिक कारणोंका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

विश्लेषण। इन दोनोंमें-से प्रथमकी अपेक्षा दूसरेका महत्त्व स्पष्टतः अधिक होता है। हमारी उन्नति या अवनतिमें बाह्य कारणोंकी हमारा ही उत्तरदायित्व अधिक होता है।[1] विचारशील मनुष्यके अन्तरवेक्षण या आत्मपरीक्षणका महत्त्व इसीलिए अत्यधिक माना जाता

उपर्युक्त कारणोंसे, प्रकृत ग्रन्थकी दृष्टिसे, वैदिक धाराके इतिहास क्रमशः आनेवाली अवस्थाओंका विचार, और वह भी उसकी अन्तरंग प्रधान प्रवृत्तियोंके अध्ययनके आधारपर, किया जाना आवश्यक है।

वैदिक धाराके इतिहासमें, जैसा हम नीचे दिखायेंगे, विभिन्न प्रवृ तो पायी ही जाती हैं, साथ ही आगे चलकर एक ऐसा समय आता जब वैदिक धाराका, विनशन-प्रदेशमें ऐतिहासिक सरस्वती नदीका प्रायेण विलोप हो जाता है और उसके स्थानमें अन्य धाराएँ बहती दीखती हैं। इस सारी परिस्थितिको ठीक-ठीक समझनेके लिए हमको धाराके प्रारम्भ, विकास और ह्रासके स्वरूप और कारणोंके अध्ययन अनुसन्धानमें बलात् प्रवृत्त होना पड़ता है।

इस अनुसन्धानको विशुद्ध कल्पना-मूलक या युक्ति-मूलक ही न झना चाहिए। प्रसन्नताकी बात है कि संस्कृत-साहित्यमें भी इस अनुस के लिए पुष्कल सामग्री और प्रमाण मिल जाते हैं। इसलिए नीचे हम प्रत्येक प्रतिपादन, आवश्यक युक्तियोंके साथ-साथ, यथासम्भव प्रमाणोंके आधारपर करना चाहते हैं।

---

१. तु० "व्रजत्यधः प्रयात्युच्चैर्नरः स्वैरेव चेष्टितैः।"

२. देखिए—"हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि। प्रत्यगेव प्रयाग मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः॥" (मनुस्मृति २।२१)। यहाँ टीकाकारोंके 'विनशन' वह स्थान कहलाता था, जहाँ सरस्वती नदी लुप्त होती थी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

वैदिक परम्पराके तीन काल

'वैदिक वाङ्मयकी रूपरेखा' (परिच्छेद ५) से विशाल वैदिक वाङ्मयके महान् विस्तारके साथ-साथ, विभिन्न स्तरोंका भी कुछ संकेत पाठकोंको मिल गया होगा। इस विस्तृत वाङ्मयके विकासका काल कितना लम्बा होगा, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है। विभिन्न विद्वानोंके अनुसार, यह सैकड़ों वर्षोंसे सहस्रों वर्षों तकका हो सकता है। इसी लम्बे कालमें वैदिक परंपराके प्रारम्भ, विकास और ह्रासका इतिहास छिपा होना चाहिए। वास्तवमें है भी ऐसा ही।

इसी दिशामें, सौभाग्यवश, यास्कआचार्य-कृत सुप्रसिद्ध 'निरुक्त'में हमको एक अत्यन्त महत्त्वका प्रमाण मिलता है। वेदके छह अंगोंमें निरुक्त[1] का प्रमुख स्थान है। इसलिए निरुक्तके प्रमाणका मूल्य अत्यधिक है, इसमें विवाद नहीं हो सकता।

निरुक्तका उपर्युक्त प्रमाण यह है—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदाङ्गानि च।" (निरुक्त १।२०)।

अर्थात्, प्रारम्भमें ऐसे ऋषि हुए, जिन्होंने धर्मका स्वयं साक्षात्कार किया था। उनके पीछे ऐसे लोग आये, जिन्होंने स्वयं धर्मका साक्षात्कार नहीं किया। उन्होंने उपदेश-द्वारा मन्त्रोंको प्राप्त किया। उनके भी अनन्तर ऐसे लोग हुए, जिनको मन्त्रोपदेशमें रुचि नहीं थी। इन्हीं लोगोंने मन्त्रार्थको समझनेके लिए वेद और वेदांगोंका समाम्नान (= संग्रन्थन) किया।

स्पष्टतः इसका अभिप्राय यही है कि निरुक्तकार यास्कके समय तक वैदिक वाङ्मयकी परम्पराको तीन कालोंमें विभाजित किया जाता था।

---

१. तु० "तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्।" (निरुक्त १।१५); "निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते" (पाणिनिशिक्षा)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

इनमें-से प्रथम कालको 'मन्त्र-काल' भी कहा जा सकता है। इसी काल ऋषियोंने, जिनको मन्त्रोंमें 'कवि' भी कहा गया है, अपने मानस तपोबल और लोकोत्तर प्रतिभासे 'धर्म' का (अग्नि, आयु, आदित्य आदि देवताके स्वरूपका, अथवा मन्त्रोंमें प्रतिपादित अर्थका) स्वयं साक्षात्कार अनुभव किया और उसको मन्त्रों-द्वारा प्रकट किया। ऊपरके उद्धरण 'साक्षात्कृतधर्माणः' का यही अभिप्राय है। दूसरे शब्दोंमें, मन्त्रोंके 'दर्शन' या निर्माणका यही युग था।

द्वितीय कालको हम 'मन्त्र-प्रवचन-काल' भी कह सकते हैं। इस कालमें मन्त्रोंका 'दर्शन' या निर्माण बहुत-कुछ रुक चुका था, क्योंकि परिवर्तित नूतन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितिमें मन्त्रोंके 'दर्शन' या निर्माणके लिए पहले-जैसी प्रेरणा नहीं रही थी। उस समय प्राचीन श्रुतिपरम्पराप्राप्त प्राचीन मन्त्रोंको, गुरु-शिष्यकी प्रवचन-श्रवण-पद्धति द्वारा सुरक्षित रखनेपर ही ध्यान था।

ऐसा प्रतीत होता है कि वेदके लिए 'श्रुति' शब्दके प्रयोगका प्रारम्भ इसी समय हुआ था।

शनैः-शनैः ऐसा समय (तृतीय काल) आया जब कि उक्त प्रवचन-श्रवण-पद्धतिमें भी शिथिलता आने लगी और अनुभव किया जाने लगा कि परम्पराप्राप्त वाङ्मयका ग्रन्थीकरण किया जाये। वैदिक संहिताओंके साथ-साथ ब्राह्मणों-जैसे वाङ्मयका संग्रन्थन इसी कालकी कृति है।

'ऋक्संहिता', 'यजुःसंहिता' आदिमें प्रयुक्त 'संहिता' शब्दसे भी इस बातकी पुष्टि होती है। 'संहिता' शब्दका वास्तविक अर्थ आज-कल विलुप्त-सा हो रहा है। पर इसके ठीक-ठीक अर्थको समझ लेनेसे संहिता-वाङ्मयके सम्बन्धमें अनेक ग्रन्थियोंका समाधान स्वतः हो जाता है।

---

१. इस सम्बन्धमें इसी ग्रन्थके परिशिष्ट (क) में 'संस्कृत-साहित्यमें ग्रन्थ-ग्रन्थि' शीर्षक लेख देखिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

प्राचीन परम्पराके अनुसार 'महाभारत' एक संहिता है; 'वाल्मीकि-रामायण'को संहिता नहीं कहा जाता। इस एक ही उदाहरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'संहिता' शब्दका तात्पर्य प्रथमतः ऐसे संग्रहात्मक ग्रन्थसे होता है, जिसमें विभिन्न स्रोतोंसे प्राप्त सामग्रीको एकत्र कर दिया जाता है। 'महाभारत' इसी अर्थमें एक संहिता है, ऐसा विद्वानोंका मत है। 'चरक-संहिता', 'सुश्रुत-संहिता' आदिमें भी 'संहिता' शब्दका मौलिक अर्थ यही है।

इसलिए यही मानना पड़ता है कि विभिन्न कालमें 'दृष्ट' या निर्मित और अनेक ऋषिवंशोंमें बिखरे हुए परम्परा-प्राप्त मन्त्रोंके संग्रह होनेके कारण ही वैदिक संहिताओंको 'संहिता' कहा जाता है। स्पष्टतः मन्त्र-निर्माण-कालसे संहिताओंका काल बहुत पीछेका है। ऐसा होनेपर भी, कुछ सम्प्रदायवादियोंका यह कथन कि वैदिक संहिताएँ अपने वर्तमान रूपमें 'अनादि' या 'अपौरुषेय' हैं, कितना उपहासास्पद प्रतीत होता है!

निरुक्तके ऊपर दिये गये उद्धरणमें, जिन तीन कालोंका उल्लेख है, उनमें-से एक-एक कालकी लम्बाई काफ़ी बड़ी रही होगी। प्रत्येक परम्पराके लिए लम्बे कालकी अपेक्षा होती है।

वैदिक विचारधाराका इतिहास

ऊपर प्रधानतः वैदिक मन्त्रोंका निर्माण, उनकी श्रुति-परम्परा और संग्रन्थनके आधारपर सामान्य रूपसे तीन कालोंका विचार किया गया है। पर वैदिक मन्त्रोंकी परम्पराके साथ-साथ चलनेवाली वैदिक विचार-धाराका भी कोई इतिहास होना चाहिए। ऋषियों-द्वारा मन्त्रोंकी प्रवृत्ति एक विशेष कालमें ही हुई, और आगे चलकर प्रायेण वह रुक गयी, इसका मौलिक कारण उस कालकी विभिन्न परिस्थितियोंमें ही मानना पड़ेगा। उन परिस्थितियोंका प्रभाव, मन्त्रोंकी अपनी परम्पराकी तरह, उनके साथमें चलनेवाली विचारधारापर भी अवश्य पड़ना चाहिए। उन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

विभिन्न राजनीतिक आदि परिस्थितियोंपर विचार करनेका यह अवस नहीं है। यहाँ तो हम केवल मन्त्र-परम्पराके उपर्युक्त तीनों कालोंमें बहने वाली विचारधाराका वर्णन करेंगे।

वैदिक धाराका प्रथम काल

ऋषियों-द्वारा वैदिक मन्त्रोंके प्रवर्तनका यह युग वास्तवमें वैदिक संस्कृतिका उषःकाल था, जब प्राणप्रद वातावरण और जीवनके प्रभावोंसे प्रेरित होकर आर्यजाति अपने यशस्वी जीवनकी लम्बी विजय यात्रामें अग्रसर हो रही थी, और अपने वेदमय (= विचारशील) पुरोहितों अर्थात् पुरोगामी नेताओंके नेतृत्वमें उसके प्रभावका बराबर विस्तार हो रहा था। वास्तवमें इसी उत्साहप्रद जातिव्यापी वातावरणने ऋषियोंको मन्त्रोंके प्रवर्तनमें प्रेरणा प्रदान की थी।

इस कालमें मन्त्रात्मक वेद और आर्यजातिके जीवनमें एक प्रकारकी एकरूपता थी। उसका जीवन वेद था और वेद जीवन था; क्योंकि एकको दूसरेकी व्याख्या की जा सकती थी और आर्यजातिके जीवनमें उदात्त वैदिक आदर्शोंका जीता-जागता नमूना दिखाई देता था।

उस समयमें आर्यजातिके अन्तर्हृदयमें जो उत्साह और उमंगकी लहरें उद्वेल्लित हो रही थीं, जो ओज उसकी धमनियोंमें वह रहा था, उसका प्रत्यक्ष दर्शन आज भी वैदिक मन्त्रों-द्वारा हो सकता है।[1] आर्यजातिका सतत-कर्मशील जीवनकी वास्तविकता और आशावाद, तथा साथ ही विश्वमें व्याप्त दैवी शक्तिकी साक्षात् अनुभूति मन्त्रोंके प्रत्येक शब्दमें प्रतिध्वनित हो रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो विश्व-विजयिनी आर्यजातिकी विजय-यात्राओंमें देवता उसके साथ 'मार्च' करते थे। वास्तवमें इसी युगकी मन्दस्मृतिको पुराणोंमें आलंकारिक भाषामें, मनुष्यों

१. उदाहरणार्थ, 'ऋग्वेद' १०।१०३ को देखिए। इस सूक्तके मन्त्र, न केवल अर्थकी दृष्टिसे ही, किन्तु सुननेमें भी, युद्धगीत-जैसे प्रतीत होते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

बीचमें देवताओंके आने और वार्तालाप करनेके रूपमें, वर्णन किया गया है।

पिछले परिच्छेदमें वैदिक धाराकी जिस दार्शनिक दृष्टिका प्रतिपादन हमने किया है, उसका विशुद्ध, वास्तविक जीवित रूप इसी प्रथम कालमें हमें मिलता है। उस आशावादिनी दार्शनिक दृष्टिको जन्म देनेवाली और बराबर अनुप्राणित करनेवाली भद्रभावना, समष्टिभावना आदि वैदिक उदात्त भावनाओंका मुख्य समय यही था।

वैदिक उदात्त भावनाओंका वर्णन, जिनको हम वैदिक संस्कृतिका प्राण समझते हैं, हम अगले परिच्छेदमें करेंगे।

कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि इस प्रथम कालमें, जो सच्चे अर्थोंमें कृति और निर्माणका युग था, और जिसको हम पिछली पौराणिक भाषामें 'सत्ययुग' या 'कृतयुग' का नाम दे सकते हैं, सुप्रसिद्ध पूजा-पद्धतिके रूपमें, कर्मकाण्डका नाम-मात्र रहा होगा। उस समय तो आर्योंका जीवन ही उनका कर्मकाण्ड था। किसी भी जातिके निर्माण-कालमें उसका सतत-कर्म-शील जीवन ही 'कर्मकाण्ड' होता है। जीवनमें इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि कृत्रिम कर्मकाण्डकी ओर मनुष्य प्रवृत्त हों। जो कवि स्वयं अपनी स्तुतियोंकी रचना कर सकता है, वह दूसरोंके वैसे ही पदोंको लेकर किसी कर्मकाण्डमें प्रवृत्त नहीं होता।

वास्तवमें, जैसा हम नीचे दिखायेंगे, कर्मशील जीवन और कर्मकाण्डके विस्तारमें एक द्वन्द्वात्मक अनुपात रहा करता है। किसी भी संस्कृति या जातिके इतिहाससे इस तथ्यको प्रमाणित किया जा सकता है।

वैदिक धाराका द्वितीय काल

वैदिक धाराके प्रथम कालमें आर्यजातिके प्रभावका बराबर विस्तार हो रहा था, यह हमने ऊपर कहा है। इसके अनन्तर व्यवस्था और संगठनके प्रारम्भका युग आता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

द्वितीय कालमें वैदिक धारामें जहाँ एक ओर स्थिरता और गम्भीर आयी और भारतीय जीवन, समाज और राजनीतिको व्यवस्थित करने प्रवृत्तिका प्रारम्भ हुआ, वहाँ दूसरी ओर परम्परासे प्राप्त वैदिक मन्त्र और उनकी विचारधाराको सुरक्षित रखनेका प्रयत्न किया गया।

उपर्युक्त वैदिक परम्पराकी रक्षाकी प्रवृत्तिके कारण ही, प्रथम काल के समान इस युगमें भी, वैदिक आदर्शोंका जीता-जागता रूप, न केवल शाब्दिक परम्पराके रूपमें, अपितु जीवनमें वस्तुतः पायी जानेवाली वैदिक उदात्त भावनाओंके रूपमें भी, आर्यजातिमें विद्यमान था। निश्चय ही उस दिव्य जीवन और अवस्थाका ज्ञान हमें केवल वेद-मन्त्रोंसे ही हो सकता है। उत्तरकालीन साहित्य, चाहे वह कितना ही प्राचीन क्यों न हो, उस अवस्थाको ठीक-ठीक अनुभव करनेमें हमारा सहायक नहीं हो सकता।

प्रथम कालके समान इस युगमें भी हमारे पूर्वज वास्तवमें अपने प्रति दिनके जीवनमें, प्रकृति-माताकी गोदमें मानो बच्चोंकी तरह खेलते हुए परमात्माके विभूति-रूप सूर्य, वायु, उषा आदि देवताओंके साथ मानो सख्य भावसे विचरते और बातचीत करते हुए, ऐसे दिव्य गीत गाते थे :

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च
(ऋग्० १।११५।१)

अर्थात्,
देवताओं के रमणीय मुखड़ेके समान,
मित्र वरुण और अग्निके चक्षुःस्थानीय,
जंगम और जड़ जगत्के आत्म-भूत,

---

१. तु० "प्रकृतेर्मातृभूतायाः क्रोडे क्रीडन्नानारतम्। लालितः पालितश्च सदानन्दो वसाम्यहम्॥ स्नेहार्द्रं नित्यसंस्थायि तस्या माधुर्यमद्भुतम् दृष्ट्वा पीत्वेव पीयूषं सदानन्दो वसाम्यहम्॥" (रश्मिमाला ३६।१-२)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

ये सूर्य भगवान् उदित हुए हैं
और उदित होते ही इन्होंने
पृथिवी आदि तीनों लोकोंको व्याप्त कर लिया है !
वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।
प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥

(ऋग्० १०।१८६।१)

अर्थात्,
यह वायु हमारे हृदयोंके लिए
कल्याणकारी और सुखकारी ओषधिके रूपमें होकर बहे
और हमारे लिए दीर्घ आयुष्यका सम्पादन करे !
एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात् ।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति ॥

(ऋग्० १।१२४।३)

अर्थात्,
द्युलोककी दुहितृ-स्थानीय,
ज्योतिर्मय वस्त्रोंको पहने हुए,
सबके प्रति सद्भावनाको रखनेवाली,
यह उषादेवी सामने दृष्टिगोचर हो रही है;
मानो बुद्धिपूर्वक
वह सत्यके मार्गका अनुसरण करती है
और कभी अपने नियमोंका अतिक्रमण नहीं करती ।

अभिप्राय यह है कि इस द्वितीय युगमें, आर्यजातिके जीवनमें बाह्य संघर्षके बहुत-कुछ कम हो जानेपर भी, वैदिक जीवनका प्रायेण वही रूप था, जो उसके प्रथमकालमें था । साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि किसी भी महान् संघर्षके अनन्तर जो शान्ति और गम्भीरताकी भावनाओंका अनिवार्य संचार होता है, वह इस युगकी विशेषता थी ।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

इसीलिए, निरुक्तकार यास्कके अनुसार वैदिक परम्पराके प्रथम काल साथ ही मन्त्रोंके प्रवर्तनके युगके समाप्त हो जानेपर भी, ऐसे मन्त्रों रचना, जिनमें समस्त विश्व-प्रपंचमें शान्तिके दर्शनकी तीव्र कामना भाव बह रहा है, प्रायेण इसी युगकी वस्तु है। इसी प्रकार सामाजिक तथा राजनीतिक सामान्य संगठनसे सम्बद्ध मन्त्रोंको भी इसी कालकी रच समझना चाहिए।

ऐसी अवस्थामें निरुक्तके उपरि-निर्दिष्ट उद्धरणका अभिप्राय केव यही है कि सामान्य रूपसे वैदिक परम्पराके काल-क्रमको दिखाया जाये।

पौराणिक युगोंकी परिभाषामें हम इस युगको सत्य-युग या कृ युगका उत्तरार्ध कह सकते हैं। अथवा, सत्ययुग और त्रेता-युगका सन्धि (या संक्रमण-)-काल भी कह सकते हैं।

वास्तवमें यह युग वैदिक संस्कृतिका प्राह्ण-काल था, जिसकी स्थिति प्रातःकालके पश्चात् और मध्याह्न-कालसे पहले होती है।

याज्ञिक कर्मकाण्डका प्रारम्भ

इसी द्वितीय कालमें, जातीय जीवनको सुव्यवस्थित और सुसंगठि करनेकी प्रवृत्तिके आधारपर, याज्ञिक कर्मकाण्डका, एक विशिष्ट कर्मकाण्ड रूपमें, प्रारम्भ हुआ था। वैदिक संस्कृतिके उत्कर्षके दिनोंमें याज्ञि कर्मकाण्ड उसका महान् प्रतीक माना जाता था और अन्तमें याज्ञि कर्मकाण्डकी अत्यधिकता ही, बहुत अंशोंमें, वैदिक संस्कृतिके ह्रास कारण हुई, यह हम आगे चलकर दिखायेंगे।

याज्ञिक कर्मकाण्डके उस विकास और तत्पश्चात् अपकास[1]को समझ के लिए, इस द्वितीय कालमें उसके प्रारम्भको मानना आवश्यक जाता है।

---

१. यज्ञके सात्त्विक, राजस और तामस भेदोंके लिए दे० गीता (१७।११-१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

स्वभावतः अभीतक वह अपने बाल्यकालमें ही था। अतएव कृत्रिमताके स्थानमें उसमें स्वाभाविकता और सार्थकता वर्तमान थी। श्रद्धा, भक्ति और उल्लासकी भावनाओंका मूर्तीकरण ही उसका आधार था। उसके साथ वैदिक मन्त्रोंका प्रयोग अवश्य होता था, पर पूरी तरह अर्थज्ञानपूर्वक और उनकी उपयुक्तताको देखकर। निरुक्तमें 'गोपथ-ब्राह्मण' (२।२।६)के आधारपर कहा है :

"एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं
यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति ॥"

(निरुक्त १।१६)

अर्थात्, यज्ञकी महत्ता इसीमें होती है कि उसमें ऐसे ही उपयुक्त और सार्थक मन्त्रोंका प्रयोग किया जाये, जिनका उसके कर्मकाण्डसे वास्तविक सम्बन्ध हो। इस मौलिक सिद्धान्तकी उपेक्षा ही अन्तमें वैदिक कर्मकाण्डके अपकासका प्रधान कारण हुई, यह हम आगे दिखायेंगे। पर अपने आरम्भ कालमें याज्ञिक कर्मकाण्ड, निश्चय ही, इस सिद्धान्तपर आश्रित था।

वैदिक संस्कृतिके विकास और ह्रासमें वैदिक या याज्ञिक कर्मकाण्डका बहुत बड़ा हाथ रहा है, यह हमने ऊपर कहा है। आगे इसकी व्याख्या की जायेगी। यहाँ, कर्मकाण्डके विकास और ह्रास (या अपकास) से हमारा क्या अभिप्राय है, इसको स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

कर्मकाण्डका विकास और ह्रास

एक प्रकारसे धार्मिक कर्मकाण्डकी भावना मनुष्यमें स्वाभाविक होती है। जैसे एक बच्चा भी प्रकृतिके सुन्दर दृश्योंको देखकर, अपने उल्लासको रखनेमें असमर्थ होकर, उछलने-कूदने लगता है; इसी प्रकार मनुष्य भी प्राकृतिक देवताओंके सम्पर्कमें, एक अद्भुत उल्लाससे प्रभावित होकर, बाह्य चेष्टा-द्वारा अपने मनोभावोंको अभिव्यक्त करना चाहता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

प्रायेण इसी आधारपर विभिन्न कर्मकाण्डोंका विकास हुआ है। स्वाभाविक प्रवृत्तिके सहारे विभिन्न जातियोंमें, साधारणजनोंके आन और मनोरंजनकी दृष्टिसे, विभिन्न आदर्शोंको मूर्त या ऐन्द्रियक रूप लिए, समय-समयपर, विभिन्न कर्मकाण्डोंका विकास होता रहता है।

मनुष्य-समाजकी यह एक सार्वकालिक प्रवृत्ति है और इसकी आव कता भी है। पर शनैः-शनैः कर्मकाण्डमें वह अवस्था आ जाती है, वह जटिल होने लगता है और उसके संचालनके लिए समाजमें विशिष्ट पुरोहित-वर्गकी आवश्यकता होने लगती है। प्रारम्भमें पुरो वर्ग समाजमें-से ही बननेके कारण, नियन्त्रित होनेके साथ-साथ, भी होता है।

पर कुछ कालके अनन्तर कर्मकाण्डके विकासमें 'कलियुग'की आ आने लगती है। इसका दुष्प्रभाव उभयतोमुखी होता है। एक ओर जनतामें आलस्य और अकर्मण्यताकी भावनाके साथ-साथ, यह वि उत्पन्न हो जाता है कि उसका उपास्य देव उससे दूर और उसकी पहु बाहर है। वह पुरोहित-वर्गका सहारा ढूँढ़ने लगती है, और अ अपनी कर्तव्यताका सारा भार पुरोहित-वर्गपर छोड़कर, धर्ममें व या प्रातिनिध्यके सिद्धान्तको मानने लगती है। इससे प्रायेण नैतिकताके सर्वनाशकी स्थिति उपस्थित हो जाती है।

दूसरी ओर पुरोहित लोग, जो प्रारम्भमें अर्थतः पुरः + हित (नेता) का काम करते हैं, शनैः-शनैः जनताको अपने स्वार्थके दुहनेमें ही अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझने लगते हैं। इस अव कर्मकाण्ड 'दिन-दूना रात-चौगुना' बढ़ने लगता है; क्योंकि पुरोहित-व हित इसीमें होता है कि, वकीलोंके पंजेमें फँसे मुवक्किलोंकी तरह, साधारणसे साधारण बातके लिए उसपर आश्रित होकर, उसके साधन बने।

संसारकी विभिन्न जातियोंके इतिहासमें कर्मकाण्डके विकासके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

न्तमें क्रमशः अपकासका रूप धारण कर लेता है) इस प्रकारके दाहरण मिलते हैं। भारतवर्षमें भी वैदिक कर्मकाण्डके विकासकी गति सी प्रकारकी रही है। इसका अधिक स्पष्टीकरण हम आगे चलकर रेंगे।

उसी वैदिक कर्मकाण्डका स्वाभाविक प्रारम्भ वैदिक धाराके उपर्युक्त द्वितीय कालमें हुआ था।

वैदिक धाराका तृतीय काल

ऊपर हमने वैदिक धाराके द्वितीय कालको व्यवस्था और संगठनके प्रारम्भका युग कहा है। उसी दृष्टिसे इस तृतीय कालको हम वैदिक धाराकी वास्तविक व्यवस्था और संगठनका युग कह सकते हैं।

इस युगको हम वैदिक संस्कृतिका मध्याह्न-काल भी कह सकते हैं; क्योंकि अपने विशिष्ट रूपमें वैदिक संस्कृतिके परम उत्कर्षका काल यही था।

'मध्याह्न-काल' कहनेका एक दूसरा अभिप्राय भी है। मध्याह्न-कालमें सूर्यका प्रकाश और तेज अपने चरम उत्कर्षमें होता है। पर उस कालके अनन्तर ही उसका अपकर्ष शुरू हो जाता है, और अपराह्णके पश्चात् तो सूर्य अस्तोन्मुख ही होने लगता है। ठीक इसी प्रकार, अपने इस तृतीय कालमें परम उत्कर्षको पाकर वैदिक धारा अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियोंके कारण ही धीरे-धीरे ह्रासकी ओर चलने लगी और अन्तमें प्रायः, जैसा ऊपर कहा है, विलुप्त-सी हो गयी। इसको हम ग्यारहवें परिच्छेदमें स्पष्ट करेंगे। यहाँ तो उसके उत्कर्षके स्वरूपपर ही विचार करना चाहते हैं।

याज्ञिक कर्मकाण्ड

इस तृतीय कालकी सबसे बड़ी विशेषता विशाल वैदिक (या श्रौत) कर्मकाण्डका व्यवस्थित किया जाना था।

वैदिक वाङ्मयमें विस्तृत ब्राह्मण-ग्रन्थों और श्रौतसूत्रोंका सम्बन्ध

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

वैदिक यज्ञोंसे ही है। यही नहीं, वैदिक संहिताओंमें सामवेद और य
का तो संग्रन्थन ही याज्ञिक दृष्टिसे किया गया है, यह हम पहले
चुके हैं।

बाह्य तथा आन्तरिक राजनीतिक संघर्षके अनन्तर जो नयी परिस्थि
उत्पन्न हो गयी थी, उसमें आर्यजातिके विभिन्न अंगोंमें परस्पर सद्भा
सामंजस्य, एकजातीयता और एक संस्कृतिकी भावनाकी पुष्टिके लिए,
साथ ही, प्राचीन वैदिक परम्परा और उदात्त भावनाओंके संर
उद्देश्यसे, याज्ञिक कर्मकाण्डका विस्तार और व्यवस्था इस युगमें की
थी। नयी परिस्थितिकी वह एक अनिवार्य आवश्यकता थी।

व्यवस्थित वैदिक (याज्ञिक) कर्मकाण्डका विकास इसी तृतीय
में हुआ था, इस बातकी पुष्टि अनेकानेक प्राचीन प्रमाणोंसे होती
उदाहरणार्थ, 'मुण्डकोपनिषद्' (१।२।१) में कहा है :

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो
यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि ॥

अर्थात्, मन्त्रोंमें देखे गये कर्मोंको ही पीछेसे त्रेता[1] में बहुत प्र
विस्तृत किया गया।

इसी बातका आलंकारिक वर्णन 'श्रीमद्भागवत' (स्कन्ध ११।५
इस प्रकार मिलता है :

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ॥२०॥
कृते.....॥२१॥
मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः।
यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च ॥२२॥

---

१. यहाँ 'त्रेता' शब्दका अर्थ प्रायः 'वेदत्रयी' किया गया है। तु० 'भा
भाष्य'—"त्रेतायां त्रयीसंयोगलक्षणायां हौ त्राध्वर्यवौद्गात्रप्रकारा
करणभूतायाम्...त्रेतायां वा युगे...।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः ।
हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः ॥२४॥
तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम् ।
यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः ॥२५॥

अर्थात्, कृतयुग आदिमें, विभिन्न प्रकार, नाम और आकारसे, विभिन्न विधि-द्वारा, भगवान्‌की पूजा की जाती है। कृतयुगमें मनुष्य शान्त, निर्वैर होकर परस्पर मित्रता और साम्य-भावसे रहते हैं और तप, शम और दमसे भगवान्‌का यजन करते हैं। त्रेतामें वेदत्रयी-रूप भगवान् स्रुक-स्रुवा आदि याज्ञिक उपकरणोंसे उपलक्षित होते हैं और यज्ञवाहक अग्नि ही उनका प्रधान प्रतीक समझा जाता है। उस समयमें ऋगादि वेदत्रयीसे साध्य वैदिक यज्ञों-द्वारा ही भगवान्‌का यजन किया जाता है।

इस वर्णनमें स्पष्टतया सत्य-युगके अनन्तर त्रेतायुगमें स्रुक्, स्रुवा आदि उपकरणोंसे युक्त वैदिक यज्ञका प्रतिपादन किया गया है।

इसी प्रकार 'विष्णुपुराण' (१।५।५०) में कहा है :

त्रेतायुगमुखे ब्रह्मा कल्पस्यादौ द्विजोत्तम ।
सृष्ट्वा पशूनोषधीः सम्यग्युयोज स तदाध्वरे ॥

अर्थात्, ब्रह्माने कल्पके आदिमें पशुओं और ओषधियोंकी सृष्टि करके, त्रेतायुगके प्रारम्भमें यज्ञसे उनका सम्बन्ध स्थापित किया।

यहाँ स्पष्टतया, त्रेतायुगमें ही यज्ञोंकी प्रवृत्ति हुई, यह कहा गया है। इसी श्लोककी व्याख्यामें श्रीधरस्वामीने कहा है : "कृतयुगे यज्ञानामप्रवृत्तेः"[1]। अर्थात्, सत्ययुगमें यज्ञोंकी प्रवृत्ति नहीं हुई थी।

---

१. तु० "त्रेतायुगे विधिरत्वेष यज्ञानां, न कृते युगे। द्वापरे विप्लवं यान्ति यज्ञाः कलियुगे तथा ॥...त्रेतायां संहता वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा।" (महाभारत, शान्तिपर्व, २३२।३२, ३५)। तथा मत्स्यपुराण (१४१।५४-५६) : "त्रेतायुगे तु वै...यज्ञः प्रवर्तितः"। तथा भागवत (११।१७।१२) :

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

पौराणिक परिभाषाका त्रेता-युग और हमारा उपर्युक्त वैदिक तृतीय काल वास्तवमें एक ही है।

वैदिक वाङ्मयमें वैदिक यज्ञोंकी महिमाका गान भरा पड़ा है।

इसमें सन्देह नहीं कि उस समयकी परिस्थितिमें इस याज्ञिक काण्डने वैदिक परम्पराके वातावरणकी रक्षाके लिए बड़ा काम किया। इसके लिए आवश्यक था कि यज्ञोंमें वैदिक मन्त्रोंका प्रयोग अवश्य ही किया जाये। ऊपर उद्धृत किये गये 'गोपथ-ब्राह्मण' के वचनका यही अभिप्राय है।

बड़े भारी सामूहिक संगीत (Musical Concert) के समान, अनेकानेक ऋत्विजों-द्वारा स्वरोंके आरोह और अवरोहके साथ मन्त्रों का पाठ और अपने-अपने कर्तव्योंका नियमानुसार करना उपस्थित पर निश्चय ही विचित्र मनोमोहक प्रभाव डालता होगा।

इसीलिए आर्य-जातिके प्रत्येक सदस्यकी यह लालसा रहती वह वैदिक यज्ञोंको कर सके।

यही याज्ञिक कर्मकाण्ड अपनी अत्यधिकताकी प्रवृत्तिके कारण चलकर वैदिक धाराके ह्रासका मुख्य कारण बन गया, इसका प्रति हम आगे करेंगे।

वर्ण-विभागकी प्रवृत्ति

उक्त वैदिक कर्मकाण्डके विकास और व्यवस्थाके साथ-साथ, इस की दूसरी विशेषता थी जन्म-परक (अथवा जातिपरक) वर्ण-विभ प्रवृत्तिका उदय और विकास।

"त्रेतामुखे महाभाग प्राणान्मे हृदयात् त्रयी। विद्या प्रादुरभूत्तस्या त्रिवृन्मखः॥"

१. तु० "देवरथो वा एष यद् यज्ञः" (ऐतरेयब्राह्मण २।३७)। "सुतर्मा नौः" (ऐत० ब्रा० १।१३)। "ब्रह्म वै यज्ञः" (ऐत० ब्रा०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

यह निश्चय है कि वैदिक धाराके इतिहासमें एक समय ऐसा था, जब वन-यात्राके लिए किसी भी धन्धेको करनेवाले स्त्री-पुरुष 'साक्षात्कृतधर्मा' ऋषिका तथा ऋषि तक हो सकते थे।

"कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।" (ऋग्० ९।१२।३)।

(अर्थात्, एक ऋषिका कहना है कि मैं तो कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य और माता पिसनहारी है) से यही बात स्पष्ट होती है। ऋग्वेदके ऋषियोंको पिछले ग्रन्थकारोंने, उत्तरकालीन परिभाषामें, ब्रह्म-ऋषि, राजन्य-ऋषि बतलाया है।[1]

एक प्रकारसे वह समय विशुद्ध जनतन्त्र तथा साम्यवादका था। सारी आर्य-जनता अपनेको 'विश्' (= आर्यप्रजा[2]) समझती थी। प्रत्येक व्यक्ति अपने-आपमें अपना पुरोहित, राजा तथा योद्धा था।[3] संघर्षमय जीवनके

---

१. देखिए 'आर्यविद्यासुधाकर' (१९४०), पृष्ठ ३१-३२।

२. सुना है कि इसी प्राचीन अर्थमें 'विट्' या 'वीट्' शब्दका प्रयोग गढ़वाल आदिमें आजकल भी होता है। इसका मौलिक अर्थ 'बसनेवाला' है। इसका साथी शब्द 'कृष्टि' (देखो वैदिक 'निघण्टु' में मनुष्य-नाम) भी प्रजाके अर्थमें ही ऋग्वेदमें प्रयुक्त हुआ है। उसका सम्बन्ध स्पष्टतया कृषिसे है। आदिकालमें खेतोंके साथ ही बस्तीका प्रारम्भ होता था। उत्तर-कालीन 'वैश्य' शब्द 'विश्' शब्दकी तीसरी पीढ़ीमें बना है। 'विश्' से 'विश्य' (अथर्व० ६।१३।१), और उससे 'वैश्य'। इस प्रकार कमसे कम ऋग्वेदमें 'विश्' शब्द उत्तरकालीन 'वैश्य' शब्दका समानार्थक नहीं है।

३. उस समयकी प्रजाकी सामाजिक स्थितिको 'वायुपुराण'के शब्दोंमें इस प्रकार कहा जा सकता है:
"वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदासन्न संकरः।··· तुल्यरूपायुषः सर्वा अधमोत्तमवर्जिताः। सुखप्राया ह्यशोकाश्च उत्पद्यन्ते कृते युगे। नित्यप्रहृष्ट-मनसो महासत्त्वा महाबलाः॥" (वायुपु० ८।६०-६२)

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

कारण शनै-शनैः क्षत्र और ब्रह्म[1] इन दो कर्मोंकी प्रधानता हो भी सबको विश् होनेका अभिमान था।

पर सभ्यताके इतिहासमें, जीवनकी विसंष्ठुलताकी वृद्धिके साथ विभिन्न सामाजिक वर्गोंकी उत्पत्ति होती है। इसी नियमके अनुसार विशेषतः उस समयके राजनीतिक (प्रारम्भमें आर्य-अनार्यके रूपमें) के कारण आर्य-जनतामें शनैः-शनैः राजा, क्षत्रिय (= शत्रुके घातक करने वाला), पुरोहित (= पुरः + हित = धार्मिक कृत्यके लिए प्रति के रूपमें चुना गया व्यक्ति), ब्राह्मण (= देवताओंकी स्तुति आदि वाला) आदिकी उत्पत्ति हुई।

अर्थात्, सत्य-युगमें न तो उत्तरकालीन वर्णाश्रम-व्यवस्था तन्मूलक परस्पर संघर्ष था। महान् सत्त्व और बलसे सम्पन्न उस जनता सदा प्रसन्नतासे युक्त, शोकरहित, सुखमय जीवन व्यतीत थी। उसमें नीच-ऊँचका भाव नहीं था, और रूप तथा आयुमें सबका होता था।

१. 'क्षत्र' और 'ब्रह्मन्' शब्द नपुंसक लिंगमें प्रयुक्त होते हैं। अतः वाचक होनेसे भिन्न-भिन्न कामोंके ही द्योतक हैं। 'क्षत्रिय' और 'ब्रा शब्द उक्त शब्दोंसे उत्तर-कालमें ही निकले और व्यवहारमें आये ठीक भी है, क्योंकि पहले काम होता है, फिर उससे नाम बना मूल वैदिक कालमें, वास्तवमें, आर्य-जनता (=विशः) में ब्राह्मण और वैश्योंका वर्गीकरण नहीं हुआ था। यह भी ध्यान देने योग्य कि समस्त ऋग्वेद-संहितामें 'शूद्र,' 'वैश्य' और 'राजन्य' शब्द केवल एक बार (ऋग्० १०।९०।१२ में) आये हैं। यह सूक्त (पुरुष- स्पष्टतया अन्तिम वैदिक कालकी रचना है। 'ब्राह्मण' और 'क्षत्रिय' का प्रयोग भी 'ब्रह्मन्' और 'क्षत्र' शब्दोंकी अपेक्षा बहुत ही कम और स्पष्टतया अपेक्षाकृत पिछले कालका है। इस प्रकार इन दो-चार का विचार भी वर्णव्यवस्थाके ऐतिहासिक विकासपर पर्याप्त प्रकाश सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

प्रारम्भमें राजाका चुनाव प्रजा-द्वारा होता था[1] और ब्राह्मण आदिका भाग भी कर्म-मूलक था। पर शनैः-शनैः शक्ति और प्रभावके केन्द्रीभूत होने से इन पदों और वर्गोंमें रूढ़ि और स्थिरता आने लगी।

जनतामें अपने-अपने प्रभाव और स्थितिको बढ़ानेकी दृष्टिसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्म और क्षत्रके संघर्षका समय यही था। इसी संघर्षकी धुंधिल और काफ़ी विकृत स्मृति परशुराम, वसिष्ठ और विश्वामित्रकी कथाओंके रूपमें हमारे पौराणिक साहित्यमें सुरक्षित है। इस संघर्षका अन्त अपने-अपने कार्य-क्षेत्रमें दोनोंकी प्रधानताकी स्वीकृतिमें हुआ। इस प्रकार उक्त सामाजिक संघर्षने अन्तमें सामंजस्यका रूप धारण कर लिया।[2]

इस प्रकार उत्तर वैदिक कालमें प्रजातन्त्रके स्थानमें राजतन्त्रकी स्थापना हुई और सामान्य-जनता (= विश् या प्रजा) में-से ही ब्राह्मण-वर्ग तथा क्षत्रिय-वर्गके साथ-साथ वैश्य-वर्गका भी प्रारम्भ हुआ। उत्तर-वैदिक रूढिमूलक वर्ण-व्यवस्थाका यही सूत्रपात्र था।

वैदिक धाराके उपर्युक्त तृतीय कालमें अत्यन्त जटिल और विस्तृत याज्ञिक कर्मकाण्डके विकास और वृद्धिसे भी जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्थाके सिद्धान्तके विकासमें स्पष्टतः अत्यन्त सहायता मिली[3]; क्योंकि ऋत्विक्के लिए भी, अन्य पेशोंके समान, वंश-परम्परासे प्राप्त कर्मकाण्ड-विषयक परिज्ञान आवश्यक होने लगा था।

---

१. तु० "विशि राजा प्रतिष्ठितः" (यजु० २०।९)। "राष्ट्राणि वै विशः" (ऐत० ब्रा० ८।२६)। "त्वां विशो वृणतां राज्याय" (अथर्व० ३।४।२)।

२. तु० "ब्रह्म च क्षत्रं च सश्रिते" (संश्रित=परस्पराश्रित) (ऐत० ब्रा० ३।११)। "ब्रह्मणि ह्लु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितम्। क्षत्रे ब्रह्म" (ऐत०ब्रा० ८।२)।

३. तु० "यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै। चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम्॥" (विष्णुपुराण १।६।७)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

इस प्रकार अपने-अपने स्वार्थ, आजीविका और पेशेकी प्रवृत्तिसे वर्ण-विभागकी प्रवृत्तिका प्रारम्भ हुआ। वैदिक धाराके कालकी यह भी एक बड़ी विशेषता थी। पर अभीतक इस प्रवृ वह घोर रूढि-मूलकता नहीं आयी थी, जिसने आगे चलकर वैदिक प्रवाहको काफ़ी विकृत और दूषित कर दिया, जैसा कि हम स्पष्ट करेंगे।

जातीय जीवनके अन्य क्षेत्रोंकी व्यवस्था

याज्ञिक कर्मकाण्ड (=धार्मिक क्षेत्र), और वर्ण-विभाग (=जिक क्षेत्र) के समान ही, वैदिक धाराके इस तृतीय कालमें जीवनके अन्य क्षेत्रोंको भी व्यवस्थित करनेका यत्न किया गया।

'निरुक्त'के अनुसार वेद और वेदांगोंका (अर्थात् परम्परा-प्राप्त वाङ्मयका) संग्रन्थन इसी कालमें किया गया था, यह हम ऊपर चुके हैं। इसी वाङ्मयकी परम्परासे संबद्ध गृह्य-सूत्रों और धर्म यह स्पष्ट है कि आर्यजातिकी राजनीति, दण्डनीति तथा पारिवारिक आदिको व्यवस्थित करनेका युग भी वैदिक धाराका यही काल था।

उपर्युक्त कारणोंके आधारपर ही हमने उक्त तृतीय कालको धाराके विकासका मध्याह्न-काल कहा है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

आठवाँ परिच्छेद

वैदिक उदात्त भावनाएँ

भारतीय संस्कृतिके विकासमें वैदिक धाराका निर्विवाद रूपसे अत्यधिक महत्त्व है, यह हम पहले (परिच्छेद ५ में) कह चुके हैं। वैदिक धाराका उद्गम वेदोंसे है। इसीलिए, जैसा पहले दिखला चुके हैं, वेदोंकी महिमाका गान संस्कृत वाङ्मयमें अनेक प्रकारसे किया गया है।

ऐसा होनेपर भी, यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि इधर सहस्रों नहीं, तो सैकड़ों वर्षोंसे मानवीय जीवनके लिए उपयोगी प्रेरणाओं या आदर्शोंकी दृष्टिसे वेदोंका कोई महत्त्व है या हो सकता है, इसका स्पष्ट प्रतिपादन हमारे ग्रन्थोंमें प्रायः नहीं मिलता।

इसका मुख्य कारण, जैसा हम आगे चलकर स्पष्ट करेंगे, उस जीवित वातावरणके, जिनमें वेदोंका प्रकाश हुआ था, नष्ट हो जानेपर, शनैः-शनैः अर्थ-हीन यान्त्रिक कर्मकाण्डकी दृष्टिके प्रसारके कारण "अनर्थका हि मन्त्राः"[1] (अर्थात्, वैदिक मन्त्रोंका कोई अर्थ नहीं होता, वे यज्ञमें पढ़ने मात्रसे फल देते हैं), इस अपसिद्धान्तका प्रचार ही हो सकता है।

उत्तरकालीन भारतीय दृष्टि

यद्यपि 'निरुक्त'-जैसे ग्रन्थोंमें, अर्थज्ञान-पूर्वक ही वेदोंको पढ़ना

---

१. देखिए निरुक्त १।१५।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

चाहिए, इस बातपर बड़ा बल दिया गया है[1], तो भी उत्तरकालीन वैदि परम्परामें वैदिक मन्त्रोंके विषयमें इधर चिरकालसे,

(१) "मन्त्राश्च कर्मकरणाः" (आश्वलायन-श्रौतसूत्र १।१।२१), (अर्थात्, मन्त्रोंका मुख्य उपयोग यही है कि वे कर्मकाण्डमें प्रयु होते हैं),

तथा (२) "अनर्थका हि मन्त्राः" (निरुक्त १।१५)

इसी दृष्टि[2]का बोलबाला रहा है।

इसीलिए निरुक्तकार यास्कके अनन्तर जो भी वेद-भाष्यकार हुए उनमें-से प्रायः सभीने याज्ञिक दृष्टिके आधारपर ही (अर्थात्, वैदिक कर्म काण्डमें मन्त्रोंके प्रयोगकी दृष्टिसे ही) अपनी-अपनी व्याख्याएँ लिखी हैं।

'पूर्वमीमांसा'ने "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" (१।२।१) इस सूत्र स्पष्टतया यह स्वीकार किया है कि वेदोंकी उपयोगिता केवल कर्मकाण्ड दृष्टिसे है।

महाभाष्यकार पतंजलिने 'पस्पशाह्निक' में व्याकरण-शास्त्रके अनेक प्रयोजन दिखलाये हैं। उनमें-से अधिकका सम्बन्ध वैदिक कर्मकाण्डसे है।

महाभारत, सभापर्व (५।१११-११२) में युधिष्ठिरके "कथं वै सफला वेदाः" (अर्थात्, वेदोंकी सफलता किस बातमें है) यह पूछनेपर नारद यही उत्तर दिया है "अग्निहोत्रफला वेदाः[3]" (अर्थात् वेदमन्त्रोंसे अग्निहोत्र किया जाता है, इसीमें वेदोंकी सफलता है)।

---

१. दे० "स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। यो यस्तु इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥ यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज् ज्वलति कर्हिचित् ॥" (निरुक्त १।१८)।

२. इस दृष्टिका स्पष्टीकरण हम आगे चलकर (परिच्छेद ११ में) करेंगे।

३. महाभारत, उद्योगपर्व (३९।६६) में भी "अग्निहोत्रफला वेदाः" बात कही गयी है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

वेदके षडंग प्रसिद्ध हैं। उनमें-से 'कल्प'को वेदोंका 'हाथ' माना गया है[1]। श्रौत तथा गृह्य कर्मोंके प्रतिपादक 'कल्प' का स्पष्टतया वैदिक कर्म-काण्डसे ही सम्बन्ध है।

वेदोंके उत्तरकालीन भाष्योंमें जहाँ कहीं वेदके प्रतिपाद्य विषयका और उसकी उपयोगिताका विचार किया गया है, वहाँ यही सिद्धान्त निर्धारित किया गया है कि वेदका वेदत्व इसी बातमें है कि उसके द्वारा हमें प्रधान-तया उस वैदिक कर्मकाण्डका बोध होता है, जिसको हम प्रत्यक्ष या अनुमान-द्वारा नहीं जान सकते[2]।

'मनुस्मृति'में तो स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि यज्ञकी सिद्धिके लिए ही ऋग्वेदादिकी प्रवृत्ति हुई थी[3]।

ऊपरके प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि चिरकालसे हमारे देशमें, मानवीय जीवनके लिए उपयोगी प्रेरणाओं या आदर्शोंकी दृष्टिसे वेदोंका कोई महत्त्व हो सकता है, इसका प्रायः विचार ही नहीं किया गया।

पाश्चात्त्य दृष्टि

वर्तमान युगमें पाश्चात्त्य विद्वानोंका ध्यान वैदिक साहित्यकी ओर गया। वैदिक वाङ्मयके अध्ययनके इतिहासमें यह एक अनोखी घटना थी। इससे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि वेदोंके अध्ययनको सार्वभौम महत्त्व प्राप्त हो गया। पाश्चात्त्य विद्वानोंने वैदिक साहित्यके विषयमें जो

---

१. देखिए – "छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।" (पाणिनीय-शिक्षा ४१)।

२. देखिए – "प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥...अतः कर्माणि वेदस्य विषयः। तदवबोधः प्रयोजनम्।" (सायणाचार्यकृत काण्वसंहिता-भाष्यकी उपक्रमणिका)

३. देखिए – "अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थ-मृग्यजुःसामलक्षणम्॥" (मनुस्मृति १।२३)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

कार्य किया है वह कितना उपयोगी और महान् है, यह वैदिक विद्वानों से छिपा नहीं है। उसके लिए वे हमारे भूरि-भूरि प्रशंसाके पात्र हैं। फिर होनेपर भी वेदोंके अध्ययनके विषयमें हमारी और पाश्चात्त्य विद्वानों की दृष्टियों और उद्देश्योंमें इतना मौलिक अन्तर है कि दोनोंको तुलनाके लिए आवश्यक एक समान धरातलपर ही नहीं रखा जा सकता।

पाश्चात्त्य विद्वानोंकी दृष्टि और उद्देश्य उस वैज्ञानिककी दृष्टि और उद्देश्यके समान हैं जो रसायन-शालामें दुग्ध-जैसे उपयोगी पदार्थोंका केवल परीक्षणार्थ विश्लेषण कर डालता है, या मृत शरीरकी चीर-फाड़ करता है, या खुदाईसे प्राप्त पुरातत्त्वसम्बन्धी शिलालेखको पढ़नेकी चेष्टा करता है। वैज्ञानिकके लिए उन पदार्थोंका अपने-अपने रूपमें कोई मूल्य नहीं होता।

भारतीय दृष्टि और उद्देश्य ठीक इसके विपरीत हैं। हम वेदोंको कोरी उत्सुकताका विषय न समझकर, उनको, न केवल भारतीय समाजके अपितु मानव-समाजके लिए एक पथ-प्रदर्शक अजर-अमर साहित्य समझते हैं। इसीलिए जहाँ पाश्चात्त्य विद्वानोंने वेदोंको भारतीय संस्कृतिकी जीवित परम्परासे पृथक् करके प्रायेण तुलनात्मक भाषा-शास्त्र, पुराण-विज्ञान (Mythology), मत-विज्ञान आदिकी दृष्टिसे ही उनका अध्ययन किया है, वहाँ हम जीवनके लिए प्रेरणाओं और आदर्शोंकी दृष्टिसे वेदोंका अध्ययन करना चाहते हैं।

हमारी दृष्टि

यह स्पष्ट है कि वेदोंके विषयमें उपर्युक्त दोनों, उत्तरकालीन भारतीय तथा पाश्चात्त्य, दृष्टियोंसे हमें अपने प्रतिपादनमें कोई विशेष सहायता नहीं मिल सकती। हमारा लक्ष्य तो यही है कि हम भारतीय संस्कृतिकी प्रगतिकी दृष्टिसे वैदिक धाराके प्रारम्भिक युगमें उसके स्वरूपको, उसके परिस्पन्दनको, तथा जातीय जीवनके लिए उसकी प्रेरणाओं और आदर्शोंको समझ सकें।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

इस प्रतिपादनमें हमें न तो धर्मशास्त्र आदिमें वर्णित वेदोंकी प्ररोचना-परक महिमासे मतलब है, न याज्ञिकोंके शुष्क-कर्मकाण्ड-परक वेद-विषयक गुण-गानसे, और न तुलनात्मक विज्ञानोंकी दृष्टिसे वैदिक विवेचन या विश्लेषणसे। हम तो यहाँ वेद-मन्त्रोंके ही शब्दोंमें उन उदात्त भावनाओं और महान् आदर्शोंका दिग्दर्शन कराना चाहते हैं, जिनसे वेदोंके मन्त्र ओत-प्रोत हैं।[1]

हमारे मतमें इसी रूपमें वेद भारतीय संस्कृतिकी शाश्वत निधि हैं और मानवजातिके लिए सार्वभौम तथा सार्वकालिक सन्देशके वाहक हैं।

नीचे हम क्रमशः इन्हीं उदात्त भावनाओं और महान् आदर्शोंको वेद-मन्त्रोंके आधारपर संक्षेपमें दिखाते हैं :

१. ऋत और सत्यकी भावना

वैदिक उदात्त भावनाओंका मौलिक आधार ऋत और सत्यका व्यापक सिद्धान्त है। जिस प्रकार वैदिक देवतावादका लक्ष्य एकसूत्रीय परमात्म- (या अध्यात्म-) तत्त्वकी अनुभूति है, इसी प्रकार ऋत और सत्यके सिद्धान्तका अभिप्राय सारे विश्व-प्रपंचमें व्याप्त उसके नैतिक आधारसे है। इस आधारके दो सिरे या रूप हैं। बाह्य जगत्की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमोंके अधीन चल रही है। परन्तु उन सारे

---

१. किन-किन अभिप्रायों, आदर्शों या भावोंको लेकर वेद-मन्त्रोंकी प्रवृत्ति हुई होगी, इसका विचार पुराणोंमें इन शब्दोंमें आता है : परितोषाद् भयाद् दुःखात्सुखाच्छोकाच्च पञ्चधा" (मत्स्यपुराण १४२), "असंतोषद्भयात्क्रोधान्मोहाच्छोकाच्च पञ्चधा" (वायुपुराण ५९।६१) (दे० गोविन्ददासकृत 'Hinduism' पृ० ९१, संस्करण १९२४)। इसी सम्बन्धमें दे० निरुक्त (७।१-३)। यह विचारणीय है कि उक्त सब स्थलोंमें इस परिच्छेदमें तथा अन्यत्र भी इस ग्रन्थमें दिखलायी हुई वैदिक उदात्त भावनाओंकी ओर कोई भी संकेत नहीं किया गया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

नियमोंमें परस्पर-विरोध न होकर एकरूपता या ऐक्य विद्यमान है, इसीको ऋत कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्यके जीवनके प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श हैं, उन सबका आधार सत्य है। अपने वास्तविक स्वरूपके प्रति सच्चा रहना, यही वास्तविक धर्म है[1]। परन्तु वैदिक आदर्श, इससे भी आगे बढ़कर, ऋत और सत्यको एक ही मौलिक तथ्यके दो रूप मानता है। इसके अनुसार मनुष्यका कल्याण प्राकृतिक नियमों और आध्यात्मिक नियमोंमें परस्पर अभिन्नताको समझते हुए उसके साथ अपनी एकरूपताके अनुभवमें ही है।

यही ऋत और सत्यकी भावना है। पुष्पमें सुगन्धके समान, अथवा दुग्धमें मक्खनके समान, वेदमें सर्वत्र यह भावना व्याप्त है।[2] स्पष्ट शब्दोंमें भी ऋत और सत्यकी महिमाका हृदयाकर्षक वर्णन वेदोंमें अनेक स्थलोंमें पाया जाता है। उदाहरणार्थ,

> ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्
> ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
> ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द
> कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥

---

१. देखिए – "वस्तुतोऽवस्तुतश्चापि स्वरूपं दृश्यते द्विधा। पदार्थानां, तदन्तरं प्रायेण हृदन्तरम्॥ आपाततस्तु यद्रूपं पदार्थस्पर्शि नैव तत्। तद्वर्तमानं तत्पदार्थानां स्वभावजम्॥" (रश्मिमाला २४।१-२)

२. देखिए – "ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।" (ऋग्० १०।१९०।१)। "ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा।" (ऋग्० १।२।८)। "ऋतेन ऋतं नियतमीळे" (ऋग्० ४।३।९)। "ऋतस्य तन्तुर्विततः" (ऋग्० ९।७३।९)। "ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति" (ऋग्० १०।८५।१)। "सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतः" (ऋग्० १०।३७।२)। "ऋतमनृतात् सत्यमुपैमि" (यजुर्वेद १।५)। "सत्यं वदन् सत्यमुपैमि" (ऋग्० ९।११३।४)। "सत्यमुग्रस्य बृहतः" (ऋग्० ९।११३।५)।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति
पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि ।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष
ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः ॥

(ऋग्वेद ४।२३।८-९)

अर्थात्,

ऋत[1] अनेक प्रकारकी सुख-शान्तिका स्रोत है;
ऋतकी भावना पापोंको विनष्ट करती है ।
मनुष्यको उद्बोधन और प्रकाश देनेवाली
ऋतकी कीर्ति बहिरे कानोंमें भी पहुँच चुकी है ।
ऋतकी जड़ें सुदृढ़ हैं;
विश्वके नाना रमणीय पदार्थोंमें
ऋत मूर्त्तिमान् हो रहा है ।
ऋतके आधार पर ही अन्नादि खाद्य पदार्थों
की कामना की जाती है;
ऋतके कारण ही सूर्य-रश्मियाँ
जलमें प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती हैं ॥

इसी प्रकार सत्यके विषयमें भी गहरी और तीव्र आस्था वैदिक साहित्यमें सर्वत्र पायी जाती है । जैसे,

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ॥

(यजुर्वेद १९।७७)

अर्थात्, सृष्टिकर्ता परमेश्वरने सत्य और असत्यके रूपोंको देखकर पृथक्-पृथक् कर दिया है । उनमें-से श्रद्धाकी पात्रता सत्यमें ही है, और अश्रद्धाकी अनृत या असत्यमें ।

१. ऋत अर्थात् प्राकृतिक नियम अथवा उनकी समष्टि ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥
(यजुर्वेद १९।३०

अर्थात्, व्रताचरणसे ही मनुष्यको दीक्षा अर्थात् उन्नत जीवनकी योग्य प्राप्त होती है । दीक्षासे दक्षिणा अथवा प्रयत्नकी सफलता प्राप्त होती है दक्षिणासे अपने जीवनके आदर्शोंमें श्रद्धा, और श्रद्धासे सत्यकी प्राप्ति होती है ।

वाचः सत्यमशीय (यजु० ३९।४)

अर्थात्, मैं अपनी वाणीमें सत्यको प्राप्त करूँ ।

देवा देवैरवन्तु मा ।···सत्येन सत्यम्····(यजु० २०।११-१

अर्थात्, समस्त दैवी शक्तियाँ मेरी रक्षा करें और मुझे सत्यमें तत्पर रहनेकी शक्ति प्रदान करें ।

सत्यं च मे श्रद्धा च मे····यज्ञेन कल्पन्ताम् । (यजु० १८

अर्थात्, यज्ञ-द्वारा मैं सत्य और श्रद्धाको प्राप्त करूँ !

ऋत और सत्यकी उपर्युक्त भावना ही वास्तवमें अन्य वैदिक उदात्त भावनाओंकी जननी है । इस सारे विश्व-प्रपंचका संचालन शाश्वत नैतिक आधारपर हो रहा है, ऐसी धारणा मनुष्यमें स्वभावतः समुज्ज्वल आशावाद, भद्र-भावना, और आत्म-विश्वासको उत्पन्न किये बिना न रह सकती ।

२. आशावादकी भावना

भारतीय विचारधारामें चिरकालसे 'संसार असार है,' 'जीवन क्षण भंगुर और मिथ्या है', इस प्रकारकी निराशावादी भावनाओंका साम्राज्य रहा है । हमारी जातिके जीवनको शक्तिहीन, उत्साहहीन और आशा हीन बनानेमें निराशावादका बहुत बड़ा हाथ रहा है, यह कौन नहीं जानता ?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

मनुष्यके जीवनको सबसे अधिक नीचे गिरानेवाली भावना निराशा-वादकी भावना है। निराशावादसे अभिभूत मनुष्य जीवनकी किसी भी समस्याको सुलझानेमें असमर्थ होता है। इसीलिए इसका बड़ा भारी महत्त्व है कि वैदिक धर्माचरणका सम्पूर्ण आधार ही आशावादपर है! इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्यको अपने जीवनमें पूर्ण आस्था रखते हुए उत्तरोत्तर उन्नतिका ही लक्ष्य रखना चाहिए और उत्साहपूर्वक समस्त विघ्न-बाधाओंपर विजय प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिए।

वैदिक साहित्य आशावादकी ओजपूर्ण, उत्साहमय तथा उल्लासमय भावनासे ओतप्रोत है। जैसे,

कृधी न ऊर्ध्वाञ् चरथाय जीवसे (ऋग्० १।३६।१४)।

अर्थात्, भगवन्! जीवन-यात्रामें हमें समुन्नत कीजिए।

विश्वदानीं सुमनसः स्याम
पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्। (ऋग्० ६।५२।५)

अर्थात्, हम सदा प्रसन्न-चित्त रहते हुए उदीयमान सूर्यको देखें!

अदीनाः स्याम शरदः शतं
भूयश्च शरदः शतात् (यजु० ३६।२४)

अर्थात्, हम सौ वर्ष तक और उससे भी अधिक समय तक दैन्य-भावसे अपनेको दूर रखें!

मदेम शतहिमाः सुवीराः (अथर्व० २०।६३।[illegible])

अर्थात्, हमारी सन्तान वीर हों और हम अपने पूर्ण जीवनको प्रसन्नतापूर्वक ही व्यतीत करें! निम्नलिखित मन्त्रमें उत्साहमय ओजपूर्ण जीवनका सुन्दर चित्र दिया गया है :

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि,
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि,
बलमसि बलं मयि धेहि,
ओजोऽस्योजो मयि धेहि,

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मन्युरसि मन्युं मयि धेहि,
सहोऽसि सहो मयि धेहि (यजु० १९।९)।

अर्थात्,

मेरे आदर्श देव !
आप तेजः-स्वरूप हैं, मुझमें तेजको धारण कीजिए !
आप वीर्य-रूप हैं, मुझे वीर्यवान् कीजिए !
आप बल-रूप हैं, मुझे बलवान् बनाइए !
आप ओजः-स्वरूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइए !
आप मन्यु[1]-रूप हैं, मुझमें मन्युको धारण कीजिए !
आप सहस्[2]-स्वरूप हैं, मुझे सहस्वान् कीजिए !

जीवनके विषयमें जैसी उत्कृष्ट आस्था वेद-मन्त्रोंमें पायी जाती वैसी संसारके किसी भी अन्य साहित्यमें नहीं मिलेगी। उदाहरणार्थ नीचे जीवनसंगीतकको ही देखिए :

जीवेम शरदः शतम्।
बुध्येम शरदः शतम्।
रोहेम शरदः शतम्।
पूषेम शरदः शतम्।
भवेम शरदः शतम्।
भूयेम शरदः शतम्।
भूयसीः शरदः शतात् ॥ (अथर्व० १९।६७।२-८)

अर्थात्, हम सौ और सौसे भी अधिक वर्षों तक जीवन-यात्रा में अपने ज्ञानको बराबर बढ़ाते रहें, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नतिको प्राप्त करते रहें, पुष्टि और दृढ़ताको प्राप्त करते रहें, आनन्दमय जीवन व्यतीत करते रहें, और समृद्धि, ऐश्वर्य तथा गुणोंसे अपनेको भूषित करते रहें !

१. मन्यु=अनौचित्यको देखकर होनेवाला क्रोध।
२. सहस् =विरोधीपर विजय पानेमें समर्थ शक्ति और बल।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

मनुष्य-जीवनमें एक नवीन स्फूर्ति, नवीन विद्युत्का संचार करनेवाले ही अमृतमय प्राण-संजीवन वचनोंसे वैदिक साहित्य भरा पड़ा है। वैदिक साहित्यकी उपर्युक्त आशावादकी भावनाका वर्णन हम अपने शब्दोंमें इस प्रकार कर सकते हैं :

आशा सर्वोत्तमं ज्योतिः।

निराशायाः समं पापं मानवस्य न विद्यते।
समुत्सार्य समूलं तामाशावादपरो भव ॥१॥
मानवस्योन्नतिः सर्वा साफल्यं जीवनस्य च।
चारितार्थ्यं तथा सृष्टेराशावादे प्रतिष्ठितम् ॥२॥
आशा सर्वोत्तमं ज्योतिर्निराशा परमं तमः।
तस्माद् गमय तज्ज्योतिस्तमसो मामिति श्रुतिः ॥३॥
आस्तिक्यमात्मविश्वासः कारुण्यं सत्यनिष्ठता।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो नूनमाशावतामिह ॥४॥
निराशावादिनो मन्दा निष्ठुराः संशयालवः।
अन्धे तमसि मग्नास्ते श्रुतावात्महनो मताः ॥५॥

(रश्मिमाला १।१-५)

अर्थात्, मनुष्यके लिए निराशाके समान दूसरा पाप नहीं है। इसलिए मनुष्यको चाहिए कि वह पाप-रूपिणी निराशाको समूल हटाकर आशावादी बने ॥१॥

मनुष्यकी सारी उन्नति, जीवनकी सफलता और सृष्टिकी चरितार्थता आशावादमें ही प्रतिष्ठित हैं ॥२॥

आशा सबसे उत्कृष्ट प्रकाश है। निराशा घोर अन्धकार है। इसीलिए श्रुतिमें कहा गया है – "तमसो मा ज्योतिर्गमय" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८)। अर्थात्, भगवन्! मुझे अन्धकारसे प्रकाशकी ओर चलिए ॥३॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

जीवनमें आदर्श-भावना, आत्म-विश्वास, कारुण्य, सत्य-परा और उत्तरोत्तर समुन्नति, ये बातें आशावादियोंमें ही पायी जाती हैं ॥

परन्तु निराशावादी लोग स्वभावसे ही उदात्त भावनाओंसे हि निष्ठुर (=असंवेदनशील) और संशयालु होते हैं। वेदमें ऐसे ही लो प्रेरणाविहीन अज्ञानान्धकारमें निमग्न, तथा आत्म-विस्मृति-रूप आत्म करनेवाला कहा गया है[1] ॥५॥

३. पवित्रताकी भावना

सामान्य रूपसे मनुष्योंकी प्रवृत्ति बहिर्मुख हुआ करती है। सा मनुष्य बाह्य लौकिक पदार्थोंकी प्राप्तिमें ही अपने कर्तव्यकी इतिश्री लेता है। व्यावहारिक जीवनको छोड़कर, यज्ञ, दान, तप आदिके चरणमें भी उसका लक्ष्य प्रायः लोक या परलोकमें सुखके उपक सामग्रीकी प्राप्ति ही हुआ करता है।

ऐसा होनेपर भी, मानवके विकासमें एक स्थिति ऐसी आती है वह अपने जीवनकी सफलताका मूल्यांकन लौकिक पदार्थों या ऐह प्राप्तिमें उतना नहीं करता, जितना कि अपने भावोंकी पवित्रता चरित्रकी दृढ़तामें करता है। इसके लिए अन्तःसमीक्षण या आत्म-प को आवश्यकता होती है। इसकी योग्यता विरले लोगोंमें ही होती है यह मानी हुई बात है कि "आत्म-परीक्षणं हि नाम मनुष्यस्य

१. देखिए—"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताँस्ते प्रेत्यापि न्ति ये के चात्महनो जनाः॥" (यजु० ४०।३)। अर्थात्, आत्मत्व या चेतनाकी विस्मृति-रूप आत्महत्या (=जीवनमें आदर्श-भावनाका किसी भी प्रकारकी प्रेरणासे विहीन अज्ञानान्धकारमें गिराकर सं हेतु होती है।

२. देखिए—"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तर कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥" उपनिषद् २।१।१)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

सुखतेर्मूलम्" (प्रबन्ध-प्रकाश, भाग २७ पृ० २३), अर्थात्, आत्म-रीक्षण ही मनुष्यकी वास्तविक उन्नतिका मूल है।

'भगवद्गीता'का बड़ा भारी महत्त्व इसी बातमें है कि वह मनुष्यके प्रत्येक ध्य-कर्मका परीक्षण भावात्मक भित्तिके आधारपर ही करती है। उसके नुसार हमारे प्रत्येक धार्मिक या नैतिक कर्मका महत्त्व हमारे भावोंकी वित्रतापर ही निर्भर है। गीताके अनुसार मनुष्यके लिए भाव-संशुद्धिका द्वितीय मौलिक महत्त्व है[1]।

उपर्युक्त दृष्टिसे यह अत्यन्त महत्त्वकी बात है कि वैदिक मन्त्रोंकी एक धान विशेषता पवित्रताकी तीव्र भावना है। पाप (या पाप्मन्)का नाश, रितका क्षय, सच्चरित्रताकी प्राप्ति, अथवा पवित्र संकल्पों आदिकी प्रार्थना-रूपमें पवित्रताकी तीव्र भावना शतशः वैदिक मन्त्रोंमें पायी जाती है। दाहरणार्थ,

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥(यजु० १९।३९)

अर्थात्, हे सर्वव्यापक देव, आप मुझको पवित्र कीजिए, और ऐसा नुग्रह कीजिए जिससे समस्त देव-जन, मेरे विचार और कर्म तथा सब णी मेरी पवित्रताकी भावनामें मेरे सहायक हो सकें।

···देव सवितः····मां पुनीहि विश्वतः। (यजु० १९।४३)

अर्थात्, हे सवितृ-देव ! मुझे सब प्रकारसे पवित्र कीजिए।

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्टतातये ॥ (अथर्व० ६।१९।२)

अर्थात्, पवित्रता-सम्पादक पवमान-देव मुझे बुद्धि, शक्ति, जीवन और रापद आत्म-रक्षाके लिए पवित्र करें।

---

१. देखिए—"भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते" (गीता १७।१६)

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

इसी प्रकार चरित्रकी शुद्धताकी भावना अनेकत्र वेद-मन्त्रोंमें जाती है। उदाहरणार्थ,

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज।
(यजु० ४।२८)

अर्थात्, हे प्रकाश-स्वरूप देव! मुझे दुश्चरितसे बचाकर सुच स्थापित कीजिए।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रं तन्न आ सुव॥ (यजु० ३०।३)

अर्थात्, हे देव सवितः! आप हमारे सब पापाचरणोंको हमसे कीजिए और जो कल्याण हो उसे हमें प्राप्त कराइए।

इसी प्रकार भाव-संशुद्धि या संकल्पोंकी पवित्रताकी प्रार्थना अनेकानेक मन्त्रोंमें पायी जाती है। उदाहरणार्थ,

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्
नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ (यजु० ३४।६)

अर्थात्, निपुण सारथि जैसे रास-द्वारा घोड़ोंको चलनेके लिए प्रेरित करता है और नियन्त्रित भी करता है, वैसे ही मनुष्योंको प्रवृत्त करनेवाला और नियन्त्रणमें रखनेवाला, हृदयमें विशेष रूपसे ष्ठित, जरासे रहित और अत्यन्त गतिशील जो मेरा मन है वह शुभ शान्त संकल्पवाला हो!

इसी प्रकार – पाप-मोचन, पाप-नाशन, अथवा निष्पाप-भाव गम्भीर ध्वनि शतशः वैदिक मन्त्रोंमें प्रतिध्वनित हो रही है। भिन्न देवता या देवताओंको सम्बोधित करके – "स नो मुञ्चत्वंहसः", "ते मुञ्चतमंहसः", "ते नो मुञ्चन्त्वंहसः" (अर्थात्, वह, वे दोनों, अथवा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

अब हमको पापसे मुक्त करें), इस प्रकारकी विनम्र प्रार्थना 'अथर्ववेद' के (४।२३-२९) सूक्तोंमें तथा अन्य वैदिक मन्त्रोंमें बराबर पायी जाती है। नीचे हम इसी विषयकी एक सुन्दर वैदिक गीतिकाको देकर इस विषयको समाप्त करते हैं।

अप नः शोशुचदघम्

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम्।
अप नः शोशुचदघम् ॥ १ ॥
सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे।
अप नः शोशुचदघम् ॥ २ ॥
प्रयद्भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ३ ॥
प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम्।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ४ ॥
प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति मानवः।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ५ ॥
त्वं हि विश्वतोमुख ! विश्वतः परिभूरसि।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ६ ॥
द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ७ ॥
स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ८ ॥ (ऋग्० १।९७।१-८)

अर्थात्, भगवन् ! हमारे पापको भस्म कर दीजिए !

१. प्रकाशस्वरूप देव ! हमारे पापको भस्म कर हमारी सद्गुण-सम्पत्ति-को प्रकाशित कीजिए। हम बार-बार प्रार्थना करते हैं कि हमारे पापको भस्म कर दीजिए।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

२. उन्नतिके लिए समुचित क्षेत्र, जीवन-यात्राके लिए सन्मार्ग विविध ऐश्वर्योंकी प्राप्तिकी कामनासे हम आपका यजन करते हैं। हमारे पापको भस्म कर दीजिए।

३. भगवन् ! आप हमारे पापको भस्म कर दीजिए, जिससे कि और साथ ही हमारे तत्त्वदर्शी विद्वान् भी विशेषतः सुख और कल्याण भाजन बन सकें।

४. प्रकाश-स्वरूप देव ! आप हमारे पापको भस्म कर दीजिए जिससे कि हम आपके गुणोंका गान करते हुए जीवनमें उत्तरोत्तर सफलता को प्राप्त कर सकें।

५. भगवन् ! आप विघ्न-बाधाओंको दूर करनेवाले हैं। आपके प्रकाशकी किरणें सर्वत्र फैल रही हैं। आप हमारे पापको भस्म कर दीजिए।

६. हे समस्त विश्वके द्रष्टः ! आप ही सब ओरसे हमारे रक्षक हैं। हमारे पापको भस्म कर दीजिए।

७. हे विश्वसाक्षिन् ! जैसे नावसे नदीको पार करते हैं, इसी प्रकार आप हमें विघ्न-बाधाओं और विरोधियोंसे पार कर विजय प्रदान करें। आप हमारे पापको भस्म कर दीजिए।

८. उपर्युक्त महिमाशाली भगवन् ! नावसे जैसे नदीको पार किया जाता है, इसी प्रकार आप हमें कल्याण-प्राप्तिके लिए वर्तमान परिस्थितियोंके ऊपर उठनेकी क्षमता प्रदान कीजिए। हमारे पापको भस्म कर दीजिए।

पवित्रता या पाप-विनाशनकी भावनाका यह प्रवाह वास्तवमें वैदिक धाराकी एक अद्वितीय विशेषता है।

पवित्रताकी भावना तथा अपनेको निष्पाप बनानेकी उत्कट कामनासे परिप्लुत ऐसे ही सैकड़ों वेद-मन्त्र वास्तवमें वैदिक धाराकी शाश्वत निधि हैं। नैतिक दुर्बलताओंसे अभिभूत, मोह-ग्रस्त मनुष्यके लिए वे मार्ग-प्रदर्शक तथा प्राणप्रद सूर्य-प्रकाशके समान हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

2. भद्र-भावना

वैदिक मन्त्रोंकी एक दूसरी अनोखी विशेषता उनकी भद्र-भावना है। मनुष्य स्वभावसे सुखके लोभ और दुःखके भयसे किसी काममें प्रवृत्त उससे निवृत्त होता है। परन्तु वास्तविक कर्तव्य या धर्मकी भावनामें सुख-दुःखकी भावनाका कोई स्थान नहीं होता। उसमें तो सुख और दुःखके भावको बिलकुल छोड़कर (सुखदुःखे समे कृत्वा) विशुद्ध कर्तव्य-बुद्धिसे ही काम करना होता है। वास्तविक भद्र-भावना या कल्याण-भावना यही है।

यह कल्याण-भावना भोगैश्वर्य-प्रसक्त, इन्द्रिय-लोलुप, या समयानुकूल अपना काम निकालनेवाले आदर्शहीन व्यक्तियोंकी वस्तु नहीं है। इसके स्वरूपको वही समझ सकता है, जिसका यह विश्वास है कि उसका सत्य चलना, संयत जीवन, आपत्तियोंके आनेपर भी अपने कर्तव्यसे मुँह न मोड़ना, उसके स्वभाव, उसके व्यक्तित्वके अन्तस्तम स्वरूपकी आवश्यकता है। जैसे एक पुष्पका सौन्दर्य और सुगन्ध, किसी बहिरंग कारणसे न होकर, उसके स्वरूपका अंग है; ऐसे ही एक कल्याण-मार्गके पथिकका निरपेक्ष या अनासक्त होकर कर्तव्य-पालन उसके स्वरूपका अंग है; उसके जीवनका सार्थक्य, जीवनकी पूर्णांगता इसीमें है। गीताकी सात्त्विक भक्ति और निष्काम कर्मके मूलमें यही आशामय, श्रद्धामय कल्याण-भावना निहित है।

आशावाद-मूलक गीताकी कल्याण-भावना और वैदिक भद्र-भावना, मेरे मतमें, दोनों एक ही पदार्थ हैं। दोनोंके मूलमें आशावाद है, और दोनोंका लक्ष्य मनुष्यको सतत कर्तव्यशील बनाना है।

मानवको परमोच्च देव-पदपर बिठानेवाली यह भद्रभावना वैदिक भावनाओंमें प्रायः देखनेमें आती है। जैसे :

यद् भद्रं तन्न आ सुव (यजु० ३०।३)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अर्थात्, भगवन् ! जो भद्र या कल्याण है उसे हमें प्राप्त कराइए।

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि (ऋग्० १०।३७।६)

अर्थात्, भद्र-या कल्याण-मार्गपर चलते हुए हम पूर्ण जीवन प्राप्त करें !

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः (यजु० २५।२१)

अर्थात्, हे यजनीय देवगण ! हम कानोंसे भद्रको सुनें और आँखों भद्रको देखें !

भद्रं नो अपि वातय मनः (ऋग्० १०।२०।१)

अर्थात्, भगवन् ! प्रेरणा कीजिए कि हमारा मन भद्र-मार्गका अनुसरण करे।

भद्रं-भद्रं न आ भर (ऋग्० ८।९३।२८)

अर्थात्, भगवन् ! हमें बराबर भद्रकी प्राप्ति कराइए।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽ–
दब्धासो अपरीतास उद्भिदः (यजु० २५।१४)

अर्थात्, हमको ऐसे भद्र अथवा कल्याणकारी संकल्प सब प्रकार प्राप्त हों जो अविचल हों, जिनको साधारण मनुष्य नहीं समझते और हमें उत्तरोत्तर उन्नतिकी ओर ले जानेवाले हों !

इत्यादि वैदिक प्रार्थनाएँ भद्र-भावनाकी ही उदाहरण हैं।

५. आत्म-विश्वासकी भावना

वैदिक स्तोताके स्वरूपको दिखाते हुए हमने ऊपर (परिच्छेद ६) कहा है, "वह जीवनकी वास्तविक परिस्थितिको खूब समझता है; उससे घबड़ाता नहीं है। उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि उसका वीरतापूर्वक सामना करे। वह संसारमें परिस्थितियोंका स्वामी, कि दास, होकर जीवन व्यतीत करना चाहता है।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

ऋत और सत्यकी भावना और आशावादकी भावनाका स्वाभाविक परिणाम आत्म-सम्मान या आत्म-विश्वासकी भावनाके रूपमें होता है। इस सारे विश्व-प्रपंचका संचालन शाश्वत नैतिक आधारपर हो रहा है, और साथ ही मनुष्यके सामने उसकी अनन्त उन्नतिका मार्ग निर्बाध खुला हुआ है, ऐसी धारणा मनुष्यमें स्वभावतः आत्म-विश्वासकी भावनाको उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती।

यह आत्म-विश्वासकी भावना स्पष्टतः अनेकानेक वैदिक मन्त्रोंमें ही नहीं, सूक्तोंमें भी, पायी जाती है। जैसे :

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥
(अथर्व० १२।१।५४)

अर्थात्, मैं[1] स्वभावतः विजय-शील हूँ। पृथ्वीपर मेरा उत्कृष्ट पद है। मैं विरोधी शक्तियोंको परास्त कर, समस्त विघ्न-बाधाओंको दबाकर, प्रत्येक दिशामें सफलताको पानेवाला हूँ।

अहमस्मि सपत्नहेन्द्र इवारिष्टो अक्षतः।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः॥
(ऋग्० १०।१६६।२)

अर्थात्, मैं शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेवाला हूँ। इन्द्रके समान मुझे न तो कोई मार सकता है, न पीड़ित कर सकता है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मेरे समस्त शत्रु यहाँ मेरे पैरों-तले पड़े हुए हैं।[2]

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः (ऋग्० १०।१२८।१)

---

१. ऐसे सब मन्त्रोंमें "मैं" से अभिप्राय मानवका है।

२. तु० "इन्द्रोऽहमिन्द्रकर्माहम् अरातीनां वधोऽस्म्यहम्। तेषां बाधास्तिरस्कृत्य पदं मूर्ध्नि दधाम्यहम्॥" (रश्मिमाला ६।१)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अर्थात्, मेरे लिए सब दिशाएँ झुक जायें। अर्थात्, प्रत्येक दि मुझे सफलता प्राप्त हो।

अहमिन्द्रो न पराजिग्ये (ऋग्० १०।४८।५)

अर्थात्, मैं इन्द्र हूँ, मेरा पराजय नहीं हो सकता !

यशा विश्वस्य भूतस्या -
हमस्मि यशस्तमः (अथर्व० ६।५८।३)

अर्थात्, जगत्के समस्त उत्पन्न पदार्थोंमें मैं सबसे अधिक यशवाला अर्थात्, मनुष्यका स्थान जगत्के समस्त उत्पन्न पदार्थोंसे ऊँचा है।[1]

अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्।
(यजु० ३६।२

अर्थात्, हम सौ वर्ष तक और उससे भी अधिक काल तक दै दूर रहें ![2]

मा भेः, मा संविक्थाः (यजु० १।२३)

अर्थात्, तू न तो भीरु बन, न उद्विग्नताको प्राप्त हो।

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ (अथर्व० २।१५।१,३)

अर्थात्, जैसे द्युलोक और पृथिवी अपने-अपने कर्तव्यके पालनमें न डरते हैं, न कोई उनको हानि पहुँचा सकता है, इसी प्रकार हे मेरे प्रा तू भी भयको न प्राप्त हो।

---

१. इस्लामकी परम्परामें मनुष्यको 'अशरफ़-उल-मख़लूक़ात' (=सब पदार्थोंमें श्रेष्ठ) कहा गया है। वही बात इस मन्त्रमें कही गयी है।

२. तु० "दृष्ट्वाप्यनन्तप्रसरां मानवो गतिमात्मनः। आश्चर्यं मूढताहे दीनं हीनं च मन्यते ॥" (रश्मिमाला १६।१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C 0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

जैसे सूर्य और चन्द्रमा न तो भयको प्राप्त होते हैं, न कोई उनको हानि पहुँचा सकता है, इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू भी भयको न प्राप्त हो ।

इस प्रकार आत्म-विश्वास अथवा आत्म-सम्मानकी भावनाके परिचायक और परिपोषक शतशः मन्त्र और सूक्त वैदिक संहिताओंमें पाये जाते हैं । निःसन्देह वे सब वैदिक धाराकी एक महान् विशेषता हैं ।

■

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

नवाँ परिच्छेद

वैदिक धाराकी व्यापक दृष्टि

भारतीय संस्कृतिके विकासमें वैदिक धाराके बहुमुखी, व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभावकी चर्चा हम परिच्छेद ५ में कर चुके हैं। इसका स्पष्टीकरण हम अगले परिच्छेदमें करेंगे।

उक्त बहुमुखी, व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभावका मूल वैदिक धाराके व्यापक दृष्टिमें ही हो सकता है। यहाँ हम उसी व्यापक दृष्टिको संक्षेपमें दिखलाना चाहते हैं।

परम्परा-प्राप्त भारतीय दृष्टि

प्राचीन भारतीय वाङ्मयमें वेदोंकी महिमा अनेक प्रकारसे गायी गयी है। उदाहरणार्थ, 'मनुस्मृति'के निम्ननिर्दिष्ट वचनोंको देखिए—

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥ (१२।८८)
पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥ (१२।९४)
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति॥ (१२।९७)
सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ (१२।१००)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

अर्थात्, वैदिक धर्माचरणसे मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस, अथवा लौकिक स्वस्थ सुख और आध्यात्मिक कल्याण (उत्तरकालीन शब्दोंमें, भुक्ति और मुक्ति), दोनोंकी प्राप्ति कर सकता है[1] ॥८८॥ पितृ-कर्म, देव-कर्म और मनुष्योंके प्रति कर्तव्य कर्मोंके विषयमें वेद सनातन कालसे बराबर मार्ग-प्रदर्शक रहा है। वेदको न तो कोई (एक व्यक्ति) बना सकता है, न पूर्णतः जान सकता है ॥९४॥ ब्राह्मण आदि चारों वर्ण, पृथ्वी आदि तीनों लोक तथा ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रम, इनका आधार वेद ही है। तथा भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें वेद मनुष्य-जीवनके लिए प्रेरणा देनेवाला है[2] ॥९७॥ वेदज्ञ विद्वान्में सेनापतित्व, राज्य-शासन, दण्डाधिकारित्व अथवा समस्त पृथ्वीका नेतृत्व-जैसे दुष्कर कार्योंके भारको उठानेकी क्षमता होती है ॥१००॥

इसीलिए वेदको अत्यन्त व्यापक अर्थोंमें धर्मका एकमात्र मूल माना गया है। जैसे—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। (मनुस्मृति २।६)

अर्थात्, धर्माचरणका मूल आधार वेद ही है।

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ (मनुस्मृति २।७)

अर्थात्, मनुने जिस किसीके लिए जिस धर्मका प्रतिपादन (मनुस्मृतिमें) किया है, वह सब वेदमूलक है, क्योंकि वेद सर्व-ज्ञानमय है।

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। (मनुस्मृति २।१३)

अर्थात्, जो धर्मको जानना चाहते हैं उनके लिए वेद ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। क्योंकि,

---

१. तु० "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (वैशेषिकसूत्र १।१।२)।
२. तु० "तया (=श्रुत्या) वर्णाश्रमाचारः प्रवृत्तो वेदवित्तमाः!" (सूतसंहिता १।१।४९)।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥ (मनुस्मृति २।१

अर्थात्, श्रुति (=वेद) और तदनुसारिणी स्मृति (=धर्मशास्त्र) ही धर्मका प्रादुर्भाव हुआ है। इनके प्रतिपाद्य विषयोंमें कुतर्कणा करनी चाहिए।

ऊपरके वचनोंका मूलतः अभिप्राय यही है कि अवस्था, अधिक स्थान, सम्बन्ध आदिके भेदसे मनुष्यके जीवनमें जो विभिन्न उपस्थित होते हैं, उन सबकी दृष्टिसे मार्ग-प्रदर्शनकी क्षमताका होना धाराकी मुख्य विशेषता सदासे रही है। दूसरे शब्दोंमें, मनुष्य-जी कर्तव्योंके विषयमें वैदिक धाराका दृष्टिकोण, एकांगी या एकदेशी न कर, सदासे व्यापक रहा है। इसीलिए विभिन्न प्रतिकूल परिस्थिति भी वह, लुप्त या नष्ट न होकर, अपनेको अबतक जीवित रख सकी यही उसके भारतीय संस्कृतिके विकासमें व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभा रहस्य हैं।

उपर्युक्त वचनोंमें 'वेद' और 'स्मृति' से स्पष्टतः अभिप्राय धाराके वेद, ब्राह्मण आदि समस्त वाङ्मयसे है, जिसका वर्णन हम परि ५ में कर चुके हैं। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, वैदिकोंकी परिभाषा अनुसार वेदके मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग, दोनोंके लिए, 'वेद' शब्द प्रयोग चिरकालसे भारतीय साहित्यिक परम्परामें चला आया है। 'स्मृ या 'धर्म-शास्त्र' नामसे आजकल प्रसिद्ध ग्रन्थोंका निर्माण भी वैदिक सूत्रोंके आधारपर ही हुआ था।

हमारी दृष्टि

ऊपरकी व्याख्यासे स्पष्ट हो गया होगा कि वैदिक धाराकी व्या दृष्टिके विषयमें परम्परागत प्राचीन दृष्टि और हमारी अपनी दृष्टिमें वा

१. देखिए—"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" (आपस्तम्बयज्ञपरिभाषासूत्र ३१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

में कोई गहरा भेद नहीं है। कार्यतः दोनोंका अभिप्राय एक-जैसा ही है। जो थोड़ा-सा भेद है, वह वही है जो किसी भी विषयमें साम्प्रदायिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोणोंमें होना स्वाभाविक है।

परम्परागत प्राचीन दृष्टिके अनुसार वेद स्वयं अपौरुषेय, अतएव अनादि और नित्य हैं; और इसीलिए वेदमूलक धर्म भी सनातन तथा अपरिवर्तनशील है। उसके सम्बन्धमें किसी प्रकारके क्रमिक विकास और ह्रासके विचारके लिए कोई स्थान ही नहीं हो सकता।

वैज्ञानिक दृष्टिकोणके अनुसार, अन्य मानवीय संस्थाओंके सदृश ही[1], वैदिक विचारधारा भी हमारे ऐतिहासिक अन्वेषण और गवेषणाका विषय है। वैदिक धाराके क्रमिक विकासमें उसकी तीन अवस्थाओंका दिग्दर्शन हम परिच्छेद ७ में करा चुके हैं। उससे यह स्पष्ट है कि, वैदिक वाङ्मयके सदृश ही, वैदिक विचारधाराका भी विभिन्न परिस्थितियोंके कारण क्रमिक विकास हुआ था। ऐसी दशामें भारतीय संस्कृतिके इतिहासमें उसके बहुमुखी, व्यापक और शाश्वतिक प्रभावको न तो हम वेदको अपौरुषेय अथवा अनादि और नित्य मानकर और न वेदमूलक धर्मको सनातन और अपरिवर्तनशील मानकर समझा सकते हैं। उसके लिए तो विभिन्न परिस्थितियोंमें-से गुज़रती हुई सतत प्रगतिशील वैदिक धाराकी अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियों और व्यापक दृष्टिका अध्ययन आवश्यक है।

भारतीय संस्कृतिके उस अतिप्राचीनकालमें वैदिक धाराकी भव्य उदात्त भावनाएँ, जिनका दिग्दर्शन हम पहले करा चुके हैं, और मनुष्य-जीवनके कर्तव्योंके विषयमें उसकी व्यापक दृष्टि, जिसका स्पष्टीकरण हम यहाँ करना चाहते हैं, वास्तवमें एक महान् आश्चर्य और विस्मयकी वस्तु है। पृथ्वी-भरकी सभ्यताके इतिहासमें वे अद्वितीय और अनुपम हैं। उनको देखकर सहसा 'भगवद्गीता' का यह पद्य सामने उपस्थित हो जाता है—

१. तु०—"यच्चापि लौकिकं वस्तु संस्था आचारपद्धतिः। भावैः संप्रेरितस्यैव मानवस्येह सा कृतिः॥" (रश्मिमाला २८।२)

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन—
माश्चर्यद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ (गीता २।२९)

इसमें सन्देह नहीं कि उत्तरकालकी विभिन्न धाराओंसे भी, जैसा आगे क्रमशः दिखायेंगे, भारतीय संस्कृतिका समय-समयपर महान् उत्कर्ष हुआ है; तो भी मानवीय जीवनके लिए उपयोगी महान् प्रेरणाओं, आदर्शोंकी दृष्टिसे, तथा विभिन्न परिस्थितियोंमें आदर्शवादकी रक्षाके साथ आत्मरक्षा तथा लौकिक अभ्युदयकी सफलताकी दृष्टिसे वैदिक धाराकी व्यापक दृष्टि न केवल हम भारतीयोंके लिए सदा गर्व और गौरवकी वस्तु रहेगी, अपितु मानव-जातिके लिए भी सार्वभौम तथा सार्वकालिक सन्देशकी वाहक रहेगी ।

उसी व्यापक दृष्टिको हम नीचे जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंको लेकर क्रमशः दिखानेका यत्न करेंगे—

वैदिक धाराका धार्मिक चिन्तन

वैदिक धाराकी व्यापक दृष्टिका सबसे उत्कृष्ट और आश्चर्यजनक उदाहरण उसके धार्मिक चिन्तनका विश्वव्यापी आधार है। ऊपर हम 'ऋत और सत्यकी भावना' (परिच्छेद ८) तथा 'वैदिक स्तोताके स्वर' (परिच्छेद ६) की व्याख्या करते हुए वैदिक धाराके विश्वव्यापी रूप, विशाल दृष्टिकोण का उल्लेख कर चुके हैं ।

छोटे-छोटे देश, जाति या वर्गके संकीर्ण हितमें ही आस्था रखनेवाले आजके सभ्यताभिमानी मानवको वैदिक धाराकी विश्व-व्यापिनी दृष्टि आश्चर्यमें डाले विना नहीं रह सकती ।

---

१. तु०—"द्यौर्मे पिता जनिता···माता पृथिवी महीयम्"
(ऋग्० १।१६४।३३)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

द्युलोकको पिता और पृथिवीको माता समझनेवाला वैदिक स्तोता नेको मानो इस विशाल विश्वका ही अधिवासी समझता है। इसीलिए की स्तुतियों और प्रार्थनाओंमें बार-बार न केवल द्यावा-पृथिवी और तरिक्ष, इन तीन लोकोंका ही, अपितु इनसे भी परे स्वः और नाक जैसे कोंका भी उल्लेख पाया जाता है।

उदाहरणार्थ,

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा
येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (ऋग्० १०।१२१।५)

(अर्थात्, जिस दैवी शक्तिने इस विशाल द्युलोकको, इस पृथिवीको, लोक और नाक-लोकको अपने-अपने स्वरूपमें स्थिरकर रखा है और जो न्तरिक्षलोकमें भी व्याप्त हो रही है उसको छोड़कर हम किस देवकी ा करें? अर्थात्, हमको उसी महाशक्ति-रूपिणी देवताकी पूजा रनी चाहिए।)

वैदिक प्रार्थनाओंका क्षेत्र कितना विस्तृत और विशाल है, इसके ही छ और उदाहरण देखिए—

द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ँ शान्तिः पृथिवी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्ति-
र्ब्रह्म शान्तिः सर्व ँ शान्तिः शान्ति-
रेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ (यजु० ३६।१७)

(अर्थात्, मेरे लिए द्युलोक, अन्तरिक्ष-लोक और पृथिवी-लोक सुख-न्ति-दायक हों; जल, ओषधियाँ और वनस्पतियाँ शान्ति देनेवाली हों; मस्त देवता, ब्रह्म और सब कुछ शान्तिप्रद हों। जो शान्ति विश्वमें सर्वत्र

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

फैली हुई है, वह मुझे प्राप्त हो। मैं बराबर शान्तिका अनुभव करूँ!

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु

शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु। (ऋग्० ७।३५।

अर्थात्, अत्यन्त तेजसे युक्त सूर्यका उदय हम सबके लिए शान्तिक हो! चारों दिशाएँ हमारे लिए शान्ति देनेवाली हों!

शं नो वातः पवताँ शं नस्तपतु सूर्यः।

शं नः कनिक्रदद् देवः पर्जन्यो अभि वर्षतु॥

(यजु० ३६।१०

अर्थात्, वायु हमारे लिए सुखरूप होकर चले!

सूर्य हमारे लिए सुखरूप होकर तपे!

अत्यन्त गरजनेवाले पर्जन्य-देव भी

हमारे लिए सुखरूप होकर अच्छी तरह बरसें।

कैसी दिव्य और विशाल दृष्टि है इन प्रार्थनाओंकी! इनसे सार्वभौम और सार्वकालिक प्रार्थनाएँ और क्या हो सकती हैं? वेदमें ऐसी ही प्रार्थनाएँ ओत-प्रोत हैं।

यह भी ध्यान देनेकी बात है कि वैदिक देवताओंका वर्गीकरण पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु-लोक इन तीन लोकोंके आधारपर ही किया गया है, जैसा कि हम पहले (परिच्छेद ६ में) दिखला चुके हैं। विश्व-व्यापिनी दैवी शक्तिकी मानो पदे-पदे साक्षात् अनुभूति करनेवाली वैदिक धाराके लिए यह स्वाभाविक ही है कि उसके देवताओंका कार्यक्षेत्र विश्व-व्यापी हो।

उपर्युक्त अत्यन्त विशाल धार्मिक चिन्तनके आधारपर स्थित वैदिक धाराके समस्त अंगोंमें व्यापक दृष्टिका होना स्वभाव-सिद्ध है, जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे।

---

१. तु०—"येयं शान्तिकला दिव्या लोकानां शान्तिदायिनी। चन्द्रेऽपि यां धत्ते सा मे नित्यं प्रकाशताम्॥" (रश्मिमाला ३५।१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

वैदिक धाराका मानवीय पक्ष

विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्वकी उदात्त भावनाओंसे ओत-प्रोत
क मन्त्रोंमें मानव-मात्रके प्रति सौहार्द, मित्रता और साहाय्यकी भावनाका
या जाना नितरां स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ,

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि
भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा
समीक्षामहे॥ (यजु० ३६।१८)

अर्थात्, मैं मनुष्य क्या, सब प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखूँ। हम सब
रस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखें!

पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः। (ऋग्० ६।७५।१४)

अर्थात्, एक-दूसरेकी सर्वथा रक्षा और सहायता करना मनुष्योंका
स्य कर्त्तव्य है।

याँश्च पश्यामि याँश्च न
तेषु मा सुमतिं कृधि। (अथर्व० १७।१।७)

अर्थात्, भगवन्! ऐसी कृपा कीजिए जिससे मैं मनुष्य-मात्रके प्रति,
हे मैं उनको जानता हूँ अथवा नहीं, सद्भावना रख सकूँ!

तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्वः। (अथर्व० ३।३०।४)

अर्थात्, आओ हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्योंमें
रस्पर सुमति और सद्भावनाका विस्तार हो!

इस प्रकार मनुष्य-मात्रके प्रति कल्याण-कामना, सद्भावना तथा सौहार्द-
प्रतिपादक सैकड़ों मन्त्र वेदोंमें पाये जाते हैं।

मनुष्य-मात्रमें सद्भावना और सौहार्दका हृदयाकर्षक उपदेश देने वाले
थर्ववेद तथा ऋग्वेदके 'सांमनस्यसूक्त'[1] कदाचित् संसारके सम्पूर्ण वाङ्मय-
अपनी उपमा नहीं रखते।

---

१. देखिए 'अथर्ववेद' ३।३०; ६।६४, ७४, ९४ आदि। 'ऋग्वेद' १०।१९१।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

आदर्श-रक्षा तथा आत्म-रक्षा

उपर्युक्त उत्कृष्ट मानवीय पक्षके साथ-साथ वैदिक धारा आदर्शोंकी रक्षा तथा आत्म-रक्षाके लिए वीरोचित संघर्ष तथा आवश्यकतासे भी अपरिचित नहीं है।

"सत्यमेव देवाः अनृतं मनुष्याः"[1] (अर्थात्, देवता वास्तविक अनुगामी होते हैं, पर मनुष्य स्वभावसे ही इसके प्रतिकूल होते हैं) वैदिक उक्तिके अनुसार साधारणतया मनुष्यका व्यवहार आदर्शवादसे दूर ही रहता है। ऐसी परिस्थितिमें, विश्वशान्ति और विश्वकल्याणके मार्गपर चलनेवालेको भी, अपने उत्कृष्ट आदर्शोंकी रक्षाके लिए, आत्म-रक्षाके ही लिए, प्रायः संघर्षका, अपने शत्रुओं और विरोधियोंके दमनका, यहाँतक कि घोर युद्धके मार्गका भी अवलम्बन करना पड़ता है।

इस अपूर्ण जगत्का यह अप्रिय तथ्य वैदिक धारासे छिपा हुआ नहीं है। इसीलिए मन्त्रोंमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है—

मा त्वा परिपन्थिनो विदन् (यजु० ४।३४)

अर्थात्, इस बातका ध्यान रखो कि तुम्हारी वास्तविक उन्नतिके बाधक शत्रु तुमपर विजय प्राप्त न कर सकें।

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं
वो जम्भे दध्मः। (अथर्व० ३।२७।१–६)

अर्थात्, जो निष्कारण हमसे द्वेष करता है, और इसी कारण जिसे हम अपना द्वेष्य समझते हैं, उसे हम सदा विश्वका कल्याण करनेवाली दैवी शक्तियोंको सौंपते हैं, जिससे ये उसको नष्ट कर दें।

इसी प्रकार आत्मा-रक्षा और आदर्श-रक्षाकी भावनासे परिपूर्ण मन्त्र[2] वेदोंमें पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ,

---

१. 'शतपथब्राह्मण' (१।१।१।४)।

२. तु०—"इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि। जयेम सं युधि स्पृधः"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यतः।
घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ॥ (अथर्व० ७।९३।१)

अर्थात्, सत्कार्योंमें बाधक जो शत्रु हम पर आघात करें हमको चाहिए कि वीरोचित क्रोध और पराक्रमके साथ हम उनका दमन करें और उनको विनष्ट कर दें।

अहमस्मि सपत्नहेन्द्र इवारिष्टो अक्षतः।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः ॥ (ऋग्० १०।१६६।२)

अर्थात्, मैं शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेवाला हूँ। मैं इन्द्रके समान पराक्रमी हूँ। मुझे कोई हानि अथवा आघात नहीं पहुँचा सकता। मैं तो अनुभव करता हूँ कि मेरे सब शत्रु मेरे पैरों-तले पड़े हुए हैं[1]!

मन्त्रोंमें शत्रुओंके लिए प्रायः 'अव्रत' (=असंयत जीवन व्यतीत करनेवाले) अथवा 'वृत्र' (=सत्कार्योंमें बाधा डालनेवाले) जैसे शब्दोंके प्रयोगसे स्पष्ट है कि वैदिक मन्त्रोंमें आदर्श-रक्षाकी भावना ही शत्रुओंके संहारकी भावनाकी प्रेरक थी।

मम पुत्राः शत्रुहणः (ऋग्० १०।१५९।३)

अर्थात्, मेरे पुत्र शत्रुका हनन करनेवाले हों!

सुवीरासो वयं···जयेम (ऋग्० ९।६१।२३)

अर्थात्, हमारे पुत्र सुवीर हों और उनके साथ हम शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें!

ऐसी प्रार्थनाएँ और अनेकानेक ऐसे सूक्त[2], जो न केवल अर्थकी दृष्टिसे

वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्। सासह्याम पृतन्यतः॥" (ऋग्० १।८।३-४)

१. तु०—"ऋषभं मा समानानां सपत्नानां भयंकरम्। हन्तारं कुरु शत्रूणां देवि! दारिद्र्यनाशिनि॥" (रश्मि-माला ५।५)

२. देखिए – 'ऋग्वेद' १०।१०३।१०-११ – "उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत् सत्वनां मामकानां मनांसि। उद् वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः॥ अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेषु···। अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु···॥"

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

ही, किन्तु सुननेमें भी, युद्ध-गीत और युद्ध-क्षेत्रमें वीरोंके आह्वान-
प्रतीत होते हैं, वैदिक धाराकी वीरोचित भावनाके सुन्दर और हृदयग्रा
निदर्शन हैं।

उनसे यह भी स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि स्वभावतः विश्व-शा
और विश्व-बन्धुत्वको चाहनेवाली वैदिक धाराका दृष्टिकोण एकांगी
होकर व्यापक ही है। वह कोरे आदर्शोंकी ही प्रतिपादक नहीं है, औ
मनुष्य-जीवनकी पूरी परिस्थितिको समझकर चलती है।

वैदिक धाराका सामाजिक जीवन

सामाजिक जीवनका विचार अत्यन्त व्यापक है। अनेक दृष्टि
सामाजिक जीवनका वर्णन किया जा सकता है। स्पष्टतः यहाँ यह स
नहीं है। इसलिए यहाँ हम कुछ प्रमुख बातोंको ही लेकर सामाजि
जीवनके क्षेत्रमें वैदिक धाराकी व्यापक दृष्टिको दिखाना चाहते हैं। स
पहले हम समष्टि-भावनाको लेते हैं।

समष्टि-भावना

समष्टि-भावनाको हम सामाजिक जीवनका प्राण अथवा मौ
सिद्धान्त कह सकते हैं। समष्टि-भावनाका अर्थ है 'दूसरोंके साथमें ही
हितके सम्पादनकी भावना', अथवा 'समष्टिके हितमें ही अपने हि
समझना।'

यह कौन नहीं जानता कि वर्तमान हिन्दू-धर्ममें उसका केन्द्र-
चिरकालसे बहुत-कुछ व्यक्ति-परक रहा है। मनुष्य, समाजसे दूर भाग
केवल अपनी ही भलाईको, धर्मके क्षेत्रमें भी, सोचता है। यह प्रवृत्ति
और किन कारणोंसे हिन्दुओंमें चल पड़ी, इसका विचार हम यहाँ
करेंगे; तो भी इसमें सन्देह नहीं कि वैराग्य, संन्यास और मुक्तिकी
नाओंसे इसको बल अवश्य मिला है।

इसके विरुद्ध, यह देखकर आश्चर्य होता है कि वैदिक प्रार्थनाओं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

सबसे पहली विशेषता उनकी समष्टि-भावनामें है। इसीलिए वे प्रायः बहु-वचनमें ही होती हैं। उदाहरणार्थ,

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव ॥ (यजु० ३०।३)

अर्थात्, हे देव सवितः !....हमारे लिए जो वास्तविक कल्याण है, उसे हम सबको प्राप्त कराइए।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ (यजु० ३।३५)

अर्थात्, हम सब सवितृ-देवके उस प्रसिद्ध वरणीय तेजोमय स्वरूपका ध्यान करते हैं जो हम सबकी बुद्धियोंको प्रेरणा प्रदान करे।

इत्यादि प्रार्थनाओंमें[1] बहुवचनका ही प्रयोग किया गया है। स्वभावतः वैयक्तिक स्वार्थोंमें लिप्त मनुष्यके सामने समष्टि-भावनाका यह आदर्श कितना महान् और आवश्यक है ! समाजकी उन्नति और रक्षाके लिए यह समष्टि-भावना कितनी आवश्यक है, यह सिद्ध करनेकी बात नहीं है। वैदिक धाराकी व्यापक दृष्टिका स्पष्टतः यह एक सुन्दर निदर्शन है।

इसके अतिरिक्त, वेदोंके 'सांमनस्य सूक्तों' में भी, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, स्पष्टतः इस सामाजिक उत्कृष्ट भावना (= समष्टि-भावना) का सुन्दर उपदेश मिलता है। जैसे,

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते ॥
(ऋग्० १०।१९१।२)

अर्थात्, हे मनुष्यो ! जैसे सनातनसे विद्यमान, दिव्य शक्तियोंसे

---

१. इसी प्रकार "सं गच्छध्वं सं वदध्वं...."(ऋग्० १०।१९१।२), "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्...." (यजु० ४०।१६), "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः...." (यजु० २५।२१) इत्यादि सहस्रों मन्त्रोंमें बहुवचनमें प्रार्थनाएँ पायी जाती हैं।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

सम्पन्न, सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि देव परस्पर अविरोध भावसे, प्रेमसे, अपने-अपने कार्यको करते हैं, ऐसे ही तुम भी समष्टि-भावसे प्रेरित होकर एक साथ कार्यों में प्रवृत्त होओ, ऐकमत्यसे रहो और परस्पर सद्भावसे बरतो।

यही नहीं, वेद-मन्त्रोंमें तो समष्टि-भावनाके व्यावहारिक प्रतीक भोज तथा सह-पान तकका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जैसे –

सध्रिचं मे सपीतिश्च मे (यजु० १८।९)

अर्थात्, अपने साथियोंके साथमें सह-पान और सह-भोज प्राप्त हों !

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था[1]

वैदिक धाराके सामाजिक जीवनके प्रसंगमें चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके विषयमें कुछ कहना अत्यन्त आवश्यक है। ऊपर 'मनुस्मृति'के उद्धरणोंमें स्पष्ट कहा गया है कि ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंका प्रारम्भ वेदसे ही हुआ है।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाका प्रारम्भ और विकास किस प्रकार हुआ, इस प्रश्नमें पड़नेका यह अवसर नहीं है। सातवें परिच्छेदमें वर्ण-विभाग प्रवृत्तिके प्रारम्भके विषयमें हम कुछ कह चुके हैं। अगले परिच्छेदमें इस विषयको कुछ अधिक स्पष्ट करेंगे।

ऊपर हमने दिखलाया है कि अपने-अपने स्वार्थ, आजीविका और पेशेकी रक्षाकी प्रवृत्तिसे ही वैदिक धारामें वर्ण-विभागकी प्रवृत्तिका प्रारम्भ हुआ और शनैः-शनैः उसके तृतीय कालमें वह उसकी एक विशेषता हो गयी। तो भी, उस समय तक इस प्रवृत्तिमें वह घोर रूढि-मूलकता नहीं आयी थी, जिसने आगे चलकर वैदिक धाराके प्रवाहको काफ़ी विकृत और दूषित कर दिया।

---

१. इस प्रसंगमें इसी ग्रन्थके परिशिष्ट (च) में 'वर्णभेद तथा जातिभेदका परस्पर सम्बन्ध' शीर्षक लेख भी देखिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

वैदिक वाङ्मयका सुप्रसिद्ध 'पुरुष-सूक्त' ("सहस्रशीर्षा पुरुषः...." इत्यादि) स्पष्टतया वैदिक धाराके उसी तृतीय कालकी रचना है। थोड़े-बहुत भेदसे यह चारों वेदोंमें आया है। इसी सूक्तमें निम्न-लिखित मन्त्र आता है –

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(ऋग्० १०।९०।१२)

अर्थात्, ब्राह्मण इस विराट् पुरुषका मुख-स्थानीय है, क्षत्रिय बाहु-स्थानीय और वैश्य ऊरु-स्थानीय है। शूद्र मानो उसके पैरोंसे उत्पन्न हुआ है।

सब व्याख्याकारों और वैदिक आचार्योंके अनुसार निर्विवाद रूपसे उक्त पुरुष-सूक्तमें विश्वव्यापी विराट् पुरुषका वर्णन है। इस प्रसंगमें उक्त मन्त्रका वही अर्थ हो सकता है जो हमने ऊपर दिया है।

उक्त मन्त्रमें स्पष्टतः आलंकारिक प्रक्रिया-द्वारा ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंमें परस्पर अङ्गांगि-भावके सम्बन्धको बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जैसे किसी जीवित शरीरमें मुखसे लेकर पैर तक सब अंगोंमें परस्पर गहरा अङ्गांगि-भावका, परस्पर आश्रयाश्रित-भावका, सम्बन्ध होता है, वैसे ही समाजरूपी शरीरमें चारों वर्णोंका परस्पर गहरा सम्बन्ध है। शरीरमें कोई अंग दूसरे अंगकी उपेक्षा नहीं करता; एकको पीड़ामें सब व्याकुल हो जाते हैं; कोई भी अंग अपने लिए नहीं, अपितु दूसरे अंगोंके हितमें ही काम करता है। वास्तवमें किसी भी समुन्नत समाजके विभिन्न अंगोंके परस्पर सम्बन्धके विषयमें इससे अच्छा दृष्टान्त हो ही नहीं सकता।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्र स्पष्टतया एक सभ्य और समुन्नत समाजके (चाहे उसका सम्बन्ध पृथ्वीके किसी भी देशसे क्यों न हो) विभिन्न वर्गों-को ब्राह्मण आदि चार भागोंमें बाँटकर उनमें परस्पर घनिष्ठ अङ्-

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

गाङ्गिभावके आदर्श सम्बन्धका प्रतिपादन करता है। यह सम्बन्ध पा
स्परिक सहयोग और सामंजस्यके आधारपर ही हो सकता है। किंचित्
भी संघर्षकी भावना उसको समूल नष्ट करनेके लिए पर्याप्त है। समाज
इस प्रकारका चित्रण, हमारे मतमें, वैदिक धाराकी व्यापक और
निक दृष्टिका एक परम उज्ज्वल निदर्शन है।

चारों वर्णोंके परस्पर सम्बन्धमें यह आदर्श स्थिति वास्तवमें कब
कितने काल तक रही, यह कहना कठिन है। तो भी कमसे कम
रूपमें उसकी स्थितिमें सन्देह नहीं हो सकता। इसकी पुष्टि उन मन्त्र
और भी होती है, जिनमें स्पष्टतया समस्त समाज और शूद्रों सहित
वर्णोंके प्रति ममत्व-बुद्धि और हित-भावनाका वर्णन मिलता
उदाहरणार्थ,

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥ (यजु० १८

अर्थात्, शोभा और दीप्तिके निधान भगवन्! आप हमारे ब्राह्म
दीप्तिको धारण कीजिए! हमारे क्षत्रियोंको दीप्तिमान् कीजिए! ह
वैश्यों और शूद्रोंको दीप्ति-युक्त कीजिए! और इस प्रकार हमारे सम
सब ओर दीप्तिके प्रसार-द्वारा मुझे सदा दीप्तिमान् कीजिए!

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥ (अथर्व० १९।६

अर्थात्, भगवन्! मुझे देवोंमें (=देवताओंमें, अथवा विद्वानोंमें)
बनाइए! मुझे क्षत्रियोंमें प्रिय बनाइए! मुझे शूद्रों और वैश्योंमें तथा
सब प्राणियोंका भी प्रिय बनाइए!

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याँ शूद्राय चार्याय च....॥ (यजु० २६

अर्थात्, भगवन्! मुझे ऐसा बनाइए कि मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

और शूद्र अर्थात् सारी जनताके लिए कल्याण करनेवाले ज्ञानका प्रचार और प्रसार कर सकूँ।

कैसी सुन्दर और उदात्त भावना है इन वेद-मन्त्रोंकी! किसी एक वर्गके लिए नहीं, किन्तु सम्पूर्ण समाज और सारी जनताके प्रति। वैदिक धाराकी व्यापक दृष्टिका इससे अच्छा प्रमाण और क्या हो सकता है?

यह ठीक है कि यही चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था क्रमशः विकृत होती हुई आगे चलकर देशके लिए अभिशापरूप हो गयी। उसने परस्पर अविश्वास, संघर्ष और विद्वेषका रूप धारण कर लिया। शूद्रके प्रति तो कठोर दृष्टि चरमसीमा तक पहुँच गयी। परन्तु यह कितने सन्तोष और आह्लादकर विस्मयका विषय है कि वेदमन्त्रोंमें उस संकीर्ण-भावनाका चिह्न भी नहीं है! चारों वेदोंमें शूद्रके प्रति अन्याय्य अथवा कठोर दृष्टि कहीं भी नहीं मिलेगी।

अपनी इन्हीं उदार और उदात्त भावनाओंके कारण वैदिक धारा हम भारतवासियोंके लिए सदासे श्रद्धा और सम्मानकी वस्तु रही है और आगे भी रहेगी।

चातुराश्रम्य-व्यवस्था

ऊपर दिये गये 'मनुस्मृति'के उद्धरणोंके अनुसार, ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके समान, ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चारों आश्रमोंका प्रारम्भ भी वेदसे ही हुआ है। इस कथनमें किस रूपमें और कहाँतक प्रामाणिकता हो सकती है, इसका विस्तृत विचार हम (प्रकृत ग्रन्थके द्वितीय खण्डमें) 'औपनिषद धारा'के प्रसंगमें करेंगे। यहाँ तो केवल इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा कि जहाँतक केवल वेद-मन्त्रोंका सम्बन्ध है, हमें उनमें स्पष्ट रूपसे चारों आश्रमोंका उल्लेख अभी-तक नहीं मिला है।

इसके अतिरिक्त, विवाह-सम्बन्धी मन्त्रोंमें

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं
मया पत्या जरदष्टिर्यथासः[1] (ऋग्० १०।८५।३६)

(अर्थात्, अयि वधु ! मैं सौभाग्यके लिए तुम्हारे पाणिका ग्रहण करता हूँ, जिससे तुम मुझ पतिके साथमें वृद्धावस्थाको प्राप्त करो) इन वचनोंसे, तथा श्रौत कर्मकाण्डके "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" (अर्थात्, पत्नीके साथमें जीवन-पर्यन्त अग्निहोत्र करे), "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्" (अर्थात्, पत्नीके साथमें जीवनपर्यन्त दर्श और पूर्णमास यागोंको करे) इत्यादि प्रकरणोंमें पति-पत्नीके लिए जीवन-पर्यन्त साथ-साथ याज्ञिक कर्मकाण्डके विधानसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कम से कम मन्त्र-कालमें चारों आश्रमोंकी व्यवस्थाका प्रारम्भ नहीं हुआ था।

ऐसा होनेपर भी, ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य इन दो आश्रमोंके सम्बन्ध वेद-मन्त्रोंमें जो उत्कृष्ट और भव्य विचार प्रकट किये गये हैं, उनको बिना किसी अतिशयोक्तिके भारतीय संस्कृतिकी स्थायी अमूल्य सम्पत्ति कह सकते हैं।

वेदोंके अनेकानेक मन्त्रोंमें ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्यका बड़ा हृदयग्राही वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ, अथर्ववेदके एक पूरे सूक्त (११।५) में ब्रह्मचर्यकी महिमाका ही वर्णन है। जैसे—

---

१. तु० "ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः। मया पत्या प्रजावति जीव शरदः शतम्॥" (अथर्व० १४।१।५२); "इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥" (ऋग्० १०।८५।४२)

२. देखिए 'जैमिनीय-न्यायमाला-विस्तर' (६।२।९); तथा 'शतपथब्राह्मण' (१२।४।१।१) : – "एतद्वै जरामर्यं ᳪ सत्रं यदग्निहोत्रम्। जरया ह्येवास्मान्मुच्यन्ते मृत्युना वा।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

ब्रह्मचारी ब्रह्म[1] भ्राजद् बिभात्त
तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः ॥ (अथर्व० ११।५।२४)
ब्रह्मचारी····श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति । (अथर्व० ११।५।४)
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ (अथर्व० ११।५।१७)

अर्थात्,

ब्रह्मचर्य-व्रतको धारण करनेवाला ही प्रकाशमान ज्ञान-विज्ञानको धारण करता है। उसमें मानो समस्त देवता वास करते हैं।

ब्रह्मचारी श्रम और तपसे युक्त जीवन-द्वारा सारी जनताको पुष्टि प्रदान करता है।

ब्रह्मचर्यके तपसे ही राजा अपने राष्ट्रकी रक्षामें समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य-द्वारा ही आचार्य शिष्योंके शिक्षणकी योग्यताको अपनेमें सम्पादन करता है।

यहाँ स्पष्ट शब्दोंमें राष्ट्रकी चतुरस्र उन्नतिके लिए और मानव-जीवनके विभिन्न कर्तव्योंके सफलतापूर्वक निर्वाहके लिए श्रम और तपस्या-द्वारा विद्याप्राप्ति (=ब्रह्मचर्य) की अनिवार्य आवश्यकताका प्रतिपादन किया गया है। मन्त्रमें 'श्रम' और 'तपः' ये दो शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। क्या आज-कलकी अत्यन्त कठिन शिक्षा-समस्याके लिए उनसे कोई प्रेरणा और संकेत नहीं मिल सकता? श्रम और तपस्यापर निर्भर ब्रह्मचर्य-आश्रमकी उद्भावना वैदिक धाराकी व्यापक दृष्टिका निःसन्देह एक समुज्ज्वल प्रमाण है।

---

१. तु०—"सर्वेषामपि भूतानां यत्तत्कारणमव्ययम्। कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं, वेदो वा, ज्ञानमेव यत्॥ तदेतदुभयं ब्रह्म ब्रह्मशब्देन कथ्यते। तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते॥" (रश्मिमाला ११।५–६)

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

गृहस्थ-आश्रमके सम्बन्धमें सबसे उत्कृष्ट विचार हमें वेदोंके विवा सम्बन्धी सूक्तों[1] में तथा 'सांमनस्य-सूक्तों' में मिलते हैं। विस्तारके भ यहाँ केवल दो-चार उद्धरण देना पर्याप्त होगा।

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं···
मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः। (ऋग्० १०।८५।३६)
समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
(ऋग्० १०।८५।४७
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि
(ऋग्० १०।८५।२
अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि। (ऋग्० १०।८५।३
मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती।
सुगेभिर्दुर्गमतीताम्·····(ऋग्० १०।८५।३२)
सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
(ऋग्० १०।८५।४६
इहैव स्तं मा वि यौष्टं·····(ऋग्० १०।८५।४२)
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे। (अथर्व० १४।२।२७)

अर्थात्, हे वधु! हम दोनोंकी सौभाग्य-समृद्धिके लिए मैं तुम पाणिका ग्रहण कर रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि मैंने तुम्हें देवताओंसे प्र रूपमें गृहस्थ-धर्मके पालनके लिए पाया है।

समस्त दैवी शक्तियाँ हमारे हृदयोंको परस्पर अनुकूल, कर्तव्य पालनमें सावधान और जलोंके समान शान्त तथा भेद-भावसे रहित क

विवाहका लक्ष्य यही है कि पति-पत्नी दोनों गृहस्थाश्रममें प्र होकर संयम तथा सच्चरित्रताका पवित्र जीवन व्यतीत करते हुए स पूर्ण विकास कर सकें।

---

१. देखिए–'ऋग्वेद' १०।८५ तथा 'अथर्ववेद' १४।१, २।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अयि वधु ! तुम पति-गृहमें पहुँचकर गृहस्थके कर्तव्य-पालनमें सदा जागरूक और सावधान रहना !

वे दुर्भावनाएँ, जो प्रायः पति-पत्नीके जीवनमें भेद और विराग उत्पन्न कर देती हैं, तुम दोनोंके बीचमें कभी न आयें ! तुम दोनों सच्चरित्रताके साथ इस कठिन गृहस्थ धर्मका पालन करो ।

हे वधु ! तुम पतिगृहमें सास-ससुरके लिए सम्राज्ञीके रूपमें प्रेम और सम्मानका पात्र बनकर रहना !

पति-पत्नी तुम दोनों जीवनमें एकमन होकर रहो, तुम्हारा वियोग कभी न हो !

हे वधु ! तुम्हारा गृहस्थ-जीवन सारी जनताके लिए सुख देने-वाला हो !

वैवाहिक जीवनके पवित्र और महान् लक्ष्यकी ओर स्पष्ट संकेत करने-वाले इन उदात्त विचारोंपर टीका-टिप्पणीकी आवश्यकता नहीं है । देखना तो यह है कि भारतीय इतिहासके मध्य-कालके उन लज्जाजनक विचारोंसे ये कितने भिन्न हैं, जिनके अनुसार स्त्रीको 'उपभोगकी सामग्री', 'नरकका द्वार' (=नारी नरकस्य द्वारम्), 'ताडनका अधिकारी' और 'आदमीकी दासी' तक कहा गया है ।

इसी प्रकार वेदोंके 'सांमनस्य-सूक्तों'[1] में, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, गृहस्थ-जीवनके सम्बन्धमें जो सुन्दर भाव प्रकट किये गये हैं, वे भी वैदिक धाराकी एक महान् निधि हैं । उदाहरणार्थ,

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥

---

१. सांमनस्य-सूक्तोंमें पारिवारिक जीवनके साथ-साथ समाज तथा मानव-मात्रके प्रति भी सौहार्द और सद्भावनाका प्रतिपादन किया गया है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

(अथर्व० ३।३०।१-

अर्थात्, हे गृहस्थो ! तुम्हारे पारिवारिक जीवनमें परस्पर सौहार्द और सद्भावना होनी चाहिए। द्वेषकी गन्ध भी न हो। तुम दूसरेको उसी तरह प्रेम करो, जैसे गौ अपने तुरन्त जनमे हुए बच्चे प्यार करती है।

पुत्र अपने माता-पिताका आज्ञानुवर्ती और उनके साथ एक-मन होकर रहे ! पत्नी अपने पतिके प्रति मधुर और स्नेह-युक्त वाणीका ही व्यवहार करे !

भाई भाईके साथ और बहिन बहिनके साथ द्वेष न करे।

तुम्हें चाहिए कि एक-मन होकर समान आदर्शोंका अनुसरण करते हुए परस्पर स्नेह और प्रेमको बढ़ानेवाली वाणीका ही व्यवहार करो !

पारिवारिक जीवनमें स्वर्गीय सुख और शान्ति लानेके लिए इससे अच्छा उपदेश और क्या हो सकता है ?

निस्सन्देह आदर्श पारिवारिक जीवनका यह एक उत्तम चित्र है।

राजनीतिक आदर्श

राजनीतिक आदर्शोंके विषयमें भी वैदिक मन्त्रोंके अनेक एसे विचार हैं, जो वैदिक धाराकी व्यापक दृष्टिको स्पष्टतः प्रमाणित करते हैं।

सभ्यताके इतिहासमें राज-संस्था, किसी-न-किसी रूपमें, अति प्राचीन कालसे चली आ रही है। वैदिक कालमें भी इसकी स्थिति थी, ऐसा इन मन्त्रोंसे ही स्पष्ट प्रतीत होता है। ऐसा होनेपर भी, वेद-मन्त्रोंमें जनतन्त्र की भावना और जनता अथवा प्रजाके पक्षका समर्थन यत्र-तत्र मिलता है। उदाहरणार्थ,

विशि राजा प्रतिष्ठितः (यजु० २०।९)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अर्थात्, राजाकी स्थिति प्रजापर ही निर्भर होती है।

त्वां विशो वृणतां राज्याय (अथर्व० ३।४।२)

अर्थात्, हे राजन् ! प्रजाओं-द्वारा तुम राज्यके लिए चुने जाओ।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु (अथर्व० ४।८।४)

अर्थात्, हे राजन् ! तुम्हारे लिए यह आवश्यक है कि समस्त प्रजाएँ आपको चाहती हों।

'एतरेय-ब्राह्मण' में तो यहाँतक कह दिया है कि

"राष्ट्राणि वै विशः" (ऐत० ब्रा० ८।२६)

अर्थात्, प्रजाएँ ही राष्ट्रको बनाती हैं।

इसके अतिरिक्त, वेद-मन्त्रोंमें यह भावना भी स्पष्टतया देखी जाती है कि राष्ट्रकी उन्नतिके लिए अत्यन्त आवश्यक है कि उसके सब अंगोंका विकास हो और समस्त जनताकी समृद्धि और सुख ही उसका प्रथम लक्ष्य हो।[1]

राजनीतिक आदर्शोंके सम्बन्धमें वेद-मन्त्रोंकी ये उदार और उदात्त भावनाएँ वैदिक धाराके लिए वास्तवमें गर्व और गौरवका विषय हैं।

वैयक्तिक जीवन

अन्तमें, वैयक्तिक जीवनके सम्बन्धमें वेद-मन्त्रोंकी विचारधाराका विषयमें निर्देश करके हम इस परिच्छेदको समाप्त करते हैं।

वैदिक उदात्त भावनाओं आदिके विषयमें जो कुछ हम कह चुके हैं, उससे वैदिककालीन वैयक्तिक जीवनपर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। तो भी

---

१. तु० "आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर···महारथो जायताम्।···जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवा···वीरो जायताम्।··· फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्॥" (यजु० २२।२२)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

वैयक्तिक जीवनके विकासकी दृष्टिसे वैदिक धाराके आदर्शोंके विषयमें कुछ कहनेकी आवश्यकता है।

ऋत और सत्य, निष्पाप-भावना, श्रद्धा, आत्म-विश्वास, ब्रह्मचर्य, श्रम और तपस्, वीरता और शत्रु-संहार (= वृत्र-हनन) आदिकी दृष्टि से ओत-प्रोत वेद-मन्त्रोंसे यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि वैदिक धारा दृष्टिसे वैयक्तिक जीवनका सर्वांगीण विकास आवश्यक समझा जाता इसीलिए वेद-मन्त्रोंमें बौद्धिक तथा नैतिक विकासके साथ-साथ शारीरिक स्वास्थ्य और दीर्घायुष्यके लिए भी गम्भीर प्रार्थनाएँ पदे-पदे देखी आती हैं।

वेदकी बुद्धि-विषयक प्रार्थनाएँ प्रसिद्ध हैं[1], जिनमें गायत्री-मन्त्र (ओ३म् वितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ ३।३५) सुप्रसिद्ध है।

नैतिक प्रार्थनाओंका दिग्दर्शन हम वैदिक उदात्त भावनाओंके प्रसंग करा चुके हैं। उसी प्रसंगमें दीर्घायुष्य और पूर्णायुष्यकी सुन्दर प्रार्थना का भी संकेत किया जा चुका है।

शारीरिक स्वास्थ्यके लिए महत्त्व-युक्त प्रार्थनाओंके कुछ उदाहरण नीचे देते हैं –

"तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि।...
यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण॥" (यजु० ३।१७)

अर्थात्, हे अग्निदेव! तुम शरीरकी रक्षा करनेवाले हो, मेरे शरीर

---

१. देखिए—"मां...मेधाविनं कुरु...॥ मेधां मे वरुणो ददातु मेधां मे प्रजापतिः।..." (यजु० ३२।१४-१५)। तथा "मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यंदिनं परि। मेधांसूर्यस्य रश्मिभिर्वचसो वेशयामहे॥" (ऋग्वेद ६।१०८।५)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

ष्ट कीजिए। तुम आयुको देनेवाले हो, मुझे पूर्ण आयु दीजिए। मेरे शारीरिक स्वास्थ्यमें जो भी न्यूनता हो उसे पूरा कर दीजिए।

वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्।
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा····(अथर्व० १९।६०।१-२)

अर्थात्, मेरे समस्त अंग पूर्ण स्वस्थतासे अपना-अपना कार्य करें, यही चाहता हूँ। मेरी वाणी, प्राण, आँख, और कान अपना-अपना काम यथावत् कर सकें!

मेरे बाल काले रहें! दाँतोंमें कोई रोग न हो! बाहुओंमें बहुत बल हो! मेरी ऊरुओंमें ओज, जाँघोंमें वेग और पैरोंमें दृढता हो!

"आयुर् यज्ञेन कल्पतां···प्राणो····अपानो····व्यानो····चक्षुर्····
श्रोत्रं····वाग्····मनो····आत्मा यज्ञेन कल्पतां स्वाहा॥"
(यजु० २२।३३)

अर्थात्, प्राकृत जगत्में काम करनेवाली अग्नि, वायु आदि दैवी शक्तियोंके साथ सामंजस्यका जीवन (=यज्ञ) व्यतीत करते हुए मैं पूर्णायुष्यको प्राप्त कर सकूँ; मेरी प्राण, अपान आदि शक्तियाँ तथा चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य ठीक तरह कर सकें; और इस प्रकार मेरे व्यक्तित्व (=आत्मा) का पूर्ण विकास हो—यही मेरी आन्तरिक कामना है, यही मेरी हार्दिक अभिलाषा और प्रार्थना है!

अश्मा भवतु नस्तनूः (यजु० २९।४९)

अर्थात्, हमारी प्रार्थना है कि हमारा शरीर पत्थरके समान सुदृढ़ हो!

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि वैदिक धाराकी सबसे बड़ी विशेषता उसकी व्यापक दृष्टिमें है। वह व्यष्टि और समष्टि दोनों दृष्टियोंसे मानवके सर्वांगीण विकासको चाहती है। जीवनकी सब परिस्थितियोंमें मानव सफलतापूर्वक अपना पूर्ण विकास कर सके, यही उसका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

प्रधान लक्ष्य है। भारतीय संस्कृतिके उत्तरकालीन शब्दोंमें हम कह
हैं कि वैदिक धाराका सदासे मुख्य ध्येय यही रहा है कि मनुष्य धर्म,
काम, मोक्षरूपी चारों पुरुषार्थोंकी अथवा अभ्युदय और निःश्रेय
प्राप्ति कर सके। इसीसे मनुष्य-जीवनके कर्तव्योंके विषयमें उसका
कोण, एकांगी या एकदेशी न होकर, सदासे व्यापक रहा है। यही
भारतीय संस्कृतिके विकासमें बहुमुखी, व्यापक और शाश्वतिक प्रभा
रहस्य है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

दसवाँ परिच्छेद

वैदिक धाराकी देन

भारतीय संस्कृतिके विकासमें वैदिक धाराके बहुमुखी, व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभावकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। इस परिच्छेदमें हम इसीका स्पष्टीकरण करना चाहते हैं।

वैदिक धाराके साथ उत्तरवर्त्ती धाराओंका सम्बन्ध

पिछले परिच्छेदमें हमने दिखलाया है कि वैदिक धाराके बहुमुखी, व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभावका मूल वैदिक धाराकी व्यापक दृष्टिमें ही हो सकता है। अपनी उसी व्यापक दृष्टिके कारण वैदिक धारा, उत्तरकालमें अन्य नवीन धाराओंसे प्रभावित होकर भी, प्रायेण उनको अपनेमें समन्वित या आत्मसात् करती हुई, अपने ही नामसे आगे बढ़ती हुई प्रतीत होती है।

उत्तरकालीन नवीन धाराएँ (जैसा कि आगे चलकर हम क्रमशः यथास्थान दिखायेंगे), भले ही उन्होंने भारतीय (या वैदिक) संस्कृतिका बड़ा उपकार क्यों न किया हो, प्रायेण जीवनकी किसी विशेष दृष्टिको, या समयकी किसी विशेष आवश्यकताको, लक्ष्यमें रखकर ही प्रवृत्त हुईं। दूसरे शब्दोंमें, उनकी दृष्टि एकांगी ही थी। इसीलिए जीवनकी अन्य अपेक्षित दृष्टियोंके सम्बन्धमें उन्हें बरबस वैदिक परम्पराका ही अवलम्बन करना पड़ा। कदाचित् इसी बातको लक्ष्यमें रखकर मनुने कहा है—

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

या वेदबाह्याः स्मृतयो···
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च··· (मनु १२।९५-९६)

अर्थात्, वैदिक धारासे भिन्न स्मृतियाँ या धाराएँ समय-समय बनती-बिगड़ती रहती हैं।

वैदिक वाङ्मयमें वैदिक धाराके प्रवर्तक ऋषियोंको 'पथिकृत्' 'जीवनयात्राके लिए मार्गको बनाने वाला' प्रायः कहा गया है। उदाहरण

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः
पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः। (ऋग्० १०।१४।१५)

अर्थात्, अपने पूर्वज ऋषियोंके लिए, जिन्होंने प्रारम्भमें जीवन मार्गको बनाया, हमारा नमस्कार है।

लोककृतः पथिकृतो यजामहे
ये देवानां हुतभागा इह स्थ। (अथर्व० १८।३।२५-२६)

अर्थात्, हम जीवनके मार्गको बनानेवाले तथा समाजका कल्याण करनेवाले अपने पूर्वजोंका यजन करते हैं। यज्ञोंमें देवताओंके समान वे हमारे लिए पूजनीय और यजनीय हैं।

ऐसे वचनोंका यही अभिप्राय हो सकता है कि व्यापक दृष्टिसे भारतीय जीवनके मार्ग या मर्यादाओंके निर्माणका श्रेय वैदिक धाराको ही होना चाहिए। ऐसी स्थितिमें, समयके प्रभावसे उन मर्यादाओंके नष्ट-भ्रष्ट या संकीर्ण हो जानेपर, बहुत करके उनको 'सुधारने' का काम ही उत्तर-कालीन धाराओंने किया है। इसी दृष्टिसे उन धाराओंके प्रवर्तकोंका 'सुधारक' नामसे ही प्रायः स्मरण किया जाता है।

इसके अतिरिक्त, प्रायेण प्राचीन परम्परागत संस्कृति (अथवा वैदिक या वैदिक धारा) के नामपर ही उन्होंने अपने-अपने सिद्धान्तों या मतों का प्रतिपादन किया है। उदाहरणार्थ, पौराणिक धाराके प्रमुख ग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत' के विषयमें उसके माहात्म्यमें कहा गया है—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

तत्कथासु तु वेदार्थः श्लोके श्लोके पदे पदे ॥
वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा ॥
(भागवत-माहात्म्य २।६५,६७)

अर्थात्, 'श्रीमद्भागवत' की कथाओंमें प्रत्येक श्लोक और पदमें वेदोंका तात्पर्य भरा पड़ा है। भागवती कथाका निर्माण वेद और उपनिषदोंके सारसे हुआ है।

स्वयं भागवतका कहना है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥
(भागवत १।१।३)

इस सुप्रसिद्ध पद्यमें भागवतको वेद-रूपी कल्पवृक्षके अमृत-द्रव-संयुत फलके रूपमें वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार, बौद्ध-धाराके मान्य ग्रन्थ 'धम्मपद' में "आराधये मग्गमिसिवेदितं" (=आराधयेद् मार्गमृषिप्रवेदितम्। अर्थात्, मनुष्यको चाहिए कि वह प्राचीन ऋषियों-द्वारा बतलाये हुए मार्गका अनुसरण करे), इस तरह स्पष्टतया प्राचीन परम्परागत संस्कृति (अथवा वैदिक धारा) के प्रति मान्यता प्रदर्शित की गयी है।

इसी प्रकार, सिक्ख धर्मकी मान्य पुस्तक 'श्रीगुरु ग्रन्थ साहिब' में वेदके विषयमें परम्परा-मूलक मान्यताकी भावना यत्र-तत्र पायी जाती है। जैसे—

"साम वेदु रिगु जुजरु अथरबणु
ब्रह्मे मुख पाइया है त्रैगुण।
ता की कीमति कहि न सकै कोइ

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

तिउ बोले जिउ बोलाइदा ॥"

(मारू सोलहे म० शब्द ८७)

"हरि सिमरन लागे वेद उपाए।"

(गौडी सुखमनि १)

इस प्रकार प्रायः प्रत्येक उत्तरवर्त्ती धाराके वाङ्मयमें वेदके आस्थाकी भावना पायी जाती है।

जैन, बौद्ध–जैसे 'अवैदिक' कहे जानेवाले सम्प्रदायोंकी भी समझते हैं, मूलमें वेद-विरोधिनी दृष्टि नहीं थी। जैन साहित्यमें (=वेद), 'वेयन्नू' (=वेदज्ञः) और बौद्ध साहित्यमें 'वेदगू' (=वेद 'वेदपारगू' (=वेदपारग.)–जैसे शब्दोंके अच्छे अर्थोंमें प्रयोगसे इसी धा को बल मिलता है। स्वार्थपरायण साम्प्रदायिकोंके हठ और पक्ष कारण ही उनमें वेद और वैदिक धाराके प्रति उपेक्षा और वि भावनाओंने स्थान पाया, यह हम आगे यथास्थान दिखानेका यत्न क

ऊपर जो कुछ कहा है उससे स्पष्ट है कि उत्तरवर्ती किसी धा धाराओंको वैदिक धाराका प्रतिद्वन्द्वी कहना या समझना भूल है। अ अपने मूल रूपमें हम उनको अधिकसे अधिक वैदिक धाराका पूरक सकते हैं।

जैसे शरीरके ढाँचेको अस्थियाँ बनाती हैं, अथवा किसी पुराने की नींवोंपर नया मकान बनाया जाता है, या किसी देशके पर्वत नदियाँ उसके स्थायी भौगोलिक रूपको बना देते हैं, इसी प्रकार भा की धार्मिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक व्यवस्थाको मानो रूपरे अंकन वैदिक धारा-द्वारा हुआ है। उसी रूपरेखाके अन्दर विभिन्न धा ने समय-समयपर अपना-अपना चित्रण करके, अपना-अपना रंग उनको नया भव्य रूप देनेका यत्न किया है।

वैदिक धाराके साथ उत्तरवर्ती धाराओंका बहुत-कुछ ऐसा ही हमें प्रतीत होता है, जैसा कि क्रमशः आगे हम स्पष्ट करेंगे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

खेतोंकी मेड़ोंकी तरह हम भारतवासियोंके जीवनकी व्यवस्थाओं और
दाओंका आधार बहुत-कुछ वैदिक धारापर है, इस बातको हम जीवन-
विभिन्न क्षेत्रोंको लेकर दिखला सकते हैं। सबसे पहले हम धार्मिक क्षेत्र-
ही लेते हैं –

धार्मिक क्षेत्र

धार्मिक क्षेत्रका विस्तार बहुत बड़ा है; क्योंकि 'धर्म' शब्दका अर्थ
त व्यापक है।

सामान्य रूपसे धर्ममें आचार-विचार, दोनोंका सम्मिश्रण समझा जाता
जहाँतक विचारका सम्बन्ध है, उसको भी दो भागोंमें बाँटा जा
ता है, नैतिक विचार और उनके आधारभूत दार्शनिक विचार।
च्छेद ६ और ८ में हम दोनों प्रकारके विचारोंपर पर्याप्त प्रकाश डाल
हैं।

तिक तथा दार्शनिक विचार

वैदिक धाराकी दार्शनिक पृष्ठभूमि (परिच्छेद ६) को दिखाते हुए
ने कहा है कि यद्यपि आपाततः वैदिक देवता अपनी-अपनी स्वतन्त्र या
क सत्ता रखते हुए प्रतीत होते हैं, तो भी वैदिक मन्त्रोंके गम्भीर
ययनसे उन देवताओंके पीछे रहनेवाली उनकी मौलिक आध्यात्मिक
ता स्पष्ट दिखाई देती है। इसी बातको निरुक्तकार यास्कने अपने
दोंमें इस प्रकार कहा है :

> "माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा
> बहुधा स्तूयते।" (निरुक्त ७।४)

अर्थात्, वास्तवमें देवता एक ही है; उसी एक देवताकी, अपने
भाग्य या माहात्म्यके कारण तत्तद्देवताके भेदको लेकर, अनेक प्रकार-
स्तुति की जाती है।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

वेदोंके अनेकानेक मन्त्रोंमें स्पष्ट रूपसे उसी मौलिक सत्ता या अ तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है। आगे चलकर 'औपनिषद धारा' ने सिद्धान्तका प्रधान रूपसे प्रतिपादन किया था, जैसा कि हम यथा स्पष्ट करेंगे।

वैदिक उदात्त भावनाओं (परिच्छेद ८) की व्याख्या क हमने वैदिक धाराके सुपुष्ट नैतिक आधारको दिखानेका यत्न है। हमने दिखाया है कि वास्तवमें ऋत और सत्यकी भावना ही वैदिक उदात्त भावनाओंकी जननी है। जिस प्रकार वैदिक देवता लक्ष्य एकसूत्रीय अध्यात्म-(या परमात्म-) तत्त्वकी अनुभूति है, उसी ऋत और सत्यके सिद्धान्तका अभिप्राय सारे विश्व-प्रपंचमें व्याप्त नैतिक आधारसे है।

इस सारे विश्व-प्रपंचका संचालन शाश्वत नैतिक आधारपर है, ऐसी धारणा मनुष्यमें स्वभावतः समुज्ज्वल आशावाद, भद्र-भावना आत्मविश्वासको उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती।

उपर्युक्त दार्शनिक और नैतिक विचार वास्तवमें एक ही सत्य[1] की दो दृष्टियाँ हैं। वैदिक धाराका शाश्वतिक महत्त्व बहु इन्हीं विचारोंपर निर्भर है।

उत्तरवर्ती विभिन्न धाराओंने अनेक प्रकारसे भारतीय संस्कृ उपकार किया है। परन्तु उपर्युक्त विचारोंके लिए वे सब वैदिक ऋणी रही हैं। सबने उपर्युक्त मौलिक तथ्यको, किसी-न-किसी अवश्य स्वीकार किया है।[2] यही भारतीय संस्कृतिको सदाके लिए

---

१. तु० "सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये। सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥" (भागवत१० ।

२. तु० "सत्यं ब्रह्म परं धाम कर्म 'धर्म्मं' प्रजापतिः। शक्तिर्माता पि राम ओंकार एव च॥ प्रमेत्यादि पदं मूलतत्त्ववाचि न संशयः।" माला ६०।१५–१६)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

राकी मौलिक देन है।

ह्य कर्मकाण्ड

आचार-पक्षकी दृष्टिसे भारतीय संस्कृतिके लिए वैदिक धाराकी देनका र भी अधिक महत्त्व है। नैतिक तथा दार्शनिक विचारोंका सम्बन्ध सर्व-धारणकी अपेक्षा तत्त्व-विचारकोंसे ही अधिक होता है। परन्तु धार्मिक र्मकाण्डके रूपमें आचारका सम्बन्ध प्रायेण समस्त जनतासे होता है।

परिच्छेद ५ में हमने दिखलाया है कि जहाँ प्रथम तीन वैदिक हिताओंका सम्बन्ध बहु-द्रव्य-साध्य श्रौत (=वैदिक) यज्ञोंसे है, वहाँ र्वेदका सम्बन्ध प्रायेण गृह्य कर्मकाण्ड (जैसे जन्म, विवाह या मृत्युसे बन्ध संस्कार आदि) से है। श्रौत यज्ञोंका प्रतिपादन श्रौत-सूत्रों तथा ह्मण-ग्रन्थोंमें किया गया है, और गृह्य कर्मकाण्डका गृह्य-सूत्रोंमें।

वैदिक धाराके ह्रासके साथ-साथ श्रौत यज्ञोंका भी ह्रास हुआ। वास्तवमें त यज्ञोंकी अत्यधिक यान्त्रिक कृत्रिमता ही वैदिकधाराके ह्रासकी प्रधान रण सिद्ध हुई और इससे ही श्रौत यज्ञोंकी परम्परा भी स्वयं प्रायेण प्त हो गयी, जैसा कि हम अगले परिच्छेदमें दिखायेंगे।

परन्तु वैदिक गृह्य कर्मकाण्ड, वैदिक धाराके ह्रासके हो जानेपर भी, सी-न-किसी रूपमें जीवित ही रहा। प्रारम्भसे ही उसका सम्बन्ध सर्व-धारणके जीवनसे था। उसमें श्रौत-यज्ञों जैसी कृत्रिमता कभी नहीं आयी। स्थ-जीवनको व्यवस्थित और सुसंस्कृत करना ही गृह्य कर्मकाण्डका ान लक्ष्य सदासे माना गया है। इस लिए वैदिक धाराके अनन्तर आने-ली जैन, शैव, वैष्णव आदि साम्प्रदायिक धाराओंमें भी वैदिक गृह्य र्मकाण्ड किसी-न-किसी रूपमें बराबर चलता ही रहा। किसी साम्प्रदा-क धाराने कोई विशेष विरोध उसका नहीं किया।

यह सब कोई जानते हैं कि कुछ ही समय पहले तक जैनियोंमें भी ाहादि संस्कार वैदिक पद्धतिके अनुसार ही कराये जाते थे। कुछ ही

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

दिनोंसे इसका कुछ विरोध होने लगा है; वह भी प्रायः केवल मन्त्रोंके प्रयोगके सम्बन्धमें, न कि सामान्य पद्धतिके विषयमें।

वैदिक संस्कार

गृह्य कर्मकाण्डमें प्रमुख स्थान जन्मसे (अथवा गर्भाधानसे) पर्यन्त किये जानेवाले अनेकानेक संस्कारोंका है।

प्राणि-जीवन-शास्त्र और जनन-विज्ञान आदि विज्ञानोंके अनुसन्धान कारण अब गर्भाधानादि संस्कारोंके महत्त्वको सिद्धान्त रूपसे स्वीकार किया जाने लगा है।

साधारण-से पौधेके पालन-पोषणमें जितना ध्यान दिया जाता स्पष्टतः मनुष्यके जीवनकी देख-भालमें उससे कहीं अधिक ध्यान देने आवश्यकता है। यही तो अधिकतर संस्कारोंका अभिप्राय है।[1]

विधिपूर्वक या अविधिपूर्वक, समझकर या बिना समझे, हमारे घरोंमें अधिकतर वैदिक संस्कार मनाये जाते हैं। उनकी वर्षोंकी परम्परा आज भी चल रही है; भारतके किसी एक या दो नहीं, किन्तु समस्त भारतमें। यह साधारण बात नहीं है। वैदिक यह देन, जो भारत-जैसे विशाल देशको एक ग्रन्थनमें बाँधे हुए है, बड़ी है! कितनी अद्भुत है!

विवाह संस्कार

संस्कारोंमें सबसे प्रधान स्थान विवाह-संस्कारका है। उसका सारा समस्त भारतमें वैदिक धाराके ही आधारपर है। वही सहस्रों वर्षोंसे वाली पद्धति आज भी चल रही है। पाणि-ग्रहण, वह्नि-प्रदक्षिणा,

---

१. तु० "वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्। कार्यः शरीरस्य पावनः प्रेत्य चेह च॥ गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः। गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते।" (मनुस्मृति २।२६-२७)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

यज्ञ-होम आदिके वही पुराने पवित्र वेद-मन्त्र, समझकर या बिना समझे, पर श्रद्धाके साथ, आज भी समस्त भारतमें उसी तरह पढ़े जाते हैं, जैसे हजारों वर्षों पहले पढ़े जाते थे।

जीवनके इस गम्भीरतम अवसरपर वधूका पाणिग्रहण करते हुए आज भी वर कहता है—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं
मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धि-
र्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥

(ऋग्० १०।८५।३६)

अर्थात्,

सौभाग्यकी समृद्धिके लिए मैं तुम्हारे हाथको पकड़ता हूँ,
जिससे हम दोनों पूर्णायुष्यको प्राप्त कर सकें!
भग, अर्यमा, और दानशील सवितृ-देवता—
इन्हीं देवताओंने प्रसाद-रूपमें तुम्हें
गृहस्थ-धर्मके पालनके लिए मुझे दिया है॥

आज भी वर-वधू एक-दूसरेसे प्रतिज्ञा कराते हैं—

मम व्रते ते हृदयं दधामि
मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व
प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

(पारस्कर-गृह्यसूत्र १।८)

अर्थात्,

तुम्हारा हृदय मेरे व्रतके अनुकूल हो!
तुम्हारा चित्त मेरे चित्तके अनुकूल हो!
मेरे कथनको तुम प्रेमसे एक-मन होकर सुनो!

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

भगवान् प्रजापति तुमको मुझमें युक्त या अनुरक्त करें

यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम ।
यदिदं हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव ॥

(मन्त्रब्राह्मण १।३।९)

अर्थात्,

यह जो तुम्हारा हृदय है वह मेरा हृदय हो जाये !
यह जो मेरा हृदय है वह तुम्हारा हृदय हो जाये !

वैदिक विवाह-संस्कार कई प्रकारसे अपनी विशेषता रखता उसमें वर-वधूकी पारस्परिक प्रतिज्ञाओंसे यह तो स्पष्ट ही है कि वर दोनोंमें अपने नवीन जीवनके महान् उत्तरदायित्वको समझने और उसके योग्यता होनी चाहिए । इसलिए वास्तवमें वैदिक विवाह-संस्कार दहेज तो हो ही नहीं सकता ।

वैवाहिक जीवनकी सफलताके लिए जिन बातोंकी आवश्यकता उन सबका बड़ा हृदयाकर्षक वर्णन 'सप्तपदी' के मन्त्रोंमें आ जाता सप्तपदीमें वर वधूसे क्रमशः कहता है कि प्रिये ! हमारे वैवाहिक जीवन लक्ष्य होंगे—१. अन्नादि आवश्यक सामग्री, २. बल, ३ आर्थिक समृद्धि ४. सुख और मनःप्रसाद, ५. सन्तान-पालन, ६. दीर्घायुष्य, और परस्पर प्रेम ।

सफल गृहस्थ-जीवनका इससे अधिक सुन्दर चित्रण नहीं हो सकता

वैदिक विवाह-संस्कारके 'प्रधान-होम' मे कई प्रकारकी आहुतियाँ जाती हैं । उनमें 'राष्ट्रभृद्' (१२ आहुतियाँ,) 'जया-होम' (१३ आ

---

१. देखिए—"इषे एकपदी भव । सा मामनुव्रता भव । विष्णुस्त्वानयतु विन्दावहै बहून् । ते सन्तु जरदष्टयः ॥१॥ ऊर्जे द्विपदी भव० ॥२॥ रायस्पोषाय त्रिपदी भव० ॥३॥ मयोभवाय चतुष्पदी भव० ॥४॥ प्रजाभ्यः पञ्चपदी भव० ॥५॥ ऋतुभ्यः षट्पदी भव० ॥६॥ सखे सप्तपदी भव० ॥७॥ (पारस्करगृह्यसूत्र १।८)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

तियाँ), और 'अभ्यातान-होम' (१८ आहुतियाँ) नामक आहुतियोंका बड़ा महत्त्व है।

'राष्ट्रभृद्' आहुतियों-द्वारा प्रार्थना की जाती है कि सारे व्यक्त जगत्-की विभूतियाँ हमारे राष्ट्रकी ज्ञान-सम्पत्ति (= ब्रह्म) और बल-सम्पत्ति (= क्षत्र) को बढ़ानेमें हमारी सहायक हों![1]

'जया-होम' के मन्त्रोंमें, विभिन्न मानसिक आदि शक्तियों और सम्पत्तियोंके वर्णनके साथ, अन्तमें कहा गया है कि परमात्मा जीवन-संग्राममें उसीको विजय-प्रदान करते हैं, जो अपनी शक्तियोंको पूर्णतया विकसित करता है। ऐसे पुरुषके सम्मुख सब कोई विनयका प्रदर्शन करते हैं।[2]

'अभ्यातान-(= एक प्रकारका युद्ध-गीत) होम'-द्वारा प्रार्थना की जाती है कि विश्व-प्रपंचमें सृष्टिके विभिन्न विभागोंको नियममें रखनेवाली दैवी शक्तियाँ हमारी सहायक हों, जिससे हम मनुष्य-जीवनमें सब प्रकारसे शक्ति-सम्पन्न होकर सफलताको प्राप्त कर सकें!

यह है वैदिक विवाहके स्वरूपका कुछ दिग्दर्शन।

इसके अनुसार विवाह विषयोपभोगके असंयत जीवनका प्रारम्भ नहीं है। वह तो, वास्तवमें, गृहस्थ-जीवनके पूर्ण उत्तरदायित्वको समझनेवाले दम्पतीके लिए, जीवन-संघर्षमें और राष्ट्रकी सेवामें प्रवृत्त और प्रविष्ट होनेका एक महान् प्रतीक है।

वैदिक संस्कारोंकी उत्कृष्ट आदर्श-दृष्टिका यह केवल एक उदाहरण है। इसी दृष्टिसे इनको हम वैदिक धाराकी एक महान् देन समझते हैं।

---

१. दे० "स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु" (यजु० १८।३८)

२. दे० "प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतनाजयेषु। तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इ हव्यो बभूव॥" (पारस्कर-गृह्यसूत्र १।५)

३. उपनयन और वेदारम्भ संस्कारोंकी चर्चा हम आगे ब्रह्मचर्य-आश्रमके प्रसंगमें करगे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मनुष्यको वास्तविक अर्थोंमें मनुष्य बनानेका विज्ञान और रहस्य संस्कारोंमें निहित है।

पंच महायज्ञ

संस्कारोंके साथ ही गृह्य-सूत्रोंमें पंचमहायज्ञोंका विधान किया है। संस्कारोंके समान ही इनकी परम्परा भी किसी-न-किसी रूपमें भी समस्त भारतमें चल रही है। हिन्दुओंके प्रायः समस्त सम्प्रदायों इनमें मान्यता है। इनका स्वरूप अब भी बहुत-कुछ वैदिक धाराके आधार पर ही है। अब भी इनमें वैदिक मन्त्रोंका प्रयोग, कमसे कम पाठ-मात्र किया जाता है।

पंच महायज्ञ हैं—

१. ब्रह्म-यज्ञ, २. देव-यज्ञ, ३. पितृ-यज्ञ, ४. भूत-यज्ञ, और मनुष्य-यज्ञ।

इनकी विशेष विधियाँ, कर्मकाण्डके रूपमें, गृह्य-सूत्रों आदिमें दी हैं। प्रत्येक द्विजको ये पाँच महायज्ञ प्रतिदिन करने चाहिए, ऐसा शास्त्रों विधान है।

कर्मकाण्डकी दृष्टिको छोड़कर, इनका मौलिक अभिप्राय यही है प्रत्येक शिक्षित और प्रबुद्ध मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह समष्टि-दृष्टि सर्व-भूत-हितके आदर्शोंके प्रकाशमें ही अपने वैयक्तिक जीवनका निर्माण करे।

उसको ज्ञान और विद्याकी उन्नतिमें (=ब्रह्मयज्ञ), विश्वके नियन्त्रणमें रखनेवाली दैवी शक्तियोंमें (=देवयज्ञ), अपने पितृ-पितामह आदिकी परम्परामें (=पितृयज्ञ), प्राणियोंके हितमें (=भूतयज्ञ) और मानवके महत्त्व तथा मानव-कल्याणमें (=मनुष्ययज्ञ) बराबर आस्था रखनी चाहिए।

स्पष्टतः अपने इस मौलिक अभिप्रायकी दृष्टिसे पंचमहायज्ञोंका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

और समाज दोनोंके लिए बड़ा महत्त्व है। इस रूपमें उनको सार्वकालिक तथा सार्वभौम महत्त्व भी प्राप्त हो जाता है।

ये आदर्श भारतीय संस्कृतिको वैदिक धारासे ही प्राप्त हुए हैं, यह हमारे गर्व और गौरवका विषय है।

अग्नि-देवता और पौरोहित्य

वैदिक धाराकी देनमें अग्नि-देवता और पुरोहित-प्रथाको हम कभी नहीं भूल सकते। वैदिक कर्मकाण्डका मौलिक आधार अग्नि देवता है[1] और उस कर्मकाण्डका निरीक्षण अथवा संचालन पुरोहितके अधीन होता था।

आज भी भारतीय संस्कृतिकी परम्परामें धार्मिक कर्मकाण्डमें अग्निका प्रमुख स्थान है। वैदिक कर्मकाण्डमें तो अग्निका सर्वोत्कृष्ट महत्त्व है ही; तान्त्रिक कर्मकाण्डमें भी अग्नि-होम उतना ही आवश्यक समझा जाने लगा है। साधारणसे साधारण पूजामें भी 'अगियारी' का महत्त्व माना जाता है।

वैदिक कालमें पुरोहित-प्रथाका बड़ा महत्त्व था। आज भी भारतके गाँव-गाँवमें पुरोहित-प्रथा प्रचलित है। उसमें वैदिक समयकी न तो वास्तविकता है, न उस समय-जैसा यजमान-पुरोहितका घनिष्ठ सस्नेह सम्बन्ध। तो भी वह प्रथा अभीतक किसी प्रकार जीवित है, यह वैदिक धाराकी ही देन है।

पर्व-त्यौहार और देवता-गण

वर्तमान पौराणिक हिन्दू-धर्मके पर्व-त्यौहार और देवता-गण वैदिक

---

१. तु० "अग्निर्वै देवानां मुखम्" (ऐतरेय-ब्राह्मण ७।१६)। "अग्निर्वै देवानां होता" (ऐतरेय-ब्राह्मण १।२८)। "अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य" (शतपथ-ब्रा० ३।१।३।२८)। "अग्नौ वै सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति" (शतपथ-ब्रा० ३।१।३।१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

धारासे बहुत-कुछ भिन्न हो गये हैं। तो भी होली, श्रावणी-जैसे त्यौहारों और पर्वोंका आधार स्पष्टतया वैदिक धारामें मिलता है। इसी प्रकार पौराणिक धर्मके शिव, विष्णु और सूर्य-जैसे प्रधान देवताओंका आधार भी वैदिकधारामें मिलता है।

ऊपर जो कुछ कहा है उससे वर्तमान भारतके धार्मिक क्षेत्रमें वैदिक धाराका प्रभाव स्पष्ट है। यह प्रभाव इतना गहरा और व्यापक है कि उसकी सीमाका निर्धारण करना भी अत्यन्त कठिन है। वर्तमान हिन्दू-धर्म प्राचीन वैदिक धर्मसे बहुत अंशोंमें भिन्न है, यह हमने प्रथम परिच्छेदमें दिखलाया है। ऐसा होनेपर भी, उसपर वैदिक धाराके अत्यन्त व्यापक प्रभावका पाया जाना कुछ कम आश्चर्यकी बात नहीं है।

सामाजिक व्यवस्था

सामाजिक व्यवस्थाके सम्बन्धमें वैदिक धाराके प्रभाव और देनको ठीक-ठीक समझनेके लिए आवश्यक है कि पहले वर्तमान हिन्दू-समाजकी व्यवस्थाके स्वरूपको समझ लिया जाये।

वर्तमान हिन्दू-समाजकी सबसे बड़ी विशेषता उसका जाति-भेद और वर्ण-भेद है। जाति-भेदसे हमारा अभिप्राय हिन्दू-समाजकी उन सैकड़ों विभिन्न जातियों या बिरादरियोंसे है जो विवाहादिके व्यवहारमें एक-दूसरेसे प्रायः बिलकुल असम्बद्ध हैं। वर्ण-भेदसे अभिप्राय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार भेदोंसे है।

वर्ण-भेद और जाति-भेदका परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

साधारणतया लोगोंकी धारणा है कि वर्ण-भेद और जाति-भेदमें कोई मौलिक भेद नहीं है। अधिकसे अधिक वे जाति-भेदको वर्ण-भेदका ही अवान्तर भेद या उपभेद मान लेते हैं। इधर चिरकालसे ब्राह्मणादि वर्णोंके लिए भी 'जाति' शब्दका व्यवहार चल पड़ा है। इस कारणसे भी, वर्ण-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

भेद और जाति-भेदमें कोई मौलिक भेद नहीं है, इस धारणाको पुष्टि मिली है।

पाश्चात्य विद्वानोंका भी कुछ ऐसा ही विचार रहा है। उक्त दोनों प्रकारके भेदोंके लिए वे 'कास्ट' (caste = जाति) शब्दका प्रयोग करते हैं। उनकी देखा-देखी हमारा भारतीय शिक्षित समाज भी जाति-भेद और वर्ण-भेद दोनोंको सामान्य रूपसे एक प्रकारका जाति-भेद ही समझने लगा है।

प्राचीन परम्पराके अनुगामी पण्डित लोगोंकी धारणा है कि मूलमें चार वर्णोंकी ही सृष्टि हुई थी; कालान्तरमें उन्हींके भेदों और उपभेदोंके कारण अनेकानेक जातियाँ बन गयीं। मनुने कहा है—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः॥[1]

(मनुस्मृति १०।४)

अर्थात्, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीन वर्णोंको द्विजाति समझना चाहिए। चौथा वर्ण शूद्र कहलाता है। उसकी गणना द्विजातियोंमें नहीं होती। इन चारसे अतिरिक्त पंचम वर्ण नहीं है।

उक्त मतके मान लेनेपर यह प्रश्न होता है कि ऐसी दशामें आज-कलकी अनेकानेक जातियाँ कहाँसे आ गयीं? इसका उत्तर यही दिया जाता है कि इन जातियोंमें-से कुछ तो उपर्युक्त चार वर्णोंकी ही भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं, और कुछकी उत्पत्ति चारों वर्णोंके परस्पर संकरसे हुई है। 'मनुस्मृति' आदिमें इसी प्रकारसे मागध, वैदेह, आभीर, चाण्डाल आदि जातियोंकी उत्पत्ति बतलायी है।[2]

दूसरा मत आज-कलके अनेक सुधारकोंका है। वे कहते हैं – प्रारम्भमें

---

१. तु० "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥" (यजु० ३१।११)

२. देखिए—'मनुस्मृति' का दसवाँ अध्याय।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

गुण-कर्मानुसार केवल चार वर्ण थे। पीछेसे आर्थिक, सामाजिक तथा स्थानीय आदि अनेक कारणोंसे अनेकानेक जातियाँ बन गयीं।

उक्त दोनों मत प्रारम्भमें केवल वर्ण-भेदको मानकर, पीछेसे वर्णोंमें ही जातियोंकी उत्पत्ति मानते हैं।

पर हमारे मतमें वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है।

हमारे विचारमें सामान्य रूपसे जाति-भेदका वर्ण-भेदसे कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं है। जाति-भेदका कारण वर्ण-संकरता बहुत ही कम, प्राय नहीं, है। वास्तविक कारण आर्थिक, सामाजिक तथा स्थानीय हो सकते हैं। मनुष्य-जाति-भेदसे भी उसका सम्बन्ध हो सकता है। बहुत अंशोंमें अनेकानेक जातियाँ वर्ण-विभागसे पूर्वकी भी हो सकती हैं। इसलिए जातियोंको वर्णोंका विकृत ता परिवर्त्तित रूप न मानकर, यही कहना ठीक प्रतीत होता है कि अनेकानेक कारणोंसे स्वतन्त्रतया सिद्ध और कई अंशोंमें वर्ण-व्यवस्थासे पूर्ववर्ती जातियोंपर वर्ण-व्यवस्थाका ऊपरसे आरोप किया गया है।[1]

यह ध्यान देने योग्य बात है कि 'यजु:-संहिता' में ही जहाँ एक ओर ब्राह्मण आदि चार वर्णोंकी विराट् पुरुषसे उत्पत्तिका वर्णन किया गया है[2] वहाँ दूसरी ओर[3] सूत, रथकार, मागध, चर्मकार, मणिकार, गोपाल, चाण्डाल आदि जातियोंका भी वर्णन है।

'शूद्र' कहलानेवाली जातियोंको देखिए। उनके लिए जाति-भेद तो वास्तविक है। वे 'शूद्र' हैं, इसको न तो वे कहती हैं, न जानती ही हैं। वास्तवमें 'शूद्र' शब्द उनकी बोली या भाषामें कोई स्थान नहीं रखता। स्पष्टतया 'शूद्र' शब्द उनके ऊपर इसी तरह शास्त्रीय पण्डितों-द्वारा 'लाद

---

१. इस विषयके विशेष विचारके लिए इसी ग्रन्थके परिशिष्ट (च) को देखिए।

२. देखिए—यजु० ३१।११।

३. देखिए—यजु० ३०।५, ६, ७, ११, १५, २१।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

जाता रहा है, जैसे 'नेटिव' शब्दका समारोप हमारे ऊपर विदेशी शासक किया करते थे।

किंच, हिन्दू-समाजमें अब भी अनेकानेक ऐसी जातियाँ हैं जिनके विषयमें एक-मतसे यह नहीं कहा जा सकता कि उनका किस वर्णसे सम्बन्ध है।

उपर्युक्त कारणोंसे हमें तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि हिन्दू-समाजमें वर्ण-भेद और जाति-भेदका जो द्वन्द्वात्मक द्वैविध्य दीखता है उसको हम वैदिक और वैदिकेतर धाराओंके साहाय्यके बिना पूर्णतः नहीं समझ सकते। जैसा प्रथम परिच्छेदमें हम कह चुके हैं, वर्तमान हिन्दू-समाजकी उक्त दोनों प्रवृत्तियोंमें-से वर्ण-भेदका सम्बन्ध स्पष्टतया वैदिक परम्परासे है; परन्तु जाति-भेदकी मौलिक प्रवृत्तिको समझनेके लिए हमें वैदिकेतर या प्राग्वैदिक परम्पराका ही आश्रय लेना पड़ेगा।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था

वर्तमान हिन्दू-समाजमें पाये जानेवाले जाति-भेदका मौलिक कारण जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि उसमें जन्ममूलक चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके रूपमें पाये जानेवाले वर्ण-भेदका सम्बन्ध परम्परया वैदिक धारासे ही है।

पिछले परिच्छेदोंमें वर्ण-विभागकी प्रवृत्तिके प्रारम्भके विषयमें और चारों वर्णोंमें परस्पर घनिष्ठ अंगांगि-भावके आदर्श-सम्बन्धके विषयमें हम कह चुके हैं।

हमने यह भी दिखलाया है कि वैदिक धाराकी तृतीय अवस्थामें, जिसको हमने वैदिक धाराके उत्कर्षका मध्याह्न-काल कहा है, तात्कालिक परिस्थितियोंके कारण रूढिमूलक वर्ण-व्यवस्थाकी प्रवृत्तिका प्रारम्भ हो गया था।

धीरे-धीरे राजनीतिक स्थितिके शान्त और स्थिर हो जानेपर, और साथ ही वैदिक कर्मकाण्डके अति जटिल हो जानेपर, रूढिमूलक वर्ण-विभागकी प्रवृत्तिको अधिकाधिक प्रोत्साहन और अनुकूल वातावरण मिला।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

ऐसी परिस्थितिमें वर्ण-विभागकी प्रवृत्तिमें क्रमशः अधिकाधिक मू
मूलकताका आना, न केवल अपने हस्तगत स्वार्थों और महत्त्वकी रक्षा
सहज प्रवृत्तिके कारण, अपितु तात्कालिक समाजके लिए अनेक प्रकार
सुविधाके कारण भी, बिलकुल स्वाभाविक था।

उस समयकी परिस्थितिमें उस वर्ण-व्यवस्थासे अनेक लाभ थे
जैसे—

प्रथम तो, राष्ट्रमें शतशः वर्गों या जाति-सदृश भेदोंमें बँटी
जनताको अंगांगि-भावनासे युक्त केवल चार वर्णोंमें वर्गीकृत करना;

दूसरे, उक्त वर्ण-व्यवस्थाके प्रथमतः आजीविकामूलक होनेसे[1], जनता
आर्थिक संघर्ष और प्रतिस्पर्धाको अवसर न देना;

तीसरे, राष्ट्रकी समुन्नति और रक्षाके लिए आवश्यक अंगोंमें विशे
ज्ञताकी प्रवृत्तिको प्रोत्साहन देना, और तदनुकूल वातावरणको तै
करना।

किसी राष्ट्रकी सर्वतोमुखी उन्नतिके लिए उक्त बातोंका कि
अधिक महत्त्व है, यह कहनेकी बात नहीं है। निम्न-निर्दिष्ट वैदिक प्रा
में यही राष्ट्रिय भावना प्रतिध्वनित हो रही है—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायताम्।

---

१. चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाका सम्बन्ध मूलतः जीविकोपार्जनके प्रकार-भेदसे
है—यह बात स्पष्टतः धर्मशास्त्रोंमें कही गयी है। उदाहरणार्थ, देखि
"षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका। याजनाध्यापने
विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः॥...शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः। प्रजा
नार्थं, धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः॥ (मनु० १०।७६,७९)। तु० 'विष्णु
(३।८।२२–३४); 'महाभारत', आश्वमेधिकपर्व, ४५।२२–२३।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य
यजमानस्य वीरो जायताम् ।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु ।
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् ।
योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ (यजु० २२।२२)

अर्थात्

भगवन् हमारे राष्ट्रमें—
वेदाध्ययन-शील ब्राह्मण उत्पन्न हों !
शूर, शस्त्रास्त्र-विद्यामें दक्ष, शत्रु-संहारक
और महारथी क्षत्रिय अधिकाधिक उत्पन्न हों !
दुग्ध देनेवाली गौएँ, भारवाही पुष्ट बैल
और शीघ्रगामी घोड़े पाये जायें !
सर्व-गुण-सम्पन्न सुशील सुन्दर स्त्रियाँ हों !
यजमानोंके पुत्र विजय-शील, युद्धार्थ सन्नद्ध,
सभ्य, समर्थ और वीर हों !
हमारी आवश्यकताके अनुसार मेह बरसा करे !
अन्नकी खेतीसे हमें यथासमय प्रभूत अन्न प्राप्त हो !
हमारा योग-क्षेम हो !

वर्णव्यवस्था आगे चलकर कितनी ही जीर्ण-शीर्ण अथवा विकृत क्यों न हो गयी हो, इस समय तक वह अपने स्वर्ण-युगमें थी। तभी तो उस युगमें चारों वर्णोंमें परस्पर वह ममत्व-भावना विद्यमान थी जिसका हम पिछले परिच्छेदमें उल्लेख कर चुके हैं। उसी युगमें यजमान-पुरोहितका अथवा गुरु-अन्तेवासीका वह अलौकिक मधुर स्नेह-सम्बन्ध सम्भव था, जिसका वर्णन प्राचीन साहित्यमें अनेकत्र मिलता है, पर आजके कृत्रिम संघर्षके वातावरणमें जिसकी कल्पना भी करना हमारे लिए कठिन है।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

उसी समयके वर्ण-व्यवस्था-विषयक आदर्शवादको लेकर तत्तद् व
विषयमें महान् उदात्त विचार और प्रशंसावाद प्राचीन साहित्यमें
जाते हैं।[1]

पर "प्रभुता पाय काहि मद नाहीं" इस उक्तिके अनुसार, समाज
विशेष महत्त्व और गौरवको पानेवाले वर्ग बराबर कर्तव्य-भावना
न्याय्य-बुद्धिसे ही काम करते रहें, यह नहीं हो सकता। इसलिए
स्थिति आगे चलकर बिगड़े बिना नहीं रह सकती थी।

अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें वर्ण-व्यवस्थामें काफ़ी लचीलापन
एक वर्णसे दूसरे वर्णमें आना-जाना असम्भव नहीं था।[2] अनिरुद्ध
सत्यकाम[3] और सत्यवती-सुत कृष्णद्वैपायन व्यासको भी उन दिनों
अत्यन्त सम्मानित पद मिल सकता था। वास्तवमें इसी लचीलेपनमें

---

१. देखिए—"एतस्मिन्नार्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या
अगृह्यमाणकारणाः किंचिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारंगत
भवन्तः शिष्टाः" (महाभाष्य ६।३।१०९)। तथा, "यदृच्छया
स्वर्गद्वारमपावृतम्। सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥"
२।३२। तथा "ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते। कृच्छ्राय
प्रेत्यानन्तसुखाय च॥" (भागवत ११।१७।४२)।

२. इतिहास-पुराणमें सैकड़ों उदाहरण वर्ण-परिवर्तनके दिये हुए
गोत्रों तकने अपना वर्ण बदल डाला। इस सम्बन्धमें 'विष्णु
(४।१९।५-७) तथा (४।१९।२२-३२); 'भागवत' (९।२,
'महाभारत', आदिपर्व (१३७।१४); 'हरिवंशपुराण' (११
'महाभारत', वनपर्व (२१२।११-१२); 'महाभारत,' शल्यपर्व (
११); 'महाभारत', अनुशासनपर्व (३०।५७-६६), आदि-आदि

३. देखिए—"सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे
भवति विवत्स्यामि किंगोत्रोऽहमस्मीति॥१॥ सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद
यद्गोत्रस्त्वमसि। बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। सा
वेद यद्गोत्रस्त्वमसि·····" (छान्दोग्योपनिषद् ४।४।१-२)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

समयकी वर्ण-व्यवस्थाकी वास्तविकता और दृढता निहित थी।

परन्तु धीरे-धीरे वह लचीलापन नष्ट होने लगा और वर्ण-व्यवस्थामें अधिकाधिक कृत्रिमता और कट्टरपना आने लगी।

प्राय: यही समय था जब कि 'वर्ण' के स्थानमें 'जाति' शब्दका व्यवहार प्रारम्भ हुआ होगा। हमें अभीतक 'वैदिक संहिताओं' में 'जाति' शब्द नहीं मिला है।[1]

ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें भी 'शतपथ-ब्राह्मण' (१।८।३।६) के एक संदिग्ध स्थलको छोड़कर 'वर्ण' के अर्थमें प्रयुक्त 'जाति' शब्द हमको नहीं मिला है।

वैदिक धाराके ह्रासमें वर्ण-व्यवस्थाकी उक्त कृत्रिमताका कहाँतक हाथ था, इसका विचार हम अगले परिच्छेदमें करेंगे। यहाँ तो हमें यही दिखलाना है कि हमारे समाजमें प्रचलित वर्ण-व्यवस्था, चाहे वह अच्छी है या दोषपूर्ण, परम्परया बहुत-कुछ वैदिक धाराकी ही देन है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे हम उसकी नितरां उपेक्षा नहीं कर सकते। उसके साथ आदर्शों और इतिहासका सम्बन्ध रहा है। भारतवर्षके सतत-परिवर्तन-शील लम्बे इतिहासमें उसने अच्छा-बुरा दोनों प्रकारका प्रभाव दिखलाया है। उसके प्रारम्भ, स्वरूप और क्रमिक विकासको वैदिक धाराके अध्ययन-के बिना हम नहीं समझ सकते।

निश्चय ही घोर कृत्रिमताके अपने वर्तमान रूपमें वह आगे नहीं चल सकती। किसी व्यवस्थाके रूपमें वह पहले ही मर चुकी है। उसमें न तो

---

१. यह ध्यान देनेकी बात है कि जहाँ 'वर्ण' शब्दका सम्बन्ध, इस प्रसंगमें, स्पष्टतया पेशा या व्यवसायसे है (तु० "वर्णो वृणोतेः" 'निरुक्त' २।३), वहाँ 'जाति' शब्दका सम्बन्ध स्पष्टतया जन्मसे है: तु० "जननेन या जायते सा जातिः" (महाभाष्य ५।३।५५)। दोनों शब्दोंकी मौलिक दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न हैं। तु० "तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः" (महाभाष्य ५।१।११५)।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अब कोई वास्तविकता है, न कोई आदर्शवाद। आज उसके रूपमें एक ओर मिथ्या अभिमान है, तो दूसरी ओर घोर अपमान और ग्लानि ! जीवनके संघर्षमें उसका कोई वास्तविक योग-दान भी नहीं हाँ, वह बाधक अवश्य हो रही है।

हमारा कर्तव्य है कि राष्ट्रके पुनर्निर्माणमें पूर्वोक्त वैदिक आदर्शों प्रेरित वास्तविक वर्ण-व्यवस्थाके सिद्धान्तसे काम लें, जिससे देशके प्रत्येक व्यक्तिको अपनी स्वाभाविक उदात्त प्रवृत्तियोंके आधारपर पूर्ण विकासका अवसर प्राप्त हो सके।

यह तो प्रत्येक अवस्थामें परम आवश्यक है कि वर्तमान कृत्रिम वर्ण-व्यवस्था (जो वास्तवमें अव्यवस्था ही है) के नामपर न तो किसीके विकासमें बाधा डाली जाये, न मिथ्या अभिमानके कारण किसीको तुच्छ समझा जाये, और न उसके कारण हमारे चरित्रमें "अन्तःशाक्ता बहिः शैवाः" के अनुसार किसी प्रकारका मानसिक पाषण्ड, छद्म या द्वैधीभाव हो।

ऊपर हमने 'वैदिक आदर्शोंसे प्रेरित वास्तविक वर्ण-व्यवस्था' का उल्लेख किया है। इसका अभिप्राय यही है कि उसका मौलिक आधार मानवताके सम्मान और गौरवकी भावनापर होना चाहिए।

मनुष्यका स्थान दृश्य-जगत्के समस्त प्राणियोंसे ऊँचा है। वेदों मन्त्रों आदिमें अनेकत्र मानवताके गौरवकी चर्चा है।[1] वेदमें वर्णोंके स्वरूप को विराट् पुरुषके अंगोंसे आलंकारिक उत्पत्तिके रूपमें बतलाया गया है यह हम ऊपर दिखला चुके हैं। उस विराट् पुरुषकी प्रतिमूर्त्ति मानव रूपमें ही बतलायी जा सकती है। इसलिए मनुष्य मनुष्य है, इसीमें उसका अद्वितीय महत्त्व निहित है। इसीलिए वास्तविक वर्ण-व्यवस्थाका आधार

१. देखिए—"अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्" (अथर्व० १२।१।५४) "यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः" (अथर्व० ६।५८।३)। "पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" (शतपथ-ब्रा० २।५।१।१)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मानवताके गौरवकी भावनाको पुष्ट करनेमें ही हो सकता है, न कि उसके प्रति किसी प्रकारकी हीन-भावनाके प्रसारमें।

उपर्युक्त दृष्टिसे वास्तविक वर्ण-व्यवस्थामें नीच-ऊँचकी भावनाके लिए कोई स्थान हो ही नहीं सकता। पर चिरकालसे हमारी कृत्रिम वर्ण-व्यवस्थाने इसी भावनाको पुष्ट किया है और मानवताके गौरवकी भावनाके कुचलनेमें ही अपनी कृतकृत्यता दिखलायी है।

वैदिक (अथवा वैज्ञानिक) वर्ण-व्यवस्था मानवताके सम्मान और उसके अबाधित विकासके सिद्धान्तपर आश्रित है। उसकी दृष्टिमें 'ब्राह्मण', 'क्षत्रिय', 'वैश्य' और 'शूद्र' इन रूढ अतएव निर्जीव और निष्प्राण शब्दों-का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। महत्त्व है केवल उनके वास्तविक अभिप्रायोंका और मौलिक आदर्शोंका।[1]

इसी अर्थमें वर्ण-व्यवस्थाका सिद्धान्त वैदिक धाराकी वास्तविक देन कही जा सकती है।

चातुराश्रम्य-व्यवस्था

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके समान ही चातुराश्रम्य-व्यवस्थाका भी प्रारम्भ वैदिक धारासे हुआ है, ऐसा कथन प्रायः हमारे प्राचीन धर्मशास्त्र आदिके साहित्यमें मिलता है। इस विषयमें विशेष विचार हम (इसी ग्रन्थके द्वितीय खण्डमें) औपनिषद धाराके प्रसंगमें करेंगे। पिछले परिच्छेदमें हमने कहा है कि कमसे कम वेदोंके मन्त्र-कालमें चारों आश्रमोंकी व्यवस्था-का प्रारम्भ नहीं हुआ था। उस प्रसंगमें हमने ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य इन दो आश्रमोंके सम्बन्धमें वेद-मन्त्रोंके उत्कृष्ट और भव्य विचारोंको भी दिखलाया है।

---

१. इस सम्बन्धमें विशेष विचारके लिए इसी ग्रन्थके परिशिष्ट (च) को देखिए।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

वास्तवमें उक्त दोनों आश्रमोंके उत्कृष्ट आदर्शवादको हम वैदि धाराकी बहुमूल्य और अद्भुत देन कह सकते हैं।

ब्रह्मचर्य-आश्रम

ब्रह्मचर्यकी महिमाका बड़ा हृदय-स्पर्शी वर्णन 'अथर्ववेद'के एक सू सूक्त (११।५) में दिया गया है, यह हम पिछले परिच्छेदमें बता चुके हैं।

ब्रह्मचर्यका प्रारम्भ उपनयन तथा वेदारम्भ संस्कारोंसे होता था उपनयनके समय बालक प्रतिज्ञा करता है –

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम्।
तेनध्यासम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि॥ (मन्त्र-ब्राह्मण १।६।९)

अर्थात्, हे व्रतपते अग्नि-देव! मैं अनृत अथवा अज्ञानसे सत्य अथवा प्रकाशकी ओर चलना चाहता हूँ। आजसे यही मेरा व्रत होगा। मैं इस व्रतको पूर्णतया पालन करता हुआ उन्नतिके मार्गपर बराबर अग्रसर होता रहूँ, यही मेरी प्रार्थना है। आप मुझे इस व्रतपर बराबर आरूढ रहनेका सामर्थ्य प्रदान करें।

भिन्न-भिन्न दैवी शक्तियोंसे—वायु, सूर्य और चन्द्रमासे—और अन्तमें 'व्रतानां व्रतपति' परमात्मासे वह यही प्रार्थना करता है।

उसी अवसरपर आचार्य उस बालकको अपने संरक्षणमें लेता हुआ कहता है—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥
(पारस्कर-गृह्यसूत्र २।२)

अर्थात्,

मेरे व्रतमें तुम्हारी आस्था हो!
तुम्हारे विचार मेरे विचारके अनुकूल हों!

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मेरे कथनको तुम एक-मन होकर सुनो !

विद्याओंके प्रेरक भगवान् तुमको मुझमें अनुरक्त करें !

अन्तमें आचार्यादि सब मिलकर बालकको आशीर्वाद देते हैं—

त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः ।

आयुष्मान् तेजस्वी वर्चस्वी भूयाः !

अर्थात्, तुम बराबर उन्नतिके मार्गपर चलते हुए सौ वर्षकी आयुको प्राप्त करो। तुम तेजस् और वर्चस्को प्राप्त करो और पूर्ण आयुको प्राप्त होओ !

वेदारम्भके अवसरपर आचार्य ब्रह्मचारीको जो उपदेश देता है उसका कुछ अंश यह है—

कर्म कुरु । दिवा मा स्वाप्सीः ।

आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात् ।

नित्यं युक्ताहारविहारवान् विद्योपार्जने च यत्नवान् भव ।

अर्थात्, सदा कर्मशील बनो। दिनमें न सोओ। अधर्माचरणको छोड़कर आचार्यके अधीन होकर रहो। आहार-विहारमें यथोचित नियमों-का पालन करते हुए, सदा विद्योपार्जनमें यत्नशील रहो।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य-आश्रममें श्रम और तपस्याका जीवन व्यतीत करते हुए, और आचार्यके स्नेह-मूलक अनुशासनमें रहते हुए, दत्तचित्त होकर, विद्योपार्जन करनेका आदर्श रखा गया था।[1] गुरु-शिष्यका सम्बन्ध पिता-पुत्रके सम्बन्धसे भी कहीं अधिक घनिष्ठ और स्नेहमय होता था। सहस्रों वर्षों तक भारतवर्षमें वैदिक धाराके इस महान् आदर्शका अनुसरण किया जाता रहा। उसीके परिणामस्वरूप भारतवर्षके अमूल्य और अद्वितीय प्राचीन महान् वाङ्मयकी सृष्टि हुई और वह बहुत-कुछ आज भी सुरक्षित है।

---

१. तु० "य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्। तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह ॥" (निरुक्त २।४)

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

देशके सामने आजकल जो अत्यन्त कठिन शिक्षा-समस्या घोर-रूप उपस्थित है उसका एकमात्र समाधान, हमारी समझमें, वैदिक धाराके ब्रह्मचर्य आश्रमके श्रम-तपः-प्रधान आदर्शमें निहित है। वह आदर्श आजकी स्थितिमें किस रूपमें कार्यान्वित हो सकता है, यह शिक्षा-शास्त्रके विशेषज्ञोंके विचारका विषय है।

गृहस्थ-आश्रम

गृहस्थ-आश्रमके विषयमें भी वैदिक धाराके सन्देश या देनके रूपमें, कुछ ऊपर कहा है उसके अतिरिक्त, एक-दो और बातोंकी ओर किंचित् ध्यान देनेकी आवश्यकता है। वे ये हैं :

इधर चिरकालसे हमारा गृहस्थाश्रम और वैवाहिक जीवन आदर्श-हीन-सा रहा है। स्त्री-जातिका पद भी बराबर गिरता गया है। हमारे उत्तरकालीन दार्शनिक ग्रन्थों तकमें स्त्रीको घरकी अन्य उपभोग्य सामग्रीकी समानता दी गयी है।[1] स्त्रीके विषयमें अनेक प्रकारके दुर्वचनोंसे हमारे इधरके ग्रन्थ भरपूर हैं।

इस विषयमें यह स्पष्ट कर देनेकी आवश्यकता है कि वैदिक धाराका सन्देश इस सम्बन्धमें बिलकुल इसके विपरीत है। पिछले परिच्छेदमें दिखाये गये विवाह-सम्बन्धी मन्त्रोंसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। इसी सम्बन्धमें निम्न-लिखित वचनोंको भी देखिए—

जायेदस्तम्। (ऋग० ३।५३।४)

अर्थात्, पत्नी ही घरको बनाती है, या उसका सर्वस्व होती है।

---

१. देखिए—"मानसस्यापि संतापस्य प्रतीकाराय मनोज्ञस्त्रीपानभोजनविलेपनवस्त्रालंकारादिविषयसंप्राप्तिरुपायः सुकरः।" (सांख्यतत्त्वकौमुदी १) तथा "स्त्रीति नामेन्द्रियार्थोऽयमिन्द्रियार्था यथापरे" (राजतरंगिणी ३।५१४)। तथा "स्रक्चन्दनवनितादेरिन्द्रियार्थात्" (रघुवंश १४।३५ पर मल्लिनाथकी संजीवनीव्याख्या)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया ।···
यावज्जायां न विन्दते···असर्वो हि तावद्भवति ।
(शतपथब्राह्मण ५।२।१।१०)

अर्थात्, स्त्री पुरुषका अर्द्ध-भाग होती है। इसलिए जबतक पुरुष स्त्रीको नहीं पाता है, तबतक उसमें पूर्णता नहीं आती।

पुरुषो जायां विन्त्वा कृत्स्नतरमिवात्मानं मन्यते ।
(ऐतरेयारण्यक १।३।५)

अर्थात्, स्त्रीके बिना पुरुषके व्यक्तित्वमें अधूरापन रहता है। पत्नीको पाकर ही उसमें पूर्णता आती है।

वैदिक कर्मकाण्डके सम्पादनके लिए पति-पत्नी दोनोंका साथ होना आवश्यक समझा जाता था। वास्तवमें 'पत्नी' शब्दका मौलिक अर्थ ही यह है कि जो पतिके साथमें यज्ञोंका सम्पादन करे।[1]

वैदिक कालमें तथा उसके अनन्तर भी समाजमें स्त्रीका कितना ऊँचा स्थान था यह इससे स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियोंमें घोषा, विश्ववारा, लोपामुद्रा-जैसी ऋषिकाओंके भी नाम आते हैं। उपनिषदोंमें गार्गी-जैसी ब्रह्मवादिनियोंका उल्लेख मिलता है।

'महाभाष्य' (समय लगभग ई० पू० १५०) में मीमांसा-जैसे विषयोंको पढ़नेवाली स्त्रियोंका तथा पठन-पाठनमें रत 'आचार्या' तथा 'उपाध्याया' स्त्रियोंका उल्लेख आया।[2]

संस्कृत भाषाका नियम है कि कई शब्दोंके द्वन्द्व समासमें अभ्यर्हित

---

१. देखिए—"पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" (पाणिनि-सूत्र ४।१।३३)।

२. तु० "काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी। काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी।" (महाभाष्य ४।१।१४) तथा "उपेत्याधीयतेऽस्या उपाध्यायी, उपाध्याया" (महाभाष्य ३।३।२१)

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

(जो अधिक मान्य हो ।) वाची शब्द पहले रहता है ।[1] "माता-पिता" में 'माता' शब्द इसीलिए पहले आता है । यही कारण है जिससे आज भी हम 'राधाकृष्ण', 'सीताराम', 'गौरीशंकर' आदि समस्त शब्दों में 'राधा' आदि शब्दोंको पहले रखते हैं ।

अभिप्राय यह है कि वैदिक धाराके अनुसार स्त्रीका पद एक प्रकार पुरुषसे भी ऊँचा माना जाता था ।[2] वह भावना अब भी अनेक रूपों हमारे साहित्य और भाषामें सुरक्षित है ।

स्त्री-जातिके विषयमें वैदिक धाराकी इस भावनाको पुनर्जीवित करनेकी आवश्यकता है ।

पिछले परिच्छेदमें वैवाहिक मन्त्रोंके आधारपर हम दिखला चुके कि गृहस्थाश्रमका बड़ा भारी उत्तरदायित्व है । साथ ही मन्त्रोंमें प्रार्थना है कि पति-पत्नीको जीवन-पर्यन्त साथ रहकर गृहस्थ-धर्मका पालन करना चाहिए ।

जहाँतक वैदिक कर्मकाण्डका, विवाह-संस्कारका, और वैदिक संहिताओंका सम्बन्ध है, यह स्पष्ट है कि वैदिक-धाराका सन्देश गृहस्थाश्रम तक समाप्त हो जाता है । उसमें वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम

---

१. देखिए—"अभ्यर्हितं च पूर्वं निपततीति वक्तव्यम् । मातापितरौ (पाणिनि-सूत्र २।२।३४ पर वार्त्तिक) ।

२. वैदिक-कालमें स्त्रीका पद आजकलकी अपेक्षा कहीं ऊँचा था, इसके प्रमाण पिछले कालके धर्मशास्त्रके ग्रन्थोंमें भी मिलते हैं । उदाहरणार्थ, स्मृतिचन्द्रिका, संस्कारकाण्ड, पृष्ठ ६२ पर यमके नामसे उद्धृत, निम्न-श्लोक को देखिए—

"पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते । अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा ॥"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

लिए कोई स्थान नहीं है।[1] इन दोनों आश्रमोंकी प्रवृत्ति औपनिषद धारा-प्रभाववश हुई होगी, जैसा हम उस धाराके प्रसंगमें दिखलायेंगे।

इसमें सन्देह नहीं कि गृहस्थ-आश्रममें रहते हुए अपने कर्तव्योंके पालनमें मनुष्यको त्याग, तपस्या, श्रम आदिके अत्यन्त कठिन व्रतोंका पालन करना पड़ता है। अनेक प्रकारसे राष्ट्र और समाजकी उन्नति और रक्षामें सहयोग देना पड़ता है। महान्से महान् नैतिक आदर्शोंके अनुसरणका अवसर मिलता है। इसलिए वैदिक धाराके अनुसार आजीवन घरमें रहकर गृहस्थ-धर्मके महान् उत्तरदायित्वका निर्वाह करना ही पति-पत्नीका महान् कर्तव्य है।

यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि वैदिक धाराके प्रवर्तक ऋषि लोग, जिनको वेद-मन्त्रोंमें 'पथिकृद्' और 'लोककृद्' कहा गया है, सबके सब गृहस्थाश्रमी होते थे।[2] ऋषियोंके दाम्पत्यकी कथाओंसे पुराण भरे पड़े हैं। वैदिक धाराके कालमें किसी संन्यासाश्रमी ऋषिकी कथा हमको

---

१. इस सम्बन्धमें इन प्रमाणोंको भी देखिए—"ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजनत्वादितरेषाम्" (बौधायनधर्मसूत्र। २।११।२९–३०)। "एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रम्। जरया वा ह्येवास्मान् मुच्यन्ते मृत्युना वा।" (शतपथब्रा० १२।४।१।१)। 'न्यायसूत्र'के ४।१।५९ से ४।१।६२ तक सूत्रोंमें और उनके 'वात्स्यायन-भाष्य'में भी इस जरामर्यवादपर विचार किया गया है। मुख्यतः औपनिषद धाराके प्रमाणोंके आधारपर ही वहाँ जरामर्यवाद तथा ऐकाश्रम्यवादका खण्डन करके चातुराश्रम्य-सिद्धान्तकी स्थापना की है। उससे भी हमारे इस प्रतिपादनकी, कि मूल वैदिक धारामें वानप्रस्थ तथा संन्यासका विधान नहीं था, पुष्टि ही होती है।

२. दे० 'महाभारत', शान्तिपर्व, १२।१२–१३। यहाँ स्पष्ट शब्दोंमें गृहस्थाश्रमके सम्बन्धमें कहा गया है—"अयं (=गृहस्थाश्रमः) पन्था महर्षीणाम्"; अर्थात् महर्षिगण गृहस्थाश्रमका ही अनुसरण करते थे। तथा 'देवीभागवत' १।१४।५९—"गृहाश्रमात्परो धर्मो न दृष्टो न च वै श्रुतः। वसिष्ठादिभिराचार्यैर्ज्ञानिभिः समुपाश्रितः।"

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

विदित नहीं है।

एक प्रकारसे भगवद्गीताका भी यही सन्देश है।[1]

अपने कर्तव्योंसे घबराकर, समाजको हेय समझकर, केवल अ व्यक्तिगत सम्भावित कल्याणकी भावनासे संन्यास-आश्रम-ग्रहण आ अकर्मण्यतामें ही पर्यवसित होता है। औपनिषद धाराके प्रसंगमें इस प पर हम पुनः विचार करेंगे।

गृहस्थाश्रमकी उपर्युक्त उत्तरदायित्वपूर्ण भावना भी वैदिक धारा एक महान् देन है और हमारे आदर्शहीन वर्तमान गृहस्थ-जीवनके लि पवित्र सन्देश है।

साहित्यिक देन

ऊपर विभिन्न क्षेत्रोंमें वैदिक धाराके प्रभाव और देनका हमने वर्ण किया है। साहित्यिक दृष्टिसे वैदिक धाराकी देनका महत्त्व उनमें-से किसी से कम नहीं है।

पाँचवें परिच्छेदमें हमने वैदिक धाराके वाङ्मयकी रूपरेखा दिखलाया है। उस वाङ्मयमें-से यदि हम केवल ऋग्वेदको ही ले लें, उसका भी महत्त्व संसारके किसी भी प्राचीन स्मारकसे कहीं अधिक न केवल अपनी अत्यन्त प्राचीनताके ही कारण, न केवल अपने साहित्य या भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी महत्त्वके ही कारण, अपि तु मनुष्य-जीव नवीन प्राणपद और आशामय स्फूर्तिको देनेवाले अपने सार्वभौम सार्वकालिक सन्देशके कारण भी। भारतवर्षके लिए तो उस स वाङ्मयका अनेकानेक दृष्टियोंसे बड़ा महत्त्व है। उसी वाङ्मयमें पा

---

१. देखिए—"काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।... यज्ञदान कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणां एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति मे पा निश्चितं मतमुत्तमम्॥" (गीता १८।२, ५-६)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मुनिकी अष्टाध्यायी-जैसे अद्भुत ग्रन्थ-रत्न भी सम्मिलित हैं, जिनको अपने-अपने क्षेत्रमें उत्कृष्टता विदेशी विद्वानोंको आज भी आश्चर्यान्वित करती है।

परन्तु वैदिक धाराकी साहित्यिक देन और प्रभावका क्षेत्र उसके अपने वाङ्मयसे ही परिमित नहीं है। वैदिक वाङ्मयके अतिरिक्त भी, संस्कृत साहित्यका जो महान् विस्तार हुआ है उसपर भी, साक्षात् अथवा असाक्षात् रूपसे, वेदोंका तथा वैदिक धाराका महान् प्रभाव पड़ा है। उदाहरणार्थ,

आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व-वेद और अर्थशास्त्र, ये चार उपवेद माने जाते हैं। 'उपवेद' शब्दसे ही इनका वैदिक आधार या सम्बन्ध स्पष्ट है। प्राचीन परम्पराके अनुसार भी इनका क्रमसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदसे सम्बन्ध माना जाता है।[1]

कौटिल्यके अर्थशास्त्रका निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥

(अर्थशास्त्र, विद्यासमुद्देश)

अर्थात् आर्य-मर्यादाएँ जिसमें व्यवस्थित हैं, वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म जिसमें पाले जाते हैं, जो वेदोंसे रक्षित है, ऐसा समाज प्रसन्न ही रहता है, दुःखको नहीं पाता।

उपनिषदोंके जगत्प्रसिद्ध महान् साहित्यका वैदिक धारासे घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राचीन परम्परा तो उसको वेदोंमें ही सम्मिलित मानती है।

---

१. दे० मधुसूदन सरस्वती-कृत 'प्रस्थानभेद' तथा 'चरणव्यूहपरिशिष्ट' (४)। परन्तु इस सम्बन्धके विषयमें मतभेद भी है। उदाहरणार्थ, 'चरकसंहिता' के अनुसार आयुर्वेदका अथर्ववेदके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। दे० "भिषजा···अथर्ववेदे भक्तिरादेश्या। वेदो ह्याथर्वणो···चिकित्सां प्राह···।" (चरक०, सूत्रस्थान, ३०।१९)। 'सुश्रुत' (सूत्रस्थान, अध्याय १) का भी यही मत है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

दार्शनिक साहित्यमें 'आस्तिक' कहे जानेवाले छहों दर्शनोंका धारासे सम्बन्ध इसीसे स्पष्ट है कि वे प्रायः वैदिक परम्पराको पुष्ट करने लिए ही बने हैं, या, कमसे कम, वेदोंका प्रामाण्य मानकर ही चलते

पुराण और धर्मशास्त्रका विस्तृत साहित्य भी, चाहे उसका प्रति कुछ भी हो, बराबर वेदोंकी महिमाके गीत गाता है। यही बात 'रामायण' और 'महाभारत' के सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। 'भागवत' निर्माण वेदों और उपनिषदोंके सारसे हुआ है, इस धारणाका उल्लेख ऊपर कर चुके हैं।

'नाट्य-शास्त्र' का आपाततः वेदोंसे कोई सम्बन्ध नहीं दीखता। भी उसके ग्रन्थकारका कहना है—

नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसंभवम्।
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

(नाट्यशास्त्र १।१५, १६

अर्थात्, नाट्यको ऋग्वेदसे, गीतको सामवेदसे, अभिनयोंको यजुर्वेद और रसोंको अथर्ववेदसे लेकर नाट्य-वेदकी रचना की गयी है।

इसी प्रकार, तन्त्रशास्त्रका बहुत-कुछ आधार अथर्ववेदमें है, ऐसा कहा जाता है।

साम्प्रदायिक साहित्यमें भी बहुत अंश तक वेदोंके प्रामाण्यको मान जाता है। उनके शास्त्रार्थोंका विषय प्रायः यह रहता है कि उनके अपने सिद्धान्त वेदानुकूल हैं या नहीं।

भारतकी विभिन्न प्रान्तीय भाषाओंमें जो धार्मिक, साम्प्रदायिक या दार्शनिक साहित्य लिखा गया है उसका भी, इसी प्रकार, वैदिक धारा किसी-न-किसी रूपमें सम्बन्ध दिखलाया जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि अन्यान्य क्षेत्रोंके समान, साहित्यिक क्षेत्रमें वैदिक धाराका व्यापक प्रभाव दिखलाया जा सकता।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

उपसंहार

जो कुछ ऊपर कहा है उससे स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृतिके विकासमें अपनी अद्भुत देनके कारण वैदिक धारा हम भारतीयोंके लिए, सच्चे अर्थोंमें, सर्वदैव सदभिमानकी वस्तु रहेगी। भारतीय संस्कृतिकी दृष्टिसे वेद ऐसे प्रकाश-स्तम्भ हैं जिनकी ज्योति सदा ही हमारे जीवनके लिए मार्ग-प्रदर्शन करती रहेगी।[1]

■

१. तु० "स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।" (अथर्व० १९।७१।१); तथा "मेधामहं प्रथमां ब्रह्मणवर्तीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्। प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे॥" (अथर्व० ६।१०८।२)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

ग्यारहवाँ परिच्छेद

वैदिक धाराका ह्रास

पिछले परिच्छेदोंमें वैदिक धाराका जो वर्णन दिया गया है
भारतीय संस्कृतिके विकासमें वैदिक धाराका अद्वितीय महत्त्व स्पष्ट
न केवल जीवनमें सुखद, स्वस्थ, भव्य और स्वर्गीय भावनाके माधुर्य
का संचार करनेवाली अपनी अद्भुत दार्शनिक दृष्टिके कारण ही, न
अपनी उदात्त नैतिक भावनाओंके कारण ही, न केवल मनुष्य-जी
कर्तव्योंके विषयमें अपनी व्यापक दृष्टिके कारण ही, अपि तु भा
संस्कृतिके विकासमें अपने बहुमुखी, व्यापक और शाश्वतिक प्र
कारण भी, वैदिक धारा, निस्सन्देह, सदाके लिए, हमको ही नहीं,
समस्त मानव-जातिको भी, प्रेरणा और प्रकाश देनेवाली रहेगी।

यह आश्चर्य और खेदका भी विषय है कि उक्त उत्कृष्ट
युक्त होनेपर भी, वैदिक धारा आज चिरकालसे एक जीवित पर
रूपमें हमारे देशसे विलुप्त-सी हो गयी है।

भारतीय संस्कृतिकी प्रगति और विकासपर विचार करते हुए
स्पष्ट दिखाई देता है कि वैदिक धारा, जिससे व्यक्त रूपमें भा
संस्कृतिका प्रारम्भ होता है, आगे चलकर, विनशन-प्रदेशमें ऐतिह
सरस्वती नदीकी तरह,[1] प्रायेण लुप्त हो जाती है और उसके स्थानमें
धाराएँ बहती हुई दीखती हैं।

---

१. सातवें परिच्छेदका प्रारम्भ देखिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

भारतीय संस्कृतिको प्रगति और विकासको एक अविच्छिन्न धारा-वाहिक जीवित परम्पराके रूपमें समझनेके लिए, और साथ ही वैदिक धाराके अनन्तर आनेवाली धाराओंके उदयको, तात्कालिक परिस्थितिकी आवश्यकताके रूपमें, बुद्धि-गत करनेके लिए यह आवश्यक है कि हम उन कारणोंका पता लगायें जिनसे वैदिक धाराका अपना प्रवाह मन्द पड़ गया और भारतीय संस्कृतिके प्रवाहमें नया वेग लानेके लिए नयी धारा या धाराओंके योगदानकी आवश्यकता हुई।

इस परिच्छेदमें हम मुख्यतः यही दिखलाना चाहते हैं।

वैदिक धाराके ह्रासके कारण

जैसा हम पहले कह चुके हैं, किसी ऐतिहासिक विकास या ह्रासके अध्ययनमें हमें प्रथमतः उसके अपने अन्दरके कारणोंको ही ढूँढ़ना चाहिए। इसलिए स्वभावतः वैदिक धाराके ह्रास और मन्दताके कारणोंको हमें वैदिक धारामें ही देखनेका यत्न करना चाहिए।

याज्ञिक कर्मकाण्डका मौलिक रूप

सातवें परिच्छेदमें वैदिक धाराकी तीन अवस्थाओंको दिखलाते हुए हमने कहा है कि वैदिक धाराके द्वितीय कालमें, जातीय जीवनको सुव्यवस्थित और सुसंगठित करनेकी प्रवृत्तिके आधारपर, याज्ञिक कर्मकाण्डका, एक विशिष्ट कर्मकाण्डके रूपमें, प्रारम्भ हुआ था। वैदिक धाराके तृतीय कालमें उसी वैदिक (या श्रौत) कर्मकाण्डको व्यवस्थित किया गया।

वैदिक धाराके उत्कर्षके दिनोंमें याज्ञिक कर्मकाण्ड ही उसका महान् प्रतीक माना जाता था।

याज्ञिक प्रथाका विकास आर्य-जनताकी अन्तरात्मासे हुआ था। उस समय उसमें स्वाभाविकता और सार्थकता विद्यमान थी। श्रद्धा, भक्ति और उल्लासकी भावनाओंका मूर्तीकरण ही उसका आधार था।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

अपने उत्कर्षके दिनोंमें भी वह समस्त आर्यजातिके जीवनको बिम्बित करती थी।

उसकी सारी व्यवस्थामें ब्रह्म, क्षत्र और विश्का (पीछेसे ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्योंका) पदे-पदे सहयोग स्पष्टतया दिखाई देता है; तक कि याज्ञिक मन्त्रोंके छन्दोंका और याज्ञिक देवताओंका भी उक्त वर्णोंके आधारपर वर्गीकरण किया गया था। उदाहरणार्थ, त्रिष्टुभ् और जगती इन वैदिक छन्दोंका सम्बन्ध क्रमशः ब्रह्म, क्षत्र विश्से समझा जाता था।[1] इसी तरह, अग्नि, इन्द्र और मरुत् (तथा अन्यान्य देवताओंका भी) सम्बन्ध क्रमशः उक्त तीनों वर्णोंसे माना जाता था।[2]

इसका अर्थ कमसे कम यह तो है ही कि याज्ञिक कर्मकाण्डमें सब आर्य-जनताका ममत्व और सहयोग था। उस समयके यज्ञोंको केवल ब्राह्मणोंकी देव-पूजा ही न समझना चाहिए। उनमें आर्यजनताके सब वर्गोंके लिए आकर्षण, रंजन और मनोविनोदका सम्भार रहता था। उदाहरणार्थ, वाजपेय-यागमें मध्याह्नमें 'रथोंकी दौड़' (=आजि-धावन) नामक विचित्र दृश्य उपस्थित होता था, जो इस यज्ञका प्रधान अंग माना जाता था। राजसूय-यज्ञमें द्यूतका विधान है।[4] इसी प्रकार अश्वमेधमें पारिप्लव-नामक[5] उपाख्यान (या कहानी) अनेकों दिनों तक चलता था।

---

१. तु० "गायत्रो वै ब्राह्मणः", "त्रैष्टुभो वै राजन्यः", "जागतो वै वैश्यः" (ऐतरेय-ब्राह्मण १।२८)।

२. तु० "ब्रह्माग्निः" (शतपथब्रा० १।३।३।१९)। "क्षत्रं वै वरुणः, विशो मरुतः" (शतपथ० २।५।२।६)। "क्षत्रं वा इन्द्रो विशो मरुतः" (शतपथ० २।५।२।२७)। "ब्रह्म वा अग्निः क्षत्रमिन्द्रः (शतपथ० २।५।२।२७)

३. देखिए—'शतपथब्राह्मण' (५।१।४)।

४. देखिए—'शतपथब्राह्मण' (५।४।४।२३)।

५. देखिए—'शतपथब्राह्मण' (१३।४।३)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

उसमें सारी प्रजा, स्त्री और पुरुष, युवा और वृद्ध, आकर इकट्ठे होते थे। वीणा बजानेवालोंके झुण्डोंके झुण्ड आ जुटते थे। इस प्रकारके नाना-प्रदर्शनोंसे युक्त उन दिनोंके यज्ञ, देव-पूजाके स्थानीय होनेके साथ-साथ, आजकलके नाटकों और 'सिनेमाओं' आदिका भी काम करते थे।[1]

उनमें जिन वैदिक मन्त्रोंका प्रयोग किया जाता था उनमें उपयुक्तताके साथ-साथ सार्थकता या वास्तविकता भी रहती थी। उनको कहनेवाले और सुननेवाले भी इसी तरह समझते होंगे, जैसे आजकलके नाटकोंमें पात्रोंके वचनोंको सब समझते हैं।

निम्नलिखित वचन उसी समयके यज्ञके स्वरूपको प्रकट करते हैं—

"यजमानो वै यज्ञः" (ऐतरेय-ब्राह्मण १।२८)

अर्थात्, यजमानका स्वरूप ही यज्ञमें प्रतिफलित होता है।

"आत्मा वै यज्ञस्य यजमानोऽङ्गान्यृत्विजः" (शतपथ० ९।५।२।१६)

अर्थात्, यजमान ही यज्ञका आत्मा होता है। ऋत्विज् अंग होते हैं।

"यत्र क्व च यजमानवशो भवति, कल्पत एव यज्ञोऽपि। तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् यजमानो वशी यजते।"

(ऐतरेय-ब्राह्मण ३।१३)

अर्थात्, यज्ञमें तभीतक वास्तविकता रहती है जबतक वह विद्वान् यजमानकी अनुकूलता या अधीनतामें रहता है। उसी दशामें वह जनताका हित सम्पादन कर सकता है।

सामाजिक कर्मकाण्डका अपकर्ष

धीरे-धीरे यज्ञोंमें जनताका वास्तविक सहयोग और सार्थकता घटने

---

१. इस प्रसंगमें 'वाल्मीकिरामायण' (१।१३–१४) में अश्वमेध-यज्ञका वर्णन देखिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

लगी। भावनाका, जो किसी भी कर्ममें प्राण-स्थानीय होती है, [illegible] होने लगा। इसीसे उनमें यान्त्रिकताका रूप आने लगा। उनमें [illegible] वाद[2] और जादूपनेका प्रभाव बढ़ने लगा। अर्थके स्थानमें मन्त्रोंके [illegible] ही अधिकाधिक महत्त्व दिया जाने लगा।

ऐसा समझा जाने लगा कि यज्ञोंमें जो मन्त्र प्रयुक्त होते हैं, [illegible] क्या अर्थ या उपयुक्तता है' इसके ज्ञानकी कोई आवश्यकता या उपयो[illegible] नहीं है। मन्त्रोंके शब्दोंमें ही कोई ऐसी अद्भुत अथवा परोक्ष [illegible] जिसके कारण सारे अभीष्टोंकी प्राप्ति यज्ञों-द्वारा हो सकती है।[3]

'ऐतरेयब्राह्मण' (३।२२) के एक प्रसंगमें कहा है कि अग्नि[illegible] तृणको फेंकनेसे ही शत्रु-सेनाको भगाया जा सकता है।[4]

ऐसी स्थितिमें याज्ञिक कर्मकाण्डकी छोटीसे छोटी बातोंको भी ([illegible] कौन-सी आहुति कैसे देनी चाहिए; किस यज्ञ-पात्रका किस प्रकार [illegible] आदि करना चाहिए) बड़ा महत्त्व दिया जाना स्वाभाविक था।[5]

---

१. तु० "आ त्वेव श्रद्धायै होतव्यम्" (ऐतरेयब्रा० ५।२७)। तथा "मनसा वै यज्ञस्तायते मनसा क्रियते" (ऐतरेयब्रा० ३।११)।

२. तु० "परोक्षप्रिया इव हि देवाः" (ऐतरेयब्रा० ३।४३)।

३. तु० "ब्रह्म हि देवान् प्रच्यावयति" (शतपथ० ३।३।४।१७)।

४. देखिए—"तद्यथैवादः स्नुषा श्वशुराल्लज्जमाना निलीयमानैति, [illegible] सेना भज्यमाना निलीयमानैति यत्रैवं विद्वांस्तृणमुभयतः परि[illegible] सेनामभ्यस्यति।" (ऐतरेयब्रा० ३।२२)।

५. उदाहरणार्थ देखिए—"स वै स्रुवमेवाग्रे संमार्ष्टि। अथेतराः स्रुचः वै स्रुग्वृषा स्रुवस्तस्मात्। यद्यपि बह्व्य इव स्त्रियः सार्धं यन्ति [illegible] तास्वपि कुमारक इव पुमान् भवति स एव तत्र प्रथम एति, अनूच्य [illegible] तस्मात् स्रुवमेवाग्रे संमार्ष्टि। अथेतराः स्रुचः।" (शतपथ० १।[illegible] यहाँ स्रुवा और स्रुचों (भिन्न-भिन्न प्रकारके चम्मचों-जैसे यज्ञपात्र [illegible] पहले किसको साफ़ करना चाहिए, इस प्रश्नका विचित्र तर्क-द्वारा [illegible] किया गया है।

इस तरहके विचार ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें भरे पड़े हैं।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

याज्ञिक कर्मकाण्डके प्रतिपादक ब्राह्मण आदि ग्रन्थोंमें उस कर्मकाण्डके सम्बन्धमें थोड़ीसे थोड़ी च्युति या त्रुटिके लिए प्रायश्चित्तोंका विधान पाया जाता है। उससे जहाँ एक ओर उस समयके कर्मकाण्डकी यान्त्रिकता स्पष्ट प्रतीत हो जाती है, वहाँ दूसरी ओर उसपर हँसी भी आती है।

उदाहरणार्थ, 'ऐतरेयब्राह्मण' के ३२वें अध्यायमें, अग्निहोत्री गौ (=जिसका दूध अग्निहोत्र-हविःके काममें आता था) के, दूध दुहते समय, बैठ जानेपर, रँभानेपर. अथवा छटककर अलग खड़े हो जानेपर, या गरम करते हुए दूधके गिर जानेपर, तरह-तरहके प्रायश्चित्तोंका विधान किया गया है।

याज्ञिक कर्मकाण्डके अपकर्षके कारण

याज्ञिक कर्मकाण्डके विषयमें दृष्टिका यह खेदजनक परिवर्तन क्यों और कैसे हो गया, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जहाँतक हमने इस प्रश्नपर विचार किया है हम यही समझते हैं कि राजनीतिक आदि कारणोंसे देश-की क्रमशः बदलती हुई परिस्थितिमें आर्य-जातिके स्वरूपमें कुछ ऐसे मौलिक परिवर्तन हुए जिनसे याज्ञिक कर्मकाण्ड, जनताके जीवन नियन्त्रण और बुद्धिपूर्वक सहयोगसे क्रमशः दूर होते हुए, अपनी ही उत्तरोत्तर बढ़ती हुई पारिभाषिक जटिलताके कारण, प्रायेण जन्म-मूलक पुरोहित-वर्गके ही अनियन्त्रित एकाधिकारकी वस्तु बन गया।

सातवें परिच्छेदमें वैदिक धाराके क्रमिक उत्कर्षकी जिन तीन अवस्थाओंका हमने वर्णन किया है उनका प्रभाव स्वभावतः आर्य-जातिके उत्साहमय, उल्लासमय, कर्मशील और सुसंगठित जीवनमें दिखाई देता था। पर प्रत्येक राजनीतिक उत्कर्षकी प्रतिक्रिया प्रायेण अकर्मण्यता, आलस्य, आदर्शहीनता और रूढिपरताके जीवनमें हुआ करती है। इसलिए वैदिक-धाराके तृतीय कालके अनन्तर, जब कि बाह्य और आन्तरिक संघर्षके प्रायेण समाप्त हो जानेसे आर्य-जातिके विभिन्न वर्ग सुख और

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

चैनका जीवन व्यतीत करने लगे थे, उनमें अकर्मण्यता, आलस्य आदि पतनोन्मुख प्रवृत्तियोंका आ जाना स्वाभाविक था। साथ ही, जिसको महत्त्व, पद, अथवा विशेषाधिकार प्राप्त हो चुका था, वह उसे स्थायित्व और पुष्टिमें लगा था। यदि क्षत्रिय अपने राजनीतिक महत्त्व स्थायी करना चाहता था, तो ब्राह्मण भी अपने पौरोहित्यके लाभ सुरक्षित और दृढ करनेमें संलग्न था। इसी वातावरणमें, शक्ति प्रभावके केन्द्रीभूत होनेसे, तत्तद् पदों और वर्गोंमें रूढि और स्थिरता लगी, और सामान्य आर्य-जनता (=विश् या प्रजा) में-से ही ब्राह्मण-वर्ग तथा क्षत्रिय-वर्गके साथ-साथ वैश्य-वर्गका भी प्रारम्भ हुआ दूसरे शब्दोंमें, रूढिमूलक वर्णव्यवस्थाका यही प्रारम्भ था।[1]

---

१. याज्ञिक कर्मकाण्डके विकाससे ही रूढिमूलक वर्ण-व्यवस्थाका प्रारम्भ था, इस बातको पुराणोंने अपनी भाषामें स्पष्ट रूपसे कहा है। उदाहरण देखिए—

"त्रेतायुगमुखे ब्रह्मा कल्पस्यादौ द्विजोत्तम। सृष्ट्वा···ऋचश्चैव···यजूंषि असृजत्···सामानि···अथर्वाणम्···" (विष्णुपुराण १।५।५०–५६)।

"यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै। चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमम् ॥" (विष्णुपुराण १।६।७)।

अर्थात्, ब्रह्माने त्रेता-युगके प्रारम्भमें (संहिता-रूपमें) ऋग्-, यजु-, साम–तथा अथर्व-वेदकी सृष्टि की। तदनन्तर, यज्ञके साधन-भूत चातुर्वर्ण्यको ब्रह्माने यज्ञ-निष्पत्तिके लिए बनाया।

'श्रीमद्भागवत' (११।५।२४–२५) में स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है वैदिक परम्परामें यज्ञोंकी प्रवृत्ति त्रेतामें हुई थी। देखिए—"त्रेतायां तदा मनुजा देवं···यजन्ति विद्यया त्रय्या···"इत्यादि।

'महाभारत', शान्तिपर्व (२३२।३५) में भी स्पष्ट शब्दोंमें है– "त्रेतायां संहता वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा।"

'मत्स्यपुराण' (१४१।७४) में भी देखिए "इज्या दानं तपः सत्यं धर्मास्तु वै स्मृताः। तदा प्रवर्तते धर्मो वर्णाश्रमविभागशः ॥"

इसी प्रसंगमें ऐतरेयब्राह्मण (७।१९) को देखिए—"प्रजापतिर्यज्ञमत्यसृजत"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

वर्ण-व्यवस्थामें रूढिमूलकताके आ जानेपर, तत्तद् वर्गोंमें स्वार्थ तथा अकर्मण्यताकी प्रवृत्तिका बढ़ना स्वाभाविक था। इसी परिस्थितिमें क्षत्रिय वर्गमें क्रमशः ऐश्वर्यके उपभोगकी प्रवृत्ति बढ़ने लगी और, न केवल धार्मिक कर्मकाण्डमें ही, अपितु राज्य अथवा राष्ट्रके संचालनमें भी, वह अधिकाधिक पुरोहित-वर्गपर निर्भर होने लगा। वेदमें राजाओंकी प्रायः अतिशयोक्तिपूर्ण जो दान-स्तुतियाँ[1] पायी जाती हैं, और ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें पुरोहितोंकी जो अत्यधिक महिमा गायी गयी है,[2] वे स्पष्टतः उक्त परिस्थिति-की ही द्योतक हैं।

उक्त वातावरणमें ही, याज्ञिक कर्मकाण्डमें आर्य-जातिकी परम्परागत श्रद्धाके[3] आधारपर, उसको अधिकाधिक जटिल, यान्त्रिक और कृत्रिम बनाया गया।

यज्ञं सृष्टमनु ब्रह्मक्षत्रे असृज्येताम्" इत्यादि। अर्थात्, प्रजापतिने पहले यज्ञ की सृष्टि की और तत्पश्चात् ब्रह्म और क्षत्रकी।

१. उदाहरणार्थ देखिए—ऋग्० १।१२६।

२. तु० "तस्मै विशः संजानते संमुखा एकमनसः। यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितः॥ तस्य राजा मित्रं भवति द्विषन्तमपबाधते। यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितः॥" (ऐतरेयब्राह्मण ८।२५,२७)। तथा "न ह वा अपुरोहितस्य राज्ञो देवा अन्नमदन्ति। तस्माद् राजा यक्ष्यमाणो ब्राह्मणं पुरो दधीत देवा मेऽन्नमदन्निति।" (ऐतरेयब्रा० ८।२४)। तथा "अग्निर्वा एष वैश्वानरः पञ्चनेमिर्यत् पुरोहितः।...स एनं (=राजानं) शान्ततनुरभिहुतोऽभिप्रीतः स्वर्गं लोकमभिवहति क्षत्रं च बलं च राष्ट्रं च विशं च। स एवैनमशान्ततनुरनभिहुतोऽनभिप्रीतः स्वर्गाल्लोकान्नुदते क्षत्राच्च बलाच्च राष्ट्राच्च विशश्च।" (ऐतरेयब्रा० ८।२४)। तथा "ब्रह्म क्षत्रेण युक्तं देवपितृमनुष्यान् धारयतीति विज्ञायते" (गौतमधर्मसूत्र ११।२९)।

३. तु० "न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः।" (ऋग्० १०।४४।६), "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म" (शतपथब्रा० १।७।१।५)। "यज्ञो वै सुतर्मा नौः" (ऐतरेयब्रा० १।१३)

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

इसका कारण स्पष्ट था।

जैसा ऊपर कहा है, रूढिमूलक वर्गोंमें स्वार्थमयी प्रवृत्तिका बढ़ना स्वाभाविक होता है। अतएव वे अपने कर्तव्योंको व्यवसायकी से देखने लगते हैं। उनको समाजके हितकी उतनी परवा नहीं जितनी अपने और स्ववर्गीय लोगोंके हित-साधनकी। इसी अनुसार यह स्पष्ट है कि रूढिमूलक पुरोहित-वर्गका हित याज्ञिक काण्डकी अधिकाधिक जटिलता और यान्त्रिकतामें ही निहित था।

याज्ञिक कर्मकाण्डकी परिधि और जटिलताका विस्तार कहाँतक गया इसका अनुमान उन अनेकानेक प्रकारकी कामनाओंसे किया सकता है जिनकी प्राप्तिके लिए इष्टियाँ या यज्ञ किये जा सकते जिन लक्ष्योंकी प्राप्तिके लिए याज्ञिक कर्मकाण्डका आश्रय लिया जा था उनमें-से कुछ ये हैं—स्वर्ग, आयु, पुष्टि, वीर्य, अन्नाद्य, प्रजा, ग्राम (= ज़मींदारी), धन-सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, वर्षा, युद्धमें विजय, लाभ, शत्रुनाश, स्त्री-वशीकरण, आदि, आदि।

अभिप्राय यह है कि मनुष्यकी ऐसी कोई भी कामना (नैतिक अनैतिक) नहीं थी जिसकी प्राप्तिका उपाय यज्ञ-द्वारा न बतलाया सकता था। यहाँतक कि यदि कोई नौकर नौकरीसे भाग जाना था, तो उसको रोकनेका (अत्यन्त बीभत्स) उपाय भी एक बतला सकता था।[1]

एक पंसारीके पास जैसे हर रोगके लिए पुड़िया होती है, उसी

---

१. देखिए—'पारस्कर-गृह्यसूत्र' (३।७)—"उतूलपरिमेहः। स्वपतो विषाणे स्वं मूत्रमासिच्यापसलवि त्रिः परिषिञ्चन् परीयात्..." किसी जीते हुए जानवरके सींगमें अपने मूत्रको भरकर डालते हुए हुए दासके चारों ओर तीन बार मन्त्र-विशेषको पढ़ते हुए बाम घूमनेका विधान है। इसी प्रकारके यज्ञीय टोटकोंसे अथर्ववेदीय सूत्र' भरा पड़ा है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

याज्ञिकके पास मानो प्रत्येक कामनाकी प्राप्तिके लिए कर्मकाण्डीय पुड़िया वर्तमान रहती थी !

वैदिक (= श्रौत) यज्ञोंका विस्तार इतना बढ़ गया था कि उनमें प्रायः अनेक (१६ या १७ तक) ऋत्विजोंकी आवश्यकता होती थी। वे सप्ताहों तक, कभी-कभी एक वर्षसे भी अधिक काल तक, चलते थे। उनके करनेमें इतना संभार करना पड़ता था और इतनी अधिक दक्षिणाएँ देनी पड़ती थीं कि साधारण वित्तके लोग तो उनको कर ही नहीं सकते थे। दूसरे शब्दोंमें, धर्मको सम्पन्न-वर्ग ही कर सकता था ! 'गीता' (४।२८, ३३) में इसीलिए वैदिक यज्ञोंको द्रव्य-यज्ञ कहा है।[1]

बेचारी निम्न जनताको तो यज्ञोंके करनेका अधिकार ही नहीं था ! 'शतपथब्राह्मण' में कहा है –

"ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा वैश्यो वा ते हि यज्ञियाः। ....न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते। ब्राह्मणेन वैव राजन्येन वा वैश्येन वा। ते हि यज्ञियाः।" (शतपथब्रा० ३।१।१।९-१०)

अर्थात्, देवता लोग सब किसीसे बात-चीत नहीं करते ! वे केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यसे ही बातें करते हैं; क्योंकि इनको ही यज्ञ करनेका अधिकार है।

इस याज्ञिक कर्मकाण्डमें स्वभावतः पुष्कल दक्षिणा (= ऋत्विजोंकी फीस) पर बड़ा बल दिया जाता था। "हतं यज्ञमदक्षिणम्" (अर्थात्, दक्षिणारहित यज्ञ कभी सफल नहीं होता), यह यज्ञोंका मौलिक

---

१. अँगरेज़ी भाषाकी एक बहुमूल्य उक्ति है : "Expensive justice means no justice." इसी तरह यह कहा जा सकता है—"वस्तुतो धर्माचरणं द्रव्यं नापेक्षते", अर्थात् वास्तविक धर्माचरण द्रव्य-धनकी अपेक्षा नहीं करता है।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

सिद्धान्त था।[1]

'शतपथब्राह्मण' (२।२।३।२८) में कहा है—

"तस्य हिरण्यं दक्षिणा। आग्नेयो वा एष यज्ञो भवति।"

अर्थात्, इस यज्ञ (=अग्निहोत्र) में सोनेकी दक्षिणा देनी चाहिए, क्योंकि यह यज्ञ अग्नि-देवताके लिए किया जाता है।

'कात्यायन-श्रौतसूत्र' (१०।२।३४) में कहा है—

"न रजतं दद्याद् बर्हिषि 'पुरास्य संवत्सराद् गृहे रुदन्ती'ति श्रुतेः।"

अर्थात्, यज्ञमें चाँदीके रूपमें दक्षिणा नहीं देनी चाहिए; क्योंकि श्रुति (='तैत्तिरीयसंहिता' १।५।१) में कहा है कि जो ऐसा करता है उसके घरमें एक वर्षके अन्दर ही रोना पड़ जाता है।

अभिप्राय यह है कि दक्षिणामें सुवर्ण ही देना चाहिए!

इसी प्रकारके सैकड़ों वचन ब्राह्मणादि ग्रन्थोंमें यज्ञोंमें पुष्कल दक्षिणा देनेके समर्थनमें पाये जाते हैं।[2]

वैदिक यज्ञोंकी उक्त प्रचुर-द्रव्य-साध्य प्रवृत्ति और स्वरूपको देखकर ही 'महाभारत' अनुशासनपर्व (अध्याय १०७) में युधिष्ठिरके मुखसे कहलाया गया था—

न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं पितामह।
बहूपकरणा यज्ञा नानासंभार-विस्तराः ॥२॥

---

१. तु० "दक्षिणा वै यज्ञानां पुरोगवी। यथा ह वा इदमनोऽपुरोगवं रिष्यति एवं हैव यज्ञोऽदक्षिणो रिष्यति" (ऐतरेयब्रा० ६।३५)। अर्थात्, जैसे बिना बैलके गाड़ी नहीं चलती, ऐसे ही बिना दक्षिणाके यज्ञ भी आगे नहीं बढ़ता, नष्ट हो जाता है॥ तथा मनु० ११।३९-४०।

२. देखिए—"अभिषेचनीये तु द्वात्रिंशतं द्वात्रिंशतं सहस्राणि...", "सहस्रं दशपेयः", "सौवर्णीं स्रगुद्गातुः" (आश्वलायन-श्रौतसूत्र ९।४।३,७,९)। "चतस्रो वै दक्षिणाः। हिरण्यं गौर्वासोऽश्वः" (शतपथब्रा० ४।३।४।७)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

पार्थिवैः राजपुत्रैर्वा शक्याः प्राप्तुं पितामह ।
नार्थन्यूनैरवगुणैरेकात्मभिरसंहतैः ॥३॥[1]

अर्थात्, हे पितामह ! यज्ञोंमें बड़े साधन और तैयारीकी अपेक्षा होती है। उनको राजा या राजपुत्र ही कर सकते हैं। जिनके पास धनादि सामग्रीका अभाव है, जिनके सहायक नहीं हैं, जो बेचारे निःसहाय और दरिद्र हैं वैदिक यज्ञोंका करना उनकी शक्तिके बाहर है।

इसके अतिरिक्त, 'आश्वलायन-श्रौतसूत्र' (१२।९) आदिमें[2] यज्ञमें बलि किये हुए सवनीय पशुके अंगोंको ऋत्विजों आदिमें किस प्रकार बाँटना चाहिए, इसका भी विस्तृत विधान दिया हुआ मिलता है। जैसे –

"तस्य विभागं वक्ष्यामः । हनू सजिह्वे प्रस्तोतुः । श्येनं वक्ष उद्गातुः ।....तां वा एतां पशोर्विभक्तिं श्रौत ऋषिर्देवभागो विदांचकार...."

अर्थात्, अब हम सवनीय पशुके अंगोंके विभागके विषयमें कहेंगे। जिह्वाके सहित दोनों जबड़े प्रस्तोताके लिए। श्येन-सदृश वक्षःस्थल उद्गाताके लिए।....पशुके इस प्रकार विभागका परिज्ञान श्रौत ऋषि देवभागको हुआ था....

ऋत्विजोंमें पशुके अंगोंके बाँटनेकी व्यवस्थाका प्रश्न इसीलिए उठा होगा, जिससे उनमें बँटवारेको लेकर कोई झगड़ा न हो।

इस प्रसंगमें 'दक्षिणा' के स्वरूपको समझ लेना आवश्यक है। यज्ञोंमें ऋत्विजोंको जो दक्षिणा दी जाती थी, वह वास्तवमें उनकी 'फ़ीस' या 'मजदूरी' ही होती थी। 'पूर्वमीमांसा' में ऋत्विजोंको स्पष्टतया 'दक्षिणा-

---

१. यही बात, लगभग इन्हीं शब्दोंमें, पुराणोंमें भी कही गयी है। उदाहरणार्थ, देखिए—'मत्स्यपुराण' (१११।१२,१३)।
२. देखिए—'गोपथब्राह्मण' (१।३।१८)।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

क्रीत[1] (अर्थात्, दक्षिणासे खरीदा गया) कहा गया है।

धर्मशास्त्रोंमें भी ब्राह्मणादि वर्णोंके याजन (=यज्ञ कराना), प्रतिग्रह (=दान लेना) आदि जो विशिष्ट कर्म कहे गये हैं उनको स्पष्टतः 'आजीविका' या 'वृत्ति' के रूपमें ही माना गया है।[2]

ऐसी स्थितिमें पौरोहित्यका काम, कोई पारमार्थिक कर्म न होकर अन्य पेशोंके समान, एक पेशा या व्यवसाय ही था। यह ठीक ही था क्योंकि पुरोहित कोई 'मिशनरी' या 'श्रमण' (=जैन या बौद्ध भिक्षु तो थे नहीं। उनको भी अपना और अपने परिवारका भरण-पोषण करना पड़ता था। इसलिए उनका दक्षिणा लेना बिलकुल न्याय्य और समुचित था; विशेषतः जब कि वे आर्य-जातिकी प्राचीन धार्मिक और सांस्कृतिक परम्पराके निर्वाहक और संरक्षक थे।

दक्षिणा या पौरोहित्य-संस्थापर कोई आपत्ति नहीं हो सकती। उस समयकी वह एक आवश्यकता थी। पौरोहित्य-संस्थाने, जैसा हम ऊपर (परिच्छेद १० में) दिखला चुके हैं, यजमान-पुरोहितके घनिष्ठ मधुर स्नेह-सम्बन्धके उदाहरण प्रायः उपस्थित किये हैं।

हमारा केवल यही कहना है कि भारतीय संस्कृतिके इतिहासमें जब पौरोहित्यके पेशेका सम्बन्ध एक रूढ जन्म-मूलक वर्ग-विशेषसे हो गया

---

१. देखिए—'मीमांसासूत्र' (३।७।२०–२१), तथा उन सूत्रोंपर 'जैमिनीय न्याय-मालाविस्तर'—"ये यजमानेन क्रीताः कर्तार ऋत्विजः...."।

२. देखिए—"...षट् कर्माण्यग्रजन्मनः ॥ षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका। याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥..." (मनुस्मृति १० ७५–८०)

३. प्रारम्भमें पौरोहित्य ब्राह्मण ही करे, यह आवश्यक नहीं था। राजर्षि देवापिने अपने भाई शन्तनुका पुरोहित बनकर यज्ञ कराया था, यह कथा वैदिक वाङ्मयमें सुप्रसिद्ध है; देखिए—'निरुक्त' (२।१०)। 'ऐतरेयब्राह्मण' में तो स्पष्टतः कहा है—"सैषा स्वर्ग्याहुतिर्यदग्न्याहुतिः। यदि ह वा अप्यब्राह्मणोक्तो...यजतेऽथ हैषाहुतिर्गच्छत्येव देवान्" (ऐत०ब्रा० १।१६)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

तबसे उसमें रूढिमूलक वर्गोंकी अच्छी-बुरी सारी प्रवृत्तियोंका आ जाना स्वाभाविक था, जैसा कि आगे चलकर हम स्पष्ट करेंगे। यहाँ तो हमारा इतना ही अभिप्राय है कि वैदिक कर्मकाण्डके अपकर्षको समझनेके लिए उस समयके पौरोहित्यके उक्त स्वरूपको समझ लेना आवश्यक है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके आधारपर वैदिक कर्मकाण्डके अपकर्षके कारण ये थे —

१. वैदिक धाराके तृतीय कालके अनन्तर राजनीतिक उत्कर्षकी प्रतिक्रियाके रूपमें आर्यजातिके विभिन्न वर्गोंमें अकर्मण्यता, आलस्य और आदर्श-हीनताकी प्रवृत्तियोंका प्रारम्भ;

२. उक्त उत्कर्षकी अवस्थामें प्राप्त महत्त्व, पद या विशेषाधिकारों-को सुरक्षित और पुष्ट करनेकी प्रवृत्तिसे रूढ़िमूलक वर्ण-व्यवस्थाका क्रमशः विकास;

३. उक्त परिस्थितिमें वैदिक कर्मकाण्डपर रूढिमूलक पुरोहितवर्गके अनियन्त्रित एकाधिकारकी प्रवृत्ति; और

४. जनताके नियन्त्रण और जीवनसे पृथक् हो जानेसे तथा वास्त-विकता और सार्थकताके अभावसे वैदिक कर्मकाण्डमें अधिकाधिक विस्तार, कृत्रिमता और यान्त्रिकताकी प्रवृत्तिका प्रवेश।

याज्ञिक कर्मकाण्डके अपकर्षका दुष्प्रभाव

सातवें परिच्छेदमें वैदिक धाराकी तीन अवस्थाओंको दिखलाते हुए हमने वैदिक धाराके तृतीय कालको उसका मध्याह्न-काल और अतएव परम उत्कर्षका काल कहा है। उसके अनन्तर उसका क्रमशः अपकर्ष शुरू हो जाता है, ठीक उसी तरह जैसे मध्याह्न-कालमें सूर्यका प्रकाश और तेज अपने चरम उत्कर्षमें पहुँचकर तदनन्तर अपकर्षकी ओर चलने लगता है और अपराह्णके पश्चात् तो अस्तोन्मुख ही होने लगता है।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

वैदिक धाराके उत्कर्षके दिनोंमें याज्ञिक कर्मकाण्डको, जिसमें उस समयका जातीय जीवन प्रतिबिम्बित था, हमने उसका महान् प्रतीक कहा है। इसी दृष्टिसे याज्ञिक कर्मकाण्डको हम वैदिक धाराका मानदण्ड भी कह सकते हैं। इसलिए ऊपर दिखलाये गये कारणोंसे याज्ञिक कर्मकाण्डके अपकर्षके आनेपर समस्त वैदिक धारामें अपकर्षका आ जाना स्वाभाविक था। इसी बातको हम नीचे स्पष्टतया दिखाना चाहते हैं।

याज्ञिक कर्मकाण्डके अपकर्षका दुष्प्रभाव अतिव्यापक था। उसके यहाँ हम विशेष रूपसे निम्न-निर्दिष्ट विषयोंको लेकर दिखाना चाहते हैं -

१. वेदोंके अध्ययनाध्यापनकी परम्परा,

२. देवता-विषयक भावना,

३. रूढि-मूलक वर्गवादकी प्रवृत्ति,

४. नैतिकताका ह्रास।

वेदोंकी अध्ययनाध्यापन-परम्पराका अपकर्ष

वैदिक संस्कृतिके उषःकालमें मन्त्रात्मक वेद और आर्य-जातिके जीवनमें एक प्रकारसे एकरूपता थी, यह हमने ऊपर (परिच्छेद ७ में) कहा है। उस समय उसका जीवन वेद था और वेद ही जीवन था, क्योंकि एकसे दूसरेकी व्याख्या की जा सकती थी।

द्वितीय कालमें, एक विशिष्ट कर्मकाण्डके रूपमें, याज्ञिक कर्मकाण्डका प्रारम्भ हुआ। उस समय उसमें पूर्णतया स्वाभाविकता और सार्थकता वर्तमान थी। उसके साथ जिन भी वैदिक मन्त्रोंका प्रयोग किया जाता था, वह पूरी तरह उनके अर्थको और उपयुक्तताको समझकर ही किया जाता था। यही अवस्था उसकी वैदिक धाराके तृतीय कालमें थी, जब कि याज्ञिक कर्मकाण्ड अपने चरम उत्कर्षकी अवस्थामें था।

इस तृतीय कालमें वैदिक मन्त्रोंके अर्थ-ग्रहण में कदाचित् कुछ कठिनाईका अनुभव किया जाने लगा था। इसीलिए निरुक्तमें कहा है -

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

"उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्म-ग्रहणायेमं
ग्रन्थं समाम्नासिषुः । वेदं च वेदाङ्गानि च ।" (निरुक्त १।२०)

अर्थात्, वैदिक-परम्पराकी तृतीय अवस्थामें मन्त्रार्थके समझनेकी कठिनताके कारण ही निरुक्तका, वेदका तथा अन्य वेदांगोंका संग्रन्थन किया गया ।

ऊपरके उद्धरणसे स्पष्ट है कि उस तृतीय कालमें व्याकरण, निरुक्त आदि वेदांगोंके साथ ही वेदाध्ययन किया जाता था । इसी अवस्थाका वर्णन 'महाभाष्य'में इन सुन्दर शब्दोंमें किया गया है –

"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"
(पस्पशाह्निक)

अर्थात्, ब्राह्मणको छह अंगोंके सहित ही वेदको पढ़ना और समझना चाहिए । यह उसका निष्कारण धर्म है ।

इसलिए वैदिक धाराके तृतीय काल तक याज्ञिक कर्मकाण्डमें वैदिक मन्त्रोंका प्रयोग उनके अर्थोंको समझकर और उपयुक्तताको देखकर ही किया जाता था, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

यही बात नीचे दिये हुए प्रमाणोंमें भी सिद्ध होती है –

"एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं
यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति" (निरुक्त १।१६)

अर्थात्, याज्ञिक कर्मकी सम्पन्नता या पूर्ण-रूपता इसीमें है कि उसमें जो ऋग्वेद या यजुर्वेदके मन्त्र प्रयुक्त होते हैं वे वास्तवमें उस कामको बतलाते भी हैं जो यज्ञमें किया जाता है ।

"यद् यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम्" (ऐतरेयब्रा० १।१६)

अर्थात्, मन्त्र और कर्मकी अनुरूपतामें ही यज्ञकी सम्पन्नता रहती है ।

"मनसा वै यज्ञस्तायते मनसा क्रियते" (ऐतरेयब्रा० ३।११)

अर्थात्, (मन्त्रोंके) अर्थको समझकर ही यज्ञ किया जाता है ।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

यह स्पष्ट है कि उस समय मन्त्रोंके अर्थका ही प्राधान्य था। उ
अपेक्षा कर्मकाण्ड गौण था।

ऐसी अवस्थामें कर्मकाण्डकी महत्ता उसके अपने क्रिया-कलापमें
होकर, उसके पीछे रहनेवाली भावनामें ही हुआ करती है। इसी बात
उपनिषदोंकी शैलीमें हम इस प्रकार कह सकते हैं—

'न वा अरे कर्मकाण्डस्य कामाय कर्मकाण्डं प्रियं भवति, जनता
राष्ट्रस्य तु कामाय कर्मकाण्डं प्रियं भवति'[1]

अर्थात्, अरे भाई कर्मकाण्ड कर्मकाण्ड होनेके कारण प्रिय नहीं है
है, किन्तु इसलिए प्रिय होता है कि उससे जनता या राष्ट्रके कल्या
सहायता मिलती है।

वास्तवमें उस समय याज्ञिक कर्मकाण्डकी महत्ता इसीलिए स
जाती थी कि उसके द्वारा जनताको वैदिक उदात्त भावनाओंको
मिलती थी।

परन्तु इस स्थितिने पलटा खाया। आर्य-जनतामें, और विशेष
सम्पन्न वर्गमें, उदात्त वैदिक भावनाओंके स्थानमें अकर्मण्यता आदि
भावनाओंका प्रभाव बराबर बढ़ने लगा।

वैदिक मन्त्रों और कर्मकाण्डकी परम्पराके निर्वाहक पुरोहित-
भी, ऊपर दिखलाये हुए कारणोंसे, जहाँ एक ओर आलस्य और बुद्धि
मन्दताका साम्राज्य बढ़ा, वहाँ दूसरी ओर याज्ञिक क्रिया-कलापमें
प्रयुक्त श्रद्धातिरेकसे वैदिक मन्त्रोंके अर्थको समझनेकी तरफ़से उपेक्षा
बढ़ने लगी।[2]

---

१. तु० "न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति, आत्मनस्तु
वित्तं प्रियं भवति।" इत्यादि (बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।५ तथा ४।५।
२. तु० "अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्। आलस्यादन्नदोषाच्च
मृत्युर्विप्रान् जिघांसति" (मनुस्मृति ५।४)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

यह समझा जाने लगा कि ऋत्विजोंमें, उनके द्वारा प्रयुक्त मन्त्रोंके शब्दोंमें, और यज्ञके क्रिया-कलापमें ही ऐसी कोई अदृष्ट शक्ति है जिससे फलपूर्वक अपनी अभीष्ट कामनाकी सिद्धि की जा सकती है।

"ब्रह्म हि देवान् प्रच्यावयति" (शतपथब्रा० ३।३।४।१७)

अर्थात्, मन्त्रमें ऐसी शक्ति है कि वह देवोंको भी झुका सकती है!

"द्वया वै देवाः। देवा अहैव देवाः। अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः" (शतपथब्रा० २।२।२।६)

अर्थात्, देव दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जिनको देव कहा जाता है। दूसरे विद्वान् ब्राह्मण, जिनको 'मनुष्य-देव' कहना चाहिए।

इत्यादि वचन ऋत्विजोंकी उसी मानसिक स्थितिके द्योतक हैं।[1]

इस मनोवृत्तिका वेदोंके अध्ययनाध्यापनपर अनर्थकारी प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। अब तो यह समझा जाने लगा कि,

१. वेदोंके मन्त्रोंका केवल यही प्रयोजन है कि उनका यज्ञोंमें प्रयोग किया जाये;[2]

२. मन्त्रोंके शब्द-मात्रमें शक्ति है, यहाँतक कि वास्तवमें मन्त्रका कोई अर्थ ही नहीं होता।[3]

---

१. तु० "एते वै देवा अहुतादो यद् ब्राह्मणाः। आहुतिभिरेव देवान् हुतादः प्रीणाति, दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान्। तेऽस्मै प्रीता इषमूर्जं नियच्छन्ति।" (गोपथ-ब्राह्मण २।१।६)। "एते देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः" (तैत्तिरीय-संहिता १।७।३।१)। "ब्राह्मणा हि महात्मानो देवानामपि देवताः" (महाभारत, अनुशासनपर्व, ३५।२१)।

२. तु० "वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः" (याजुषज्योतिष ३);
"मन्त्राश्च कर्मकरणाः" (आश्वलायन-श्रौतसूत्र १।१।२१);
"आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" (पूर्वमीमांसा १।२।१)।

३. तु० "अनर्थका हि मन्त्राः" (निरुक्त १।१५)।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

याज्ञिकोंकी इसी खेद-जनक प्रवृत्तिको देखकर 'महाभाष्य' कहा था –

"वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति" (पस्पशाह्निक)

अर्थात्, याज्ञिक लोग व्याकरणादिकी उपेक्षा करके वेदके शब्दोंको रटकर अपनेको कृतकृत्य समझ लेते हैं।

वेद-मन्त्रोंके अर्थकी ओरसे याज्ञिकोंकी इस उपेक्षाको देखकर कालमें ही विद्वानोंने अर्थ-ज्ञानपर बहुत-कुछ बल देना प्रारम्भ कर था। उदाहरणार्थ, 'निरुक्त' में ही उद्धृत इन प्राचीन वचनोंको देखि

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद-
धीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्दयते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥ (निरुक्त)

अर्थात्, वेदको पढ़कर उसके अर्थको न जाननेवाला भारसे लदे केवल एक स्थाणुके समान है। जिस मन्त्र आदिको बिना अर्थके केवल पाठ-मात्रसे पढ़ा जाता है उसका कोई फल नहीं होता, उसे जैसे सूखा ईंधन भी बिना आगके कभी नहीं जलता।

परन्तु उक्त प्रवृत्तिका यह सारा प्रतिवाद केवल अरण्य-रोदनके था। यज्ञोंके और मन्त्रार्थके सम्बन्धमें कर्मकाण्डियोंकी उक्त प्रवृत्ति बढ़ती ही गयी। ऐसी स्थितिमें वैदिक कर्मकाण्ड खूब बढ़ा तो सही, वह धीरे-धीरे निष्प्राण शुष्क क्रिया-कलापमें परिवर्तित होता गया। अन्तमें ऐसा समय आया जब कि वह एक ओर औपनिषद धारा और दूसरी ओर जैन-बौद्ध आदिके, प्रतिवाद और विरोधकी आँधीमें नष्ट हो गया।

---

१. तु० "अध्येन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्" (ऋ० १०।७१।५)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

उक्त प्रवृत्ति का दुष्प्रभाव यहीं समाप्त नहीं हुआ। इसके अनन्तर मन्त्रोंकी जो दुर्दशा हुई वह और भी हृदय-विदारक है।

वैदिक धाराकी परम्परामें याज्ञिक (श्रौत) कर्मकाण्ड तो शनैः-शनैः समाप्तप्राय ही हो गया[२]; पर शुष्क तथा अर्थहीन कर्मकाण्डकी प्रवृत्ति भारतवर्षमें बराबर बढ़ती ही रही। वह प्रवृत्ति आज भी हिन्दू-समाजमें

१. (१) यह विचित्र बात है कि 'पूर्वमीमांसा' आदिके विचारोंमें, जहाँ वैदिक मन्त्रोंका उल्लेख आवश्यक होना चाहिए वहाँ भी उनकी उपेक्षा करके, ब्राह्मण-वाक्योंको ही उद्धृत कर उनपर विचार किया जाता है। उदाहरणार्थ, वेदोंमें अनित्य ऐतिहासिक व्यक्तियोंके नामके आनेसे वेद अनित्य हो जायेंगे, इस आपत्तिके प्रसंगमें, वैदिक मन्त्रोंके सुप्रसिद्ध अगस्त्य, लोपामुद्रा, सुदास् आदि नामोंका उल्लेख न करके, केवल ब्राह्मण-वाक्यान्तर्गत 'बबर'-जैसे नामोंपर विचार किया गया है (देखिए – सायणाचार्यकी 'ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिका' में मीमांसा-सूत्र १।१।२८-३०, तथा १।२।६ की व्याख्या)। इस उपेक्षाका कारण हमें वेदोंके अध्ययनाध्यापनकी घोर शिथिलता ही प्रतीत होती है।

(२) एक दूसरी बातका निर्देश करना भी यहाँ आवश्यक है। वह यह है – वेदोंपर और वैदिक कर्मकाण्डपर जो विरोधियोंके आक्षेप होते रहे हैं, उनके उत्तरमें 'पूर्वमीमांसा' आदिमें 'वेद पुरुषार्थके अलौकिक उपायको बतलाते हैं', और 'वैदिक कर्मकाण्ड एक अपूर्व या अदृष्टका जनक होता है', यही कहा जाता रहा है। वैदिक उदात्त भावनाओंका या राष्ट्र अथवा समाजकी भलाई या उत्कर्षका उल्लेख उनके समर्थनमें प्रायः नहीं किया गया। इससे भी वेदोंके वास्तविक अध्ययनाध्यापनकी उपेक्षा ही प्रतीत होती है। अपूर्ववादकी युक्ति तो स्पष्टतः अत्यन्त दुर्बल है। मनुष्यका विचारपूर्वक किया हुआ ऐसा कौन-सा कार्य है जिससे 'अपूर्व' उत्पन्न नहीं होता?

२. तु० "द्वापरे विप्लवं यान्ति यज्ञाः कलियुगे तथा।" (महाभारत, शान्तिपर्व, २३२।३२)। तथा "त्रयीमिव कलियुगध्वस्तधर्मशोकगृहीतवनवासाम्" (महाश्वेताम्), (कादम्बरीमें महाश्वेता-वर्णनं)।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

पूरे वेगके साथ प्रचलित है; जैसा हम प्रकृत ग्रन्थके एक अन्य खण्डमें मान हिन्दू-धर्मकी धाराके प्रसंगमें स्पष्ट करेंगे।

वर्तमान हिन्दू-धर्ममें नये देवताओंके साथ साथ नये कर्मकाण्डका विकास हुआ। नवग्रह-पूजा आदि बिलकुल नयी पूजाएँ चलीं। परन्तु नवीन कर्मकाण्डमें बहुत करके उन्हीं प्राचीन वैदिक मन्त्रोंसे काम लिया गया; इसकी परवा ही नहीं की गयी कि उनके प्रयोगमें कोई सार्थकता वास्तविकता भी है या नहीं। अधिकसे अधिक केवल देवताके नाम और मन्त्रमें शब्द-मात्र या अक्षर-मात्रका साम्य ही पर्याप्त समझ लिया गया!

उदाहरणार्थ, नवग्रहोंमें-से शनिकी पूजामें "शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु०" (ऋग्० १०।९।४) इस मन्त्रका (जिसका सम्बन्ध वास्तव 'आपः' या 'जलों' से है) प्रयोग किया जाने लगा; केवल इस आधार कि 'शनि' में और मन्त्रके 'शन्नो' शब्दोंमें 'शन्' की ध्वनि समान है! इस तरहके सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

वेदोंकी अध्ययनाध्यापन-परम्परामें इस प्रकारकी घोर और कष्टकर अनास्थाके आ जानेपर, वेदोंके विषयमें "त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः" (अर्थात्, वेदोंको भाँड़, धूर्त और राक्षसोंने बनाया है) "वेद पढ़त ब्रह्मा मरे चारों वेद कहानि" इस प्रकारके निराधार अज्ञान-मूलक विचारोंका फैलना स्वाभाविक था!

देवता-विषयक भावनाका अपकर्ष

परिच्छेद ६ तथा १० में हमने कहा है कि यद्यपि आपाततः देवता अपनी-अपनी स्वतन्त्र पृथक् सत्ता रखते हुए प्रतीत होते हैं, वेदोंके मन्त्रोंमें यत्र-तत्र स्पष्ट रूपसे उनकी मौलिक आध्यात्मिक एकता प्रतिपादन किया गया है। मन्त्रार्थ-ज्ञान-पूर्वक वैदिक यज्ञोंके करनेके समय तक, निश्चय ही विद्वान् याज्ञिकोंको उस मौलिक आध्यात्मिक एकता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

रहता होगा। तभी तो कहा जाता था –

"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋग्० १।१६४।४६)।

"सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभि –

रेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।" (ऋग्० १०।११४।५)

अर्थात्, विद्वान् लोग एक ही मौलिक सत्ता या अध्यात्म-तत्त्वको भिन्न-भिन्न इन्द्र, मित्र, अग्नि आदि नामोंसे कहते हैं।

मन्त्रोंमें प्रायः आता है कि वैदिक देवता अपना-अपना कार्य परस्परोपकार या सामंजस्यके भावसे ही करते हैं, विरोध-भावसे कभी नहीं।[1] इससे भी उनकी मौलिक आध्यात्मिक एकता ही प्रतीत होती है। एकता न होनेपर, भिन्न-भिन्न वैदिक देवताओंमें और उनके माननेवालोंमें परस्परिक ईर्ष्या-द्वेष और तन्मूलक विरोध-भावनाका पाया जाना स्वाभाविक होता।

उसी मौलिक तत्त्वके विषयमें मन्त्रोंमें कहा गया है –

"स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु" (यजु० ३२।८)।

"वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोता इमाः प्रजाः" (अथर्व० १०।८।३८)

अर्थात्, वह मौलिक आध्यात्मिक तत्त्व सर्वत्र फैला हुआ है और ये सारी प्रजाएँ उसीसे उत्पन्न हुई हैं।

बढ़ती हुई कृत्रिमताके दिनोंमें वैदिक कर्मकाण्डमें मन्त्रोंके अर्थज्ञानकी उपेक्षाका एक बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि देवताओंकी मौलिक एकताकी भावना क्रमशः अधिकाधिक ओझल होती गयी, और अन्तमें प्रायः बिलकुल ही लुप्त हो गयी।

यही नहीं, आगे चलकर तो, एक प्रकारसे देवताओंके अपने अस्तित्वको भी मीमांसकोंने नहीं माना। 'पूर्वमीमांसा' का सिद्धान्त है कि देवता मन्त्रमय होते हैं। अर्थात्, तत्तद् देवताके जो मन्त्र हैं वही देवता हैं; उनसे

---

१. तु० "देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते" (ऋग्० १०।१९१।२)।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

पृथक् देवता अपनी सत्ता नहीं रखते। कई प्रकारकी युक्तियाँ इस सि
के पक्षमें दी जाती हैं। परन्तु वास्तवमें इस सिद्धान्तका मूल इसी सि
में है कि, किसी यन्त्र या मशीनकी तरह, याज्ञिक क्रिया-कलापमें ही
फल देनेकी शक्ति है। फिर चेतन देवताकी आवश्यकता ही क्या
प्रत्युत, चेतन देवता अपनी स्वतन्त्रताके कारण उस क्रियाकलापकी
शक्तिमें बाधा ही डाल सकता है। इसी कारणसे मीमांसक लोग,
क्या, ईश्वरको भी नहीं मानते! मानते हैं केवल याज्ञिक क्रिया-क
अक्षुण्णताको!

इस प्रकार याज्ञिक कर्मकाण्डकी अत्यधिक यान्त्रिकता क्रमशः, न
वैदिक देवतावादके लिए ही, किन्तु उसके आध्यात्मिक एकतावादके
भी, सर्व-नाशकर सिद्ध हुई। इस स्थितिका नैतिक भावनाओंपर
दुष्प्रभाव पड़ा, उसको हम आगे स्पष्ट करेंगे।

रूढिमूलक वर्गवादकी प्रवृत्तिका दुष्प्रभाव

वैदिक धाराके तृतीय कालमें वर्णव्यवस्थाकी प्रवृत्तिका प्रारम्भ
और उसके अनन्तर धीरे-धीरे उसमें रूढिमूलकताकी वृद्धि होने
यह हमने ऊपर कहा है। उस परिस्थितिमें उस व्यवस्थाके गुण-
कुछ चर्चा भी हम कर चुके हैं।

उक्त रूढिमूलकताके लानेमें और उसको दृढ करनेमें
कर्मकाण्डकी अत्यधिक जटिलताका विशेष हाथ था, यह भी हम
दिखला चुके हैं।

भारतवर्षके इतिहासमें इस कालको हम एक प्रकारसे
कर्मकाण्डका काल कह सकते हैं। इस कालमें देशके सामने कोई
राजनीतिक कार्यक्रम नहीं दीखता। प्रायेण छोटे-छोटे राज्योंपर पुरो
की सहायतासे राज्य करनेवाले राजा लोग, अपने भाग्यसे पूर्णतया
होकर, एक प्रकारसे आदर्शहीन, पर चैनका जीवन व्यतीत करने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

उन दिनों देशमें कोई बड़ी चर्चा थी, तो वैदिक यज्ञोंकी, उनमें दी जाने-वाली बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंकी और पुरोहितोंकी।[1]

ऐसे वातावरणमें पनपता हुआ रूढिमूलक वर्गवाद अन्ततोगत्वा न तो तत्तद् वर्गोंके लिए, न देशके लिए ही, हितकर सिद्ध होता है। यह सार्वत्रिक नियम है कि स्वच्छन्द-प्रवाह नदी-जलकी अपेक्षा सर्वतः रुका हुआ तालाबका जल गन्दा हो ही जाता है। उसमें वह जीवनी शक्ति ही नहीं रहती जो नदी-जलमें होती है। दूसरे, जीवनमें खुली प्रतियोगिताकी भावनाके न रहनेपर मनुष्यको आगे बढ़नेकी प्रेरणा ही नहीं मिलती।

इसलिए रूढिमूलक वर्णव्यवस्था वास्तवमे याज्ञिकोंके लिए भी हितकर सिद्ध नहीं हो सकती थी। इसके कारण उनमें भी आलस्य, बुद्धि-मान्द्य आदि दोषोंका आ जाना स्वाभाविक था, जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं। ऋग्वेद-संहितामें ही एक जगह कहा है--

"मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवः" (ऋग्० ८।९२।३०)

यह मन्त्र 'अथर्ववेद' (२०।६०।३) में भी आया है। इसका अर्थ है कि 'हे इन्द्र ! तुम एक याज्ञिक ब्राह्मणकी तरह आलसी न हो जाओ।'

एक दूसरे मन्त्रमें बिना अर्थ-ज्ञानके वेदके मन्त्रोंका पाठ-मात्र करने-वालोंके विषयमें कहा है—

अधेन्वा चरति माययैष
वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्।
(ऋग्० १०।७१।५)

अर्थात्, पुष्प-फल-रूपी अर्थके बिना जो केवल शब्दमात्रसे (वेद-मन्त्र-रूपी) वाणीको पढ़ता है वह मानो दूध न देनेवाली कृत्रिम गौके साथ घूमता-फिरता है।

आगे चलकर वेदाभ्यास जडता या मन्दताका प्रतीक ही माना जाने

---

१. देखिए—'ऐतरेय-ब्राह्मण' (८।२०–२३)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

लगा था। तभी तो महाकवि कालिदासने अपने 'विक्रमोर्वशीय-नाटक' (त्रोटक) (१।१०) में प्रजापतिको भी 'वेदाभ्यासजडः' कहनेका साहस किया है![1]

रूढिमूलक वर्गवादसे जो सबसे बड़ी हानि देशको हुई वह विभिन्न वर्णोंमें पृथक्त्व-भावनाके बढ़ानेकी थी।

वैदिक धाराके इतिहासमें एक समय था जब कि समस्त आर्यजाति एकताकी भावनासे अनुप्राणित थी। उसके विस्तार और राजनीतिक

---

१. इसी सम्बन्धमें वेदको बिना समझे रटनेवाले वैदिकको 'मन्द-प्रज्ञ' और 'अविपश्चित्' कहनेवाले इस प्रसिद्ध पद्यको भी देखिए—

"श्रोत्रियस्येव ते राजन्मन्दकस्याविपश्चितः। अनुवाकहता बुद्धिः तत्त्वार्थदर्शिनी॥" (महाभारत, शान्तिपर्व १०।१)। कुछ पाठ-भेदसे यही पद्य 'महाभारत', उद्योगपर्व (१३२।६) में भी आया है।

इसी प्रसंगमें 'भागवत' (६।३।२५) का यह वचन भी देखने योग्य है—"त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः" यहाँ भी वेदाभ्यासी याज्ञिकको स्पष्टतः 'जडीकृतमति' कहा गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पुराणोंके रचयिता, जीवन-प्रद वैदिक धाराके ह्रासके साथ-साथ रूढिमूलक वर्णव्यवस्थाके बद्धमूल होनेपर, वैदिक धाराके वाहक पुरोहित वर्गके ऊपर जो उसका स्वतः दुष्प्रभाव पड़ा था उससे, अच्छी तरह परिचित ही नहीं, अत्यन्त खिन्न थे; इसीलिए पुराणोंमें यत्र-तत्र, किसी-न-किसी शापके मिससे, या अन्यथा, पुरोहित-वर्गके अधःपतनका अत्यन्त विषाद-जनक वर्णन मिलता है।

उदाहरणार्थ इस प्रसंगमें 'देवीभागवत' (१२।९) में गौतम ऋषि द्वारा 'ब्राह्मणों' को दिये गये, अथवा 'श्रीमद्भागवत' (४।२।२०-२१) में नन्दीश्वर-द्वारा 'ब्राह्मणों' को ही दिये गये अत्यन्त भयंकर शाप देखिए। 'देवीभागवत' के शाप तो इतने वीभत्स हैं कि उनको लिखते भी संकोच होता है।

इसी प्रसंगमें महाभारत, अनुशासनपर्व (३५।१३-१६) भी देखिए।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

उत्कर्षका मुख्य आधार उसी एकतापर था। उसके पश्चात् जब वर्ण-भेद-की प्रवृत्तिका प्रारम्भ हुआ उस समय भी, परम्परागत एकजातित्वकी भावनाके कारण, परस्पर घनिष्ठ अङ्गाङ्गि-भावके आदर्शको ही वर्ण-व्यव-स्थाका आधार समझा जाता था। इसी कारणसे वैदिक मन्त्रोंमें समस्त समाज और शूद्रोंसहित सब वर्णोंके प्रति ममत्व-बुद्धि और हित-भावनाका वर्णन मिलता है, जैसा कि हम परिच्छेद ९ में दिखला चुके हैं।

परन्तु यह स्थिति चिरकाल तक नहीं रही। वर्ण-भेदकी प्रवृत्तिमें रूढि-मूलकता बढ़नेके साथ-साथ विभिन्न वर्णोंमें पृथक्त्व-भावनाके बढ़ानेका प्रयत्न स्पष्ट दिखाई देता है।

उदाहरणार्थ, गृह्य-सूत्रोंके उपनयन-प्रकरणके अध्ययनसे स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ प्राचीन गृह्यसूत्रोंमें विभिन्न वर्णोंके ब्रह्मचारियोंके लिए मेखला, दण्ड, वस्त्र आदिका कोई भेद प्रायः नहीं रखा गया है, वहाँ नवीन गृह्य-सूत्रोंमें वर्ण-भेदसे विभिन्न मेखला आदिका विधान पाया जाता है।

अन्य क्षेत्रोंमें भी यही प्रवृत्ति बराबर बढ़ती हुई दिखाई देती है।

इस प्रवृत्तिका सबसे अधिक खेदजनक प्रभाव शूद्र और आर्यके परस्पर सम्बन्धपर पड़ा। परिच्छेद ९ में हम दिखला चुके हैं कि चारों वेदोंमें शूद्र-के प्रति अन्याय्य अथवा कठोर दृष्टि कहीं नहीं पायी जाती। यही नहीं, वेद-मन्त्रोंमें तो अन्य वर्णोंके समान शूद्रके प्रति भी सद्भावना और ममत्व-का वातावरण स्पष्ट दिखाई देता है।

परन्तु वर्ण-भेदमें रूढि-मूलकताके बढ़ जानेपर उक्त स्थितिमें मौलिक परिवर्तन दिखाई देने लगता है। उदाहरणार्थ, 'गौतमधर्मसूत्र' के निम्न-लिखित वचनोंको देखिए—

> अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्र-प्रतिपूरण-
> मुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः।
>
> (गौ० ध० सू० २।३।४)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अर्थात्, वेदके सुननेपर शूद्रके कानोंमें राँगा या लाख भरवा दे चाहिए, वेदके उच्चारण करनेपर जिह्वा कटवा देनी चाहिए, और क्र करनेपर शरीर (=हाथ) को कटवा देना चाहिए।

पिछले वैदिक कालमें शूद्रके प्रति कठोर दृष्टिका यह केवल एक उ हरण है। 'मनुस्मृति' आदिमें इसी प्रकारकी अशोभन दृष्टिके अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।

हमारी समझमें शूद्रोंके प्रति दृष्टिके इस महान् परिवर्तनका आ वर्ण-भेदकी बढ़ती हुई रूढि-मूलकताकी प्रवृत्तिपर ही हो सकता है। में बढ़ती हुई पृथक्त्व-भावनाका चरम उत्कर्ष इसीमें हो सकता था।

आर्यजातिकी मौलिक एकजातीयताकी स्पृहणीय भावनाके मुकाबि पिछली खेदजनक पृथक्त्व-भावनाके लिए तनिक 'शतपथ-ब्राह्मण' के नि लिखित उद्धरणको देखिए –

"अथेतराः पृथङ् नानायजुर्भिरुपदधाति विशं
तत्क्षत्रादवीर्यतरां करोति पृथग्वादिनीं नानाचेतसम्"।

(शत० ब्रा० ८।७।२।

अर्थात्, चयनमें वह दूसरी इष्टकाओंको पृथक्-पृथक् यजुर्वेदके मन्त्र रखता है, जिससे क्षत्रकी अपेक्षा पृथक्-पृथक् अर्थात् अनैक्यसे बोलनेवा और विभिन्न-चित्तवाली प्रजामें दुर्बलता रहे।

यहाँ प्रजाके विषयमें यह भावना कि उसमें किसी प्रकार एकता या एकचित्तता न आ सके और वह राजशक्तिके सामने दुर्बल ही रहे कि हीन और खेदजनक है!

जनताके प्रति उपेक्षा और तिरस्कारकी भावनाके ऐसे ही अनेकों उदाहरण[1] ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं।

---

१. तु० "अत्ता वै क्षत्रियः। अन्नं विट्।" (शत० ब्रा० ६।१।२।२५)। "अन्नं वै क्षत्रियस्य विट्" (श० ब्रा० ३।३।२।८)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

नैतिकताका ह्रास

सातवें परिच्छेदमें हम बतला चुके हैं कि कोई भी धार्मिक कर्मकाण्ड मनुष्यकी तद्विषयक स्वाभाविक प्रवृत्तिसे प्रारम्भ होकर प्रायेण धीरे-धीरे बढ़ता हुआ पुरोहित-वर्गके एकाधिकारकी वस्तु बन जाता है। यह अवस्था अन्तमें पुरोहित-वर्ग और जनता दोनोंके लिए हानिकर सिद्ध होती है। इससे जहाँ एक ओर अकर्मण्यता, मूढ-ग्रह और अन्ध-विश्वासकी वृद्धि होती है, वहाँ दूसरी ओर व्यावसायिक और दूकानदारीकी अनियन्त्रित प्रवृत्तिके बढ़नेसे नैतिकताके प्रायः सर्वनाशकी स्थिति उपस्थित हो जाती है।

अत्यधिक बढ़ा हुआ याज्ञिक कर्मकाण्ड भी इस नियमका अपवाद नहीं हो सकता था, इसके लिए अनेक प्रमाण हमको प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलते हैं। उन्हींमें-से कुछ प्रमाणोंको यहाँ देना हम उचित समझते हैं।

ऋत्विजोंकी व्यावसायिक प्रवृत्तिका उल्लेख 'ऋग्वेद' में ही इस प्रकार मिलता है—

तक्षा रिष्टं रुतं भिषग् ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छति।

(ऋग्० ९।११२।१)

अर्थात्, जैसे कारीगर (या मिस्तरी) टूटी हुई वस्तुके लिए, अथवा वैद्य बीमारीके लिए, इसी प्रकार ब्राह्मण ऋत्विज् सोम-याग करनेवालेके लिए इच्छुक रहता है।

ऋत्विज् किस प्रकार अपने ही यजमानका नाश कर सकता है या उसको हानि पहुँचा सकता है, इस विषयमें 'ऐतरेय-ब्राह्मण' से लिया गया नीचेका उद्धरण देखने योग्य है—

"यं कामयेत प्राणेनैनं व्यर्धयानीति वायव्यमस्य लुब्धं शंसेत्, ऋचं वा पदं वातीयात्। तेनैव तल्लुब्धम्। प्राणेनैवैनं तद् व्यर्धयति।....यं कामयेत चक्षुषैनं व्यर्धयानीति मैत्रावरुणमस्य लुब्धं शंसेत्, ऋचं वा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

पदं वातीयात् । तेनैव तल्लुब्धम् । चक्षुषैवैनं तद् व्यधयति ।" (तै० ब्रा० ३।३) ।

इस लम्बे प्रकरणमें विस्तारसे बतलाया है कि होता यदि चाहे तो अपने मन्त्रों (यहाँ 'प्रउग-शस्त्र') के पाठमें किसी प्रकारकी गड़बड़ करके यजमानको अनेक प्रकारकी हानि पहुँचा सकता है; यहाँतक कि उसको अन्धा कर सकता है या उसको मार भी सकता है ।

कर्मकाण्डके नैतिक पतनकी यह पराकाष्ठा है कि ऋत्विज् अपने यजमानको किसी भी प्रकारकी हानि पहुँचानेकी कामना करे !

ऋत्विजों-द्वारा यजमानोंको ठगने या लूटनेकी प्रवृत्तिका भी वर्णन 'ऐतरेय-ब्राह्मण' में ही इस प्रकार मिलता है –

"यथा ह वा इदं निषादा वा सेळगा वा पापकृतो वा वित्तवन्तं पुरुषमरण्ये गृहीत्वा कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति, एवमेव त ऋत्विजो यजमानं कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति यमनेवंविदो याजयन्ति । एतद् स्म वै तद्विद्वानाह जनमेजयः पारीक्षितः :– एवंविदं हि वै मामेवंविदो याजयन्ति तस्मादहं जयामि...."

(ऐत० ब्रा० ८।११)

अर्थात्, जैसे दुष्ट चोर या लुटेरे जंगलमें किसी धनवान् पुरुषको पकड़ कर उसे गढ़ेमें फेंककर उसका धन लेकर चम्पत हो जाते हैं; ऐसे ही ऋत्विज् उस यजमानको, जिसका वे यजन कराते हैं, गढ़ेमें ढकेलकर उसके धनको लेकर चम्पत हो जाते हैं । (इसीलिए) परीक्षित्के पुत्र जनमेजयने कहा था कि मैं स्वयं याज्ञिक कर्मकाण्डको जानता हूँ । विद्वान् ऋत्विज् ही मेरा यजन कराते हैं । इसी कारणसे मेरी जय होती है ।

अभिप्राय यह है कि यज्ञके वास्तविक स्वरूपको न जानकर जो ऋत्विज् कर्म कराते हैं वे वास्तवमें यजमानको लूटनेवाले लुटेरे होते हैं या लुटेरोंकी प्रवृत्ति उनमें आ जाती है ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

इसी प्रकार 'ऐतरेय-ब्राह्मण' (३।४६) में ही ऐसे ऋत्विजोंकी निन्दा की है जो लोभादि निम्न-प्रवृत्तियोंके वशीभूत होकर यज्ञ कराते हैं।[1]

'ऐतरेय-ब्राह्मण' उस समयका ग्रन्थ है जब कि याज्ञिक कर्मकाण्ड अपने पूरे उत्कर्षमें रहा होगा। उस समय भी उसमें काफ़ी अनैतिकताकी सम्भावना आ गयी थी, ऐसा ऊपरके उद्धरणोंमें स्पष्ट प्रतीत होता है। ऐसी दशामें उसके अपकर्षके दिनोंमें अनैतिकता किस सीमा तक पहुँची होगी, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है।[2]

वैदिक धाराका ह्रास और प्राचीन दृष्टि

प्रथम इसके कि हम प्रकृत विषयका उपसंहार करें यह उचित प्रतीत होता है कि वैदिक धाराके ह्रासकी परिस्थितिको थोड़ा-बहुत प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थोंके शब्दोंमें ही दिखला दिया जाये।

उपनिषदोंके निम्नलिखित प्रमाण निष्प्राण याज्ञिक क्रियाकलापसे उद्विग्नताको स्पष्टतया प्रकट करते हैं—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।

---

१. याज्ञिक कर्मकाण्डमें नैतिकताके ह्रासके कारण ही कहा जाने लगा था—
"अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
नाभिजानामि यद्यस्य सत्यस्यार्धमवाप्नुयात्॥"
(महाभारत, अनुशासनपर्व, २२। १४)।
श्लोकके उत्तरार्धका पाठान्तर है—
"अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते।"

२. पिछले कालमें याज्ञिकोंके नैतिक पतनके सम्बन्धमें संस्कृतज्ञ विद्वानोंमें प्रसिद्ध निम्नलिखित वचनको भी देखिए—
"महाश्चर्यं महाश्चर्यं यज्ञे कमठबन्धनम्!!
महामूर्खस्य यागोऽयं महिषीशतदक्षिणः।
तवार्धं च ममार्धं च मा विघ्नं कुरु पण्डित!"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-GI

एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥ (मुण्डकोपनिषद् १।२।
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥[१] (कठोपनिषद् १।२।

अर्थात्, ये आदर्शहीन जटिल यज्ञ-रूपी कर्म अदृढ नौकाके समान हैं अविवेकी लोग इनको ही जीवनका लक्ष्य बनाकर अपनी अन्ध-वासनाके भँवरमें ही पड़े रहते हैं और वास्तविक कल्याणको नहीं प्राप्त कर सकते मूढ लोग, अपनेको पण्डित और बुद्धिमान् समझते हुए, पर वास्तवमें अज्ञानवश आदर्शहीन याज्ञिक क्रिया-कलापमें फँसे हुए, आध्यत्मिक उन्नतिके सरल-सीधे मार्गमें अग्रसर नहीं हो पाते । वे मान, दम्भ, मोहके टेढ़े मार्गमें ही फँसकर अपने जीवनको नष्ट करते हैं । उनकी दशा वास्तवमें अन्धेके पीछे चलनेवाले अन्धोंके समान ही होती है ।

शुष्क आदर्श-हीन याज्ञिक कर्मकाण्डको ही लक्ष्यमें रखकर, वेदोंके कर्मवैदिक यज्ञोंको करने-करानेवालोंके विषयमें कहे गये, 'भगवद्गीता'के कुछ वचन नीचे दिये जाते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥
(गीता २।४२, ४३, ४६

२. यह पद्य 'मुण्डकोपनिषद्' (१।२।८) में भी कुछ पाठ-भेदसे आया है। इस प्रसंगमें 'मुण्डकोपनिषद्' (१।२।९-१०) भी देखिए ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥

(गीता १६।१७)

अर्थात्, वैदिक वादोंमें विश्वास रखनेवाले अविद्वान् लोग ही, विभिन्न कामनाओंसे प्रेरित होकर, भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिए, जटिल याज्ञिक क्रिया-कलापके साथ, बिना समझे हुए, केवल सुननेमें रमणीय वैदिक मन्त्रोंका पाठ करते हैं। सर्वतः जलके उपलब्ध होनेपर छोटे-से जलाशय आदिकी जैसी उपयोगिता होती है, वैसी ही उपयोगिता तात्त्विक दृष्टि रखनेवाले विद्वान्के लिए सब वेदोंकी है। अपनेको बड़ा माननेवाले, विनयसे रहित और धन-मानके मदसे युक्त अज्ञानी लोग, दम्भके साथ, अविधिपूर्वक नाम-मात्रके वैदिक यज्ञोंको किया करते हैं।

अन्तमें, 'श्रीमद्भागवत'से वैदिक याज्ञिकोंकी तात्कालिक दुरवस्था और अनैतिकताका वर्णन करनेवाले कुछ अंशोंको देकर हम इस विषयको समाप्त करते हैं—

.....मुह्यन्त्याम्नायवादिनः ॥
कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः ।
रजसा घोरसंकल्पाः कामुका अहिमन्यवः ।
दाम्भिका मानिनः पापाः.....॥
वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो
गृहेषु मैथुन्यपरेषु चाशिषः ।
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं
वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशून्नतद्विदः ॥

(भाग० ११।५।५-८)

अर्थात्, याज्ञिक कर्मकाण्डको करनेवाले वैदिक लोग मूढावस्थामें पड़े हुए होते हैं। अभिमानी, मूर्ख अपनेको पण्डित समझनेवाले वे कर्मकाण्डके तत्त्वको नही जानते। वे कामी, सर्पके समान क्रोधी, दम्भी, मानी और पापी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

होते हैं। रजो-गुणी होनेके कारण उनके संकल्प क्रूर होते हैं। वे एक-दूसरेकी स्त्रियोंका सेवन करते हुए, उन्हीं घरोंमें आशीर्वाद मन्त्रोंका पाठ करते हैं जो दुश्चरित्रमें रत होते हैं। शास्त्रकी दृष्टि उचित-अनुचितका विचार छोड़कर वे केवल आजीविकाकी दृष्टिसे कराते हैं और हिंसाकी परवा न करके यज्ञोंमें पशुओंकी बलि देते हैं।[1]

'श्रीमद्भागवत' के ही एक दूसरे प्रकरणमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भक्ति ज्ञान आदिके स्वाभीष्ट मार्गोंकी व्याख्याके प्रसंगमें, याज्ञिक-कर्मकाण्डकी दुरवस्थाको दिखाते हुए कहते हैं—

हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः॥
रजःसत्त्वतमोनिष्ठा रजःसत्त्वतमोजुषः।
उपासत इन्द्रमुख्यान् देवादीन् न तथैव माम्॥
इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि।
तस्यान्त इह भूयास्म महाशाला महाकुलाः॥
एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम्।
मानिनां चातिस्तब्धानां मद्वार्तापि न रोचते॥
(भाग० ११।२१।३०, ३२-३१)

अर्थात्, खल लोग अपने सुखकी इच्छासे प्रेरित होकर यज्ञोंमें बलि दिये हुए पशुओंकी हिंसामें विहार करते हैं।[2] वे उक्त प्रकारके हिंसाका

---

१. तु० महाभारत, अनुशासनपर्व (११५।४७–६०)।

२. तु० "इज्यायज्ञश्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधमः। हन्याज्जन्तून् मांसगृध्नुः स नरकभाङ् नरः॥ (महाभारत, अनुशासन-पर्व, ११५।४७)। याज्ञिक कर्मकाण्डमें पशुओंकी बलिके प्रसंग ब्राह्मण-ग्रन्थों और श्रौतसूत्रोंमें भरे पड़े हैं। सवनीय पशुके अवयवोंको ऋत्विजोंमें बाँटनेके विधानका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। महाभारत (वनपर्व, २०८।८-१०) में राजा रन्तिदेवके सत्रमें प्रतिदिन सहस्रों पशुओंकी बलि दी जानेकी कथा प्रसिद्ध है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

यज्ञोंसे देवताओंका तथा पित्रादिका यजन करते हैं। रजस् सत्त्व और तमस्में आस्था रखनेवाले वे इन्द्र आदि देवोंकी उपासना करते हैं, भगवान्-की नहीं। 'इस जन्ममें यज्ञों-द्वारा देवताओंका यजन करके हम स्वर्गमें जाकर रमण करेंगे, और तदनन्तर पुनः इस लोकमें बड़े कुलोंमें जन्म लेकर ऐश्वर्यका उपभोग करेंगे'—इस प्रकारकी आपाततः रमणीय बातोंसे जिनके चित्त चंचल हैं ऐसे अभिमानी तथा अतिस्तब्ध लोगोंको मेरी (=भगवान्के सम्बन्धकी) बात भी नहीं रुचती।

ऊपरके वचनोंपर किसी प्रकारकी टीका-टिप्पणीकी आवश्यकता नहीं है। आदर्श-हीन शुष्क याज्ञिक कर्मकाण्डके कारण लोगोंकी वेदोंमें अनास्थाका और समान्य रूपसे याज्ञिकोंकी खेद-जनक अनैतिकताके साथ-साथ निन्द-नीय व्यावसायिक बुद्धिका इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है!

वैदिक धाराके ही क्यों, किसी भी सांस्कृतिक धाराके ह्रासके लिए ऐसे कारण पर्याप्त होते हैं।

उपसंहार

जो कुछ ऊपर कहा है उससे स्पष्ट है कि वैदिक धाराके ह्रासका मुख्य कारण अत्यधिक जटिलता और विस्तारको पहुँचा हुआ उसका आदर्शहीन शुष्क कर्मकाण्ड ही था। आर्यजातिमें रूढि-मूलक वर्गवादकी प्रवृत्तिके

यहाँ जो प्रमाण हमने दिये हैं उनसे यह स्पष्ट है कि याज्ञिक लोग प्रायः मांसाहारके प्रलोभनसे यज्ञोंमें प्रवृत्त होते थे। साथ ही, महाभारत-जैसे ग्रन्थोंमें यह सिद्ध करनेका भी प्रयत्न किया गया है कि प्रारम्भमें वैदिक यज्ञोंमें पशु-बलि बिलकुल नहीं होती थी, पीछेसे ही मांसाहारियोंने उसे प्रचलित किया (दे० महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० ११५ तथा शान्तिपर्व, ३४०।८२–८३)। इन सब बातोंसे यह स्पष्ट है कि वैदिक यज्ञोंकी बढ़ती हुई पशु-हिंसाकी प्रवृत्ति भी वैदिक धाराके ह्रासमें एक प्रमुख कारण थी।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

लानेमें और उसको दृढ़ करनेमें भी उक्त कर्मकाण्डका विशेष हाथ
इसीके कारण, जहाँ एक ओर विभिन्न वर्णोंमें पृथक्त्व-भावनाकी वृद्धि
वहाँ दूसरी ओर शूद्रोंके प्रति कठोर और अशोभन दृष्टिका सूत्रपात हुआ
इसीने विशेष रूपसे रूढिमूलक पुरोहित-वर्गको जन्म दिया, जिसकी
बढ़ती हुई व्यावसायिक बुद्धि और अनैतिकताने वैदिक धाराकी ह्रासोन्मुख
को और भी बढ़ा दिया। आदर्शहीन याज्ञिक कर्मकाण्ड और नैतिक
भावनासे शून्यप्राय ऋत्विजोंके कारण वेदोंके अर्थज्ञान-पुरस्सर अध्ययन
ध्यापनकी परम्परा और उनकी उदात्त भावनाओंका वातावरण दोनों
प्राय हो गये।

यह समय ऐसा था जब कि जनताको कोई धार्मिक प्रेरणा और
प्रद सन्देश कहींसे भी मिलना प्रायः बन्द हो गया था, और वैदिक धारा
प्रवाह अत्यन्त मन्द पड़ गया था।

धार्मिक और नैतिक वातावरणकी यही महान् शून्यता अथवा रिक्त
वास्तवमें औपनिषद तथा जैन-बौद्धादि धाराओंके अगले आन्दोलनों
जननी हुई।

प्रकृतिका नियम है कि वातावरणके निस्तब्ध हो जानेपर ही
आती है।

वैदिक धाराके ह्रासकी कहानी हम यहीं समाप्त करते हैं। यह
हृदय-विदारक है, इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं है। पर यह
इसमें भी सन्देह नहीं है। इसको मानना ही पड़ेगा; इसको माने
तो हम भारतीय संस्कृतिकी अगली प्रगतिको समझ सकते हैं, न
धाराओंके उदयको।

हमारा कर्तव्य

वैदिक धाराका ह्रास एक ऐतिहासिक सत्य है। पर इसका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

नहीं है कि वेद और वैदिक वाङ्मयका महत्त्व अभिनव भारतके लिए नहीं है।

यह हमारा परम सौभाग्य है कि वे अब भी सुरक्षित हैं। उनकी हमने अक्षम्य महान् उपेक्षा की है, सहस्रों वर्षोंसे। पर अब समय आ गया है जब कि आवश्यकता है उनके वास्तविक अनुशीलन और स्वाध्यायकी; किसी संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टिसे नहीं, किन्तु अत्यन्त उदार मानवीय भावनासे।

वेद हमारे राष्ट्रकी अमूल्य शाश्वत निधि तो हैं ही, पर अपनी अद्वितीय उदात्त भावनाओं और अमूल्य जीवन-सन्देशके कारण उनका सार्वकालिक और सार्वभौम महत्त्व भी है। इसका गर्व और गौरव प्रत्येक भारतीयको होना चाहिए।

यह सदा स्मरण रखनेकी बात है कि वेदोंके विषयमें संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टि न केवल उनके महत्त्वको घटाती है, अपितु उनको दूसरी सांस्कृतिक धाराओंके साथ प्रतिस्पर्धाके बहुत निम्न धरातलपर भी ले जाती है।

संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टिके दोषोंकी विशेष व्याख्या हम पहले ही (परिच्छेद १-४ में) कर चुके हैं। उनको यहाँ दोहरानेकी आवश्यकता नहीं है।

अन्तमें हम यही कहना चाहते हैं –

"मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे॥ (अथर्व० ६।१०८।२)

अर्थात्, ऋषियों-द्वारा संस्तुत, ब्रह्मचारियोंसे सेवित, वैदिक मन्त्रोंको प्रकाशमें लानेवाली, वेदमय प्रथम मेधाका हम आवाहन करते हैं जिससे समस्त दैवी शक्तियोंका सान्निध्य और संरक्षण हमको मिल सके!

इसका अर्थ यही है कि वह दिव्य मेधा, जिसने ऋषियों-द्वारा वैदिक धाराको प्रवाहित किया था, जिसने भारतीय संस्कृतिके उषः-कालमें विश्वमें

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

व्याप्त उस मौलिक तत्त्वका साक्षात्कार किया था जिसको दिव्य निर्दे
का वैदिक देवताओंके रूपमें मन्त्रोंमें गान किया गया है, और जिसने
प्रकाशमय आनन्दमय लोकोंसे लाकर मानव-जीवनके लिए दिव्य सन्दे
श्रुति-मधुर पवित्र शब्दोंमें सुनाया था, भारतीय संस्कृतिके अमृत-
रूपमें अब भी वैदिक मन्त्रोंमें सुरक्षित है।

शुष्क आदर्श-हीन याज्ञिक कर्मकाण्डके रूपमें वैदिक धाराके छोड़े
जानेपर भी, वह स्वयं अजर और अमर है। हमारा परम कर्तव्य है
हम परम-तीर्थ-रूप उस अमृत-स्रोत तक पहुँचकर, उसमें अवगाहन
उसकी दिव्य पवित्रता और संजीवनी शक्तिका स्वयं अनुभव करें;
भारतीय संस्कृतिके लिए उसकी व्यापक देनकी वेलका, जो उस
प्रवाहसे विच्छिन्न होकर सूख रही है, उस अमृत-स्रोतसे पुनः
स्थापित कर, उसको फिरसे उज्जीवित और हरा-भरा करें; जिससे
भारतके लिए वह पुनः फूले और फले और साथ ही अपने सौरभ
प्रसादसे विश्वको प्रसन्नता, सन्तोष और शान्ति प्रदान कर सके।
स्वयं कहा है –

> यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
> ब्रह्मराजन्याभ्याᳬ शूद्राय चार्याय च स्वाय
> चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातु-
> रिह भूयासम्। अयं मे कामः समृध्यताम्।
> उप मादो नमतु। (यजु० २६।२)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

बारहवाँ परिच्छेद

वैदिक धाराका अमृत-स्रोत

पिछले परिच्छेदमें 'वैदिक धाराके ह्रास' को दिखलाते हुए हमने कहा है कि वैदिक धाराको प्रवाहित करनेवाले ऋषियोंकी दिव्य मेधा भारतीय संस्कृतिके अमृत-स्रोतके रूपमें अब भी वैदिक मन्त्रोंमें सुरक्षित है।

उसी अमृत-स्रोतका धारावाहिक दिग्दर्शन, वैदिक मन्त्रोंके ही शब्दोंमें, हम नीचे कराना चाहते हैं, जिससे स्फूर्ति, शान्ति तथा आनन्दको देनेवाले उसके पवित्रताधायक प्रभावका साक्षात् अनुभव पाठक स्वयं कर सकें।

मौलिक प्रश्न

कस्मै देवाय हविषा विधेम ? (ऋग्० १०।१२१।५)

हम किस देवकी स्तुति और उपासना करें ?

उत्तर

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(ऋग्० १०।१२१।५)

जिस दैवी शक्तिने इस विशाल द्युलोकको, इस पृथिवीको, स्वर्लोक और नाक-लोकको अपने-अपने स्वरूपमें स्थिर कर रखा है और जो अन्तरिक्ष-लोकमें भी व्याप्त हो रही है उसको छोड़कर हम किस देवकी

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

स्तुति और उपासना कर सकते हैं ? अर्थात्, हमको उसी महा रूपिणी देवताकी पूजा करनी चाहिए ।

मूलतत्त्वका स्वरूप

स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु । (यजु० ३२।८)

वह मूल-तत्त्व सारे विश्वमें ओत-प्रोत है और सब प्राणियोंमें अन्तर्यामी रूपसे कार्य कर रहा है ।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः ।

(यजु० ३२।३)

उसका यश सर्वत्र फैला हुआ है । उसकी प्रतिमा या उपमान नहीं हो सकता ।

सब देवता उसीकी विभूति हैं

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्य-
ग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः । (ऋग्० १।१६४।४६)

एक ही मूल तत्त्वको विद्वान् अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि अनेक नामोंसे कहते हैं ।

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।

(ऋग्० १०।११४।५)

एक ही सर्व-व्यापक तत्त्वको विद्वान् कवि शब्दों-द्वारा अनेक रूपोंमें कल्पित कर लेते हैं ।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

(यजु० ३२।१)

उसी मूलतत्त्वको अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र (= तेजस्, प्रकाश), ब्रह्म, अप् (= जल) और प्रजापति कहा जाता है । अथवा,

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अग्नि आदि सब उसीकी विभूतियाँ हैं।[1]

उस परम देवकी महिमा

महीरस्य प्रणीतयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः।
नास्य क्षीयन्त ऊतयः॥ (ऋग्० ६।४५।३)

परमैश्वर्यशाली भगवान्‌की लीला या चरित्रोंकी कोई सीमा नहीं है। इस अनन्तानन्त विश्वप्रपंचके निर्माताके संख्यातीत गुणोंका गान कौन कर सकता है? हमारा कल्याण इसीमें है कि हमको सदा यह विश्वास रहे कि भगवान् सबके रक्षक हैं। इस सारे विश्वकी रचनाका एकमात्र उद्देश्य हमारा कल्याण ही है।[2]

---

१. तु० "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।" (गीता ७।६-९)

तथा,

"यतो भूतानि जायन्ते यत्र तेषां लयो मतः।
यदाश्रयेण तिष्ठन्ति तत्त्वं तन्नित्यमव्ययम्॥
सत्यं ब्रह्म परं धाम कर्म 'धर्म्मं' प्रजापतिः।
शक्तिर्माता शिवो विष्णु राम ओंकार एव च॥
प्रेमेत्यादि पदं मूलतत्त्ववाचि न संशयः।
तदेव तत्त्वं गीतायामहंशब्देन कथ्यते॥"
(रश्मिमाला ६०।१, १५–१६)

२. तु० "विश्वमेतद्यया शक्त्या धार्यते पाल्यते तथा।
नूनं सा प्रथमा बुद्धिश्चेतना चैव मन्यताम्॥
तया सहेतुकं विश्वमाब्रह्माण्डं व्यवस्थितम्।
चाल्यते हितभावेन तामेवाहं समाश्रये॥"
(रश्मिमाला ६६।१-२)

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
(यजु० ३१।१८)

सर्वत्र ओत-प्रोत वह महान् देवाधिदेव सूर्यके समान अपने तेजो रूपको सर्वत्र फैलाये हुए भी हमारे अज्ञानान्धकारके कारण हमसे तिरो है। उसको जानकर ही मनुष्य मृत्यु अथवा अपूर्णताकी भावनाको अतिक्र कर सकता है। अमृतत्व अथवा विशाल जीवनकी प्राप्तिका कोई दू मार्ग नहीं है।

आदर्श प्रार्थना

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥ (यजु० ३।३५)

हम सब सवितृ-देवके उस प्रसिद्ध वरणीय तेजोमय स्वरूपका ध्या करते हैं जो हम सबकी बुद्धियोंको प्रेरणा प्रदान करे!

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे॥ (अथर्व० ६।१०८।

ऋषियों-द्वारा संस्तुत, ब्रह्मचारियोंसे सेवित, ज्ञानका प्रकाश क वाली और स्वयं ज्ञानमय उस श्रेष्ठ मेधा-शक्तिका हम आह्वान करते जिससे समस्त दैवी शक्तियोंका सान्निध्य और संरक्षण हमको प्रा हो सके!

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु (यजु० ३४।१)

मेरे मनके संकल्प शुभ और कल्याणमय हों!

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव॥ (यजु० ३०।३)

हे देव सवितः! समस्त दुर्गुणोंको हमसे दूर कीजिए, और जो कल्याणप्रद है उसे हमें प्राप्त कराइए।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा ।
मा सुचरिते भज । (यजु० ४।२८)

हे प्रकाशस्वरूप अग्निदेव ! मुझे दुश्चरितसे बचाकर सुचरितमें दृढ़तया स्थापित कीजिए ।

भद्रं नो अपि वातय मनः (ऋग्० १०।२०।१)

भगवन् ! ऐसी प्रेरणा कीजिए जिससे हमारा मन भद्र-मार्गका ही अनुसरण करे ।

भद्रं भद्रं न आ भर (ऋग्० ८।९३।२८)

भगवान् ! हमें बराबर भद्रकी प्राप्ति कराइए ।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
(यजु० २५।२१)

हे यजनीय देवगण ! हम कानोंसे भद्रको ही सुनें और आँखोंसे भद्रको ही देखें ।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽ-
दब्धासो अपरीतास उद्भिदः । (यजु० २५।१४)

हमें ऐसे शुभ संकल्प प्राप्त हों जो सर्वथा अविचल हों, जिनको साधारण मनुष्य नहीं समझते और जो हमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जीवनकी ओर ले जानेवाले हों ।

जीवनकी दार्शनिक दृष्टि

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
(यजु० ४०।२)

मनुष्यको चाहिए कि वह अपने कर्तव्य कर्मोंको करता हुआ ही पूर्ण आयुपर्यन्त जीनेकी इच्छा करे । उसका कल्याण इसीमें है; कर्तव्य कर्मको

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

छोड़कर भागनेमें नहीं। कर्म-बन्धनसे बचनेका यही उपाय है।[1]

ईशा वास्यमिद ँ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
(यजु० ४०।१)

सारे विश्वमें अन्तर्यामी भगवान् व्याप्त हैं। कर्म करनेपर ईश्वरकृ
जो भी फल प्राप्त हो उसका तुम उपभोग करो। जो दूसरेको प्राप्त
उसपर अपना मन मत चलाओ।[2]

सः.....याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः
समाभ्यः। (यजु० ४०।८)

हमारे जीवनके ईश्वर-प्रदत्त पदार्थोंमें सदा ही योग्यता और औचि
का आधार होता है।

अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्।
(यजु० ३६।२४)

हम सौ वर्ष तक और सौ वर्षसे भी अधिक काल तक अदीन होकर
रहें! अर्थात्, हम जीवनके महत्त्वको समझें और दीनताके भावसे अपनेको
दूर रखते हुए सदा उन्नति-पथपर आगे बढ़ते रहें।

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः (ऋग्० ४।३३।११)

जो श्रम नहीं करता उसके साथ देवता मित्रता नहीं करते।

याद्दृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत् (ऋग्० ५।४४।८)

मनुष्य अपने ध्येयको श्रम और तपसे ही प्राप्त कर सकता है।

---

१. तु० "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भू
सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥" (गीता २।४७)

२. तु० "कर्म कृत्वा ततस्तस्य फलप्राप्तावनुत्सुकः। प्रसन्नश्च निरुद्वेगः
आसीत पण्डितः॥ प्रभौ कर्मफलन्यासस्तस्मै फलसमर्पणम्। शरणा
रप्येषा भक्तानां परिभाषया॥ (रश्मिमाला १७।४-५)

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अस्ति रत्नमनागसः (ऋग्० ८।६७।७)

निष्पाप मनुष्यके लिए निधिरूप अमूल्य रत्न स्वयं उपस्थित हो जाते हैं।[1]

जीवनका लक्ष्य

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ (यजु० २०।२१)

अज्ञानरूपी अन्धकारसे उत्तरोत्तर प्रकाशकी ओर बढ़ते हुए हम, देवताओंमें सूर्यके समान, उत्तम ज्योति अर्थात् सर्वोत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त करें।[2]

लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधि।
(ऋग्० ९।११३।९)

भगवन्! मुझे उस पूर्णताकी अवस्थाको प्राप्त कराइए, जहाँ केवल प्रकाश-ही-प्रकाश है।

परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु (अथर्व० १८।३।६२)

भगवन्! अपूर्ण जीवनकी अवस्थासे हमें पूर्णताके जीवनको प्राप्त कराइए।

उदायुषा स्वायुषोदस्थाम् (यजु० ४।२८)

हम उत्कृष्ट और शुभ जीवनके लिए उद्योगशील हों!

प्रतार्यायुः प्रतरं नवीयः (ऋग्० १०।५९।१)

भगवन्! हम नवीनसे नवीनतर और उत्कृष्टसे उत्कृष्टतर जीवनकी ओर बढ़ते रहें!

---

१. तु० "अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।" (योगसूत्र २।३७)

२. तु० "उत्तरोत्तरमुत्कर्षि जीवनं शाश्वतं हि नः। अस्पृष्टं तमसा चापि मोह-रूपेण सर्वथा॥" (रश्मिमाला २।७)

Rai Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

जीवन-संगीत

जीवेम शरदः शतम्। बुध्येम शरदः शतम्।
रोहेम शरदः शतम्। पूषेम शरदः शतम्।
भवेम शरदः शतम्। भूषेम शरदः शतम्।
भूयसीः शरदः शतात् ॥ (अथर्व० १९।६७।२-८)

हम सौ और सौसे भी अधिक वर्षों तक जीवन-यात्रा करें,
अपने ज्ञानको बराबर बढ़ाते रहें,
उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नतिको प्राप्त करते रहें,
पुष्टि और दृढताको प्राप्त करते रहें,
आनन्दमय जीवन व्यतीत करते रहें,
और समृद्धि, ऐश्वर्य तथा सद्गुणोंसे अपनेको भूषित करते रहें!

आदर्श-जीवन

कृधी न ऊर्ध्वान् चरथाय जीवसे (ऋग्० १।३६।१४)

भगवन्! जीवन-यात्रामें हमें समुन्नत कीजिए।

विश्वदानीं सुमनसः स्याम
पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्! (ऋग्० ६।५२।५)

हम सदा प्रसन्न-चित्त रहते हुए उदीयमान सूर्यको देखें! अर्थात् उल्लासके साथ जीवनके प्रत्येक दिनका स्वागत करें!

मदेम शतहिमाः सुवीराः (अथर्व० २०।६३।३)

हमारी सन्तानें वीर हों और हम अपने पूर्ण जीवनको प्रसन्नतापूर्वक ही व्यतीत करें!

यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत्। (यजु० १६।

हमारी जीवन-चर्या ऐसी हो जिससे यह सारा जगत् हमको व्याधिसे बचाकर प्रसन्नता देनेवाला हो!

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः मुद आसते।
....तत्र माममृतं कृधि ॥ (ऋग्० ९।११३।११)

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

भगवन् ! मुझे सदा आनन्द, मोद, प्रमोद और प्रसन्नताकी मनः-स्थितिमें रखिए ।

विश्वाहा वयं सुमनस्यमानाः (ऋग्० ३।७५।१८)

हम सदा ही अपनेको प्रसन्न रखें !

इन्द्र ! श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि
चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे ।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां
स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम् ॥

(ऋग्० २।२१।६)

इन्द्रदेव ! हमें श्रेष्ठ सम्पत्ति, शक्ति अथवा सामर्थ्यकी चेतना, सौभाग्य, धनकी समृद्धि, शारीरिक स्वास्थ्य और नीरोगता, वाणीका माधुर्य और जीवनका सौन्दर्य प्रदान कीजिए ।

व्रतका जीवन

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ (यजु०१।५)

व्रतपति अग्नि-देव ! आप शक्तियोंके एकमात्र केन्द्र हैं । जो शुभ संकल्पके साथ सत्य-मार्गपर चलना चाहते हैं, आप उनकी सहायता अवश्य करते हैं । मैं असत्यको छोड़कर सत्य-मार्गपर चलनेका व्रत ले रहा हूँ । आप मुझे इस व्रतके पालनकी सामर्थ्य दीजिए । मेरा व्रत सफल हो ।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

(यजु० १९।३०)

व्रताचरणसे ही मनुष्यको दीक्षा अर्थात् उन्नत जीवनकी योग्यता प्राप्त

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

होती है। दीक्षासे दक्षिणा अथवा प्रयत्नकी सफलता प्राप्त होती है, दक्षिणासे अपने जीवनके आदर्शोंमें श्रद्धा, और श्रद्धासे सत्यकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्त्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः
(अथर्व० ११।५।२४)

ब्रह्मचर्य-व्रतको धारण करनेवाला प्रकाशमान ब्रह्म (=समष्टि-ब्रह्म अथवा ज्ञान) को धारण करता है और उसमें समस्त देवता ओत-प्रोत होते हैं (अर्थात्, वह समस्त दैवी शक्तियोंसे प्रकाश और प्रेरणा को प्राप्त कर सकता है)।

ब्रह्मचारी····श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति। (अथर्व० ११।५।

ब्रह्मचारी तप और श्रमका जीवन व्यतीत करता हुआ समस्त राष्ट्र उत्थानमें सहायक होता है।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते। (अथर्व० ११।५।

आचार्य ब्रह्मचर्य-द्वारा ही ब्रह्मचारियोंको अपने शिक्षण और निरीक्षण में लेनेकी योग्यता और क्षमताको सम्पादन करता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। (अथर्व० ११।५।

ब्रह्मचर्यके तपसे ही राजा अपने राष्ट्रकी रक्षामें समर्थ होता है।

इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्। (अथर्व० ११।५।

संयत जीवनसे रहनेवाला मनुष्य ब्रह्मचर्य-द्वारा ही अपनी इन्द्रियोंको पुष्ट और कल्याणोन्मुख बनानेमें समर्थ होता है।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

ऋत और सत्यकी भावना[1]

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्
ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द
कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥
ऋतस्य दृब्हा धरुणानि सन्ति
पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि ।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष
ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः ॥

(ऋग्० ४।२३।८-९)

ऋत अनेक प्रकारकी सुख-शान्तिका स्रोत है;
ऋतकी भावना पापोंको विनष्ट करती है ।
मनुष्यको उद्बोधन और प्रकाश देनेवाली
ऋतकी कीर्ति वहिरे कानोंमें भी पहुँच चुकी है ।
ऋतकी जड़ें सुदृढ हैं;
विश्वके नाना रमणीय पदार्थोंमें ऋत मूर्तिमान् हो रहा है ।
ऋतके आधारपर ही अन्नादि खाद्य पदार्थोंकी कामना की जाती है;
ऋतके कारण ही सूर्य-रश्मियाँ जलमें प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती हैं ।

---

१. बाह्य जगत्की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमोंके अधीन चल रही है। परन्तु उन सारे नियमोंमें परस्पर-विरोध न होकर एकरूपता या ऐक्य विद्यमान है । इसीको ऋत कहते हैं । इसी प्रकार मनुष्यके जीवनके प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श हैं, उन सबका आधार सत्य है । अपने वास्तविक स्वरूपके प्रति सच्चा रहना, यही सत्य है, यही वास्तविक धर्म है ।

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥
(यजु० १९।७७)

सृष्टिकर्ता परमेश्वरने सत्य और असत्यके रूपोंको देखकर पृथक्-पृथक् कर दिया है। उनमें-से श्रद्धाकी पात्रता सत्यमें ही है, और अश्रद्धा अनृत या असत्यमें।

वाचः सत्यमशीय (यजु० ३९।४)

मैं अपनी वाणीमें सत्यको प्राप्त करूँ!

देवा देवैरवन्तु मा।....सत्येन सत्यम्....(यजु० २०।११-१२)

समस्त दैवी शक्तियाँ मेरी रक्षा करें और मुझे सत्यमें तत्पर रहनेकी शक्ति प्रदान करें!

सत्यं च मे श्रद्धा च मे...यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८।५)

यज्ञ-द्वारा मैं सत्य और श्रद्धाको प्राप्त करूँ!

सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतः। (ऋग्० १०।३७।१)

सत्य-भाषण-द्वारा मैं सब बुराइयोंसे अपनेको बचा सकूँ!

पवित्रताकी भावना

....देव सवितः....मां पुनीहि विश्वतः। (यजु० १९।४)

हे सवितृ-देव! मुझे सब प्रकारसे पवित्र कीजिए।

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्टतातये॥ (अथर्व० ६।१९।२)

पवित्रताधायक पवमान देव मुझे, बुद्धि, शक्ति, जीवन और निरापद आत्मरक्षाके उद्देश्यसे सब प्रकारसे (अर्थात् शरीर, मन और वाणीसे) पवित्र करें।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अहमिन्द्रो न पराजिग्ये (ऋग्० १०।४८।५)

मैं इन्द्र अर्थात् शक्तिका केन्द्र हूँ, मेरा पराजय नहीं हो सकता।

यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः।

(अथर्व० ६।५८।३)

सृष्टिके समस्त पदार्थोंमें मैं सबसे अधिक यशवाला हूँ। अर्थात् मनुष्य-का स्थान सृष्टिके समस्त पदार्थोंसे ऊँचा है।

पुरुषे ब्रह्म ये विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।

(अथर्व० १०।७।१७)

जो मनुष्यमें ब्रह्मके दर्शन करते हैं, वास्तवमें वे ही परमात्माको पहचानते हैं।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥

(अथर्व० १२।१।५४)

मैं स्वभावतः विजय-शील हूँ। पृथ्वीपर मेरा उत्कृष्ट पद है। मैं विरोधी शक्तियोंको परास्त कर, समस्त विघ्न-बाधाओंको दबाकर, प्रत्येक दिशामें सफलताको प्राप्त करनेवाला हूँ।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(यजु० ४०।३)

आत्मत्व या आत्म-चेतनाकी विस्मृति-रूप आत्महत्या (अर्थात्, जीवन-में आत्म-विश्वासकी भावनाका अभाव), न केवल व्यक्तियोंके लिए, किन्तु जातियों और राष्ट्रोंके लिए भी, किसी भी प्रकारकी प्रेरणासे विहीन अज्ञा-नान्धकारमें गिराकर सर्वनाशका हेतु होती है।

Rai Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

ओजस्वी जीवन

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि,
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि,
बलमसि बलं मयि धेहि,
ओजोऽस्योजो मयि धेहि,
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि,
सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ (यजु० १९।

मेरे आदर्श देव !
आप तेजः-स्वरूप हैं, मुझमें तेजको धारण कीजिए !
आप वीर्य-रूप हैं, मुझे वीर्यवान् कीजिए !
आप बल-रूप हैं, मुझे बलवान् बनाइए !
आप ओजः-स्वरूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइए !
आप मन्यु[1]-रूप हैं, मुझमें मन्युको धारण कीजिए !
आप सहः[2]-स्वरूप हैं, मुझे सहस्वान् कीजिए !

वीरता तथा निर्भयताकी भावना

मा त्वा परिपन्थिनो विदन् (यजु० ४।३४)

इस बातका ध्यान रखो कि तुम्हारी वास्तविक उन्नतिके बाधक तुमपर विजय प्राप्त न कर सकें ।

इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यतः ।
घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ॥ (अथर्व० ७।९३।१)

सत्कार्योंमें बाधक जो शत्रु हमपर आघात करें, हमको चाहिए कि वीरोचित क्रोध और पराक्रमके साथ हम उनका दमन करें और उन्हें विनष्ट कर दें !

---

१. मन्यु=अनौचित्यको देखकर होनेवाला क्रोध । २. सहस् =विरोधीपर विजय पानेमें समर्थ शक्ति और बल ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मम पुत्राः शत्रुहणः (ऋग्० १०।१५९।३)

मेरे पुत्र शत्रुका हनन करनेवाले हों !

सुवीरासो वयं····जयेम (ऋग्०९।६१।२३)

हमारे पुत्र सुवीर हों और उनके साथ हम शत्रुओंपर विजय प्राप्त करें !

मा भेः, मा संविक्थाः (यजु० १।२३)

तू न तो भयभीत हो, न उद्विग्नताको प्राप्त हो।

"यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥" (अथर्व० २।१५।१, ३)

जैसे द्युलोक और पृथिवी अपने-अपने कर्तव्यके पालनमें न तो डरते हैं, न कोई उनको हानि पहुँचा सकता है; इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू भी भयको न प्राप्त हो।

जैसे सूर्य और चन्द्रमा न तो भयको प्राप्त होते हैं, न कोई उनको हानि पहुँचा सकता है; इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू भी भयको न प्राप्त हो।

अहमस्मि सपत्नाहेन्द्र इवारिष्टो अक्षतः।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः॥
(ऋग्० १०।१६६।२)

मैं शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेवाला हूँ। इन्द्रके समान मुझे कोई न तो मार सकता है, न पीडित कर सकता है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे समस्त शत्रु यहाँ मेरे पैरों तले पड़े हुए हैं !

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः (ऋग्० १०।१२८।१)

मेरे लिए सब दिशाएँ झुक जायें। अर्थात्, प्रत्येक दिशामें मुझे सफलता प्राप्त हो !

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

शारीरिक स्वास्थ्य तथा दीर्घायुष्य

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि ।....
....यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण ॥ (यजु० ३।१७)

अग्ने ! तुम शरीरकी रक्षा करनेवाले हो, मेरे शरीरको पुष्ट कीजिए। तुम आयुको देनेवाले हो, मुझे पूर्ण आयु दीजिए । मेरे शारीरिक स्वास्थ्य जो भी न्यूनता हो उसे पूरा कर दीजिए ।

वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ।
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा....(अथर्व १९।६०।१-२)

मेरे समस्त अंग पूर्ण स्वस्थतासे अपना-अपना कार्य करें, यही मैं चाहता हूँ । मेरी वाणी, प्राण, आँख, और कान अपना-अपना काम कर सकें ! मेरे बाल काले रहें ! दाँतोंमें कोई रोग न हो । बाहुओंमें बहुत बल हो ! मेरी ऊरुओंमें ओज, जाँघोंमें वेग और पैरोंमें दृढता हो !

आयुर् यज्ञेन कल्पतां....प्राणो....अपानो....व्यानो....चक्षुर्....
श्रोत्रं....वाग्....मनो....आत्मा यज्ञेन कल्पतां स्वाहा....॥
(यजु०२२।३३)

प्राकृत जगत्में काम करनेवाली अग्नि, वायु आदि दैवी शक्तियोंके साथ सामंजस्यका जीवन (=यज्ञ) व्यतीत करते हुए मैं पूर्णायुष्यको प्राप्त कर सकूँ; मेरी प्राण, अपान आदि शक्तियाँ तथा चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य ठीक तरह कर सकें; और इस प्रकार मेरे व्यक्तित्व (=आत्मा) का पूर्ण विकास हो – यही मेरी आन्तरिक कामना है, यही मेरी हार्दिक अभिलाषा और प्रार्थना है !

अश्मा भवतु नस्तनूः (यजु० २९।४९)

हम चाहते हैं कि हमारा शरीर पत्थरके समान सुदृढ हो !

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि । (ऋग्० १०।३७।६)

हम कल्याण-मार्गपर चलते हुए वृद्धावस्थाको प्राप्त हों !

अहं सर्वमायुर्जीव्यासम् । (अथर्व० १९।७०।१)

मैं अपने जीवनमें पूर्ण आयुको प्राप्त करूँ !

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम् ।
शृणुयाम शरदः शतम् । प्र ब्रवाम शरदः शतम् ।
अदीनाः स्याम शरदः शतम् । भूयश्च शरदः शतात् ॥
(यजु० ३६।२४)

वह देखो ! इन्द्रियोंके स्वास्थ्यके निर्वाहक, सबके चक्षुःस्थानीय प्रकाशमय सूर्य भगवान् सामने उदित हो रहे हैं । उनसे स्वास्थ्यको प्राप्त करते हुए, हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवें, सौ वर्ष तक सुन सकें, सौ वर्ष तक बोल सकें, सौ वर्ष तक किसीके आश्रित न हों । और सौ वर्षके अनन्तर भी ।

स्वर्गीय पारिवारिक जीवन

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥
(अथर्व० ३।३०।१–३)

हे गृहस्थो ! तुम्हारे पारिवारिक जीवनमें परस्पर ऐक्य, सौहार्द और सद्भावना होनी चाहिए । द्वेषकी गन्ध भी न हो । तुम एक-दूसरेसे उसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

तरह प्रेम करो, जैसे गौ अपने तुरन्त जन्मे बछड़ेको प्यार करती है।

पुत्र अपने माता-पिताका आज्ञानुवर्ती और उनके साथ एक-मन होकर रहे ! पत्नी अपने पतिके प्रति मधुर और स्नेह-युक्त वाणीका ही व्यवहार करे !

भाई भाईके साथ और बहन बहनके साथ द्वेष न करे !

तुम्हें चाहिए कि एक-मन होकर समान आदर्शोंका अनुसरण करते हुए परस्पर स्नेह और प्रेमको बढ़ानेवाली वाणीका ही व्यवहार करो !

आदर्श सामाजिक जीवन

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ (ऋग्० १०।१९१।२)

हे मनुष्यो ! जैसे सनातनसे विद्यमान, दिव्य शक्तियोंसे सम्पन्न सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि देव परस्पर अविरोध भावसे, मानो प्रेमसे अपने-अपने कार्यको करते हैं; ऐसे ही तुम भी समष्टि-भावनासे प्रेरित होकर एक साथ कार्योंमें प्रवृत्त होओ, ऐकमत्यसे रहो और परस्पर सद्भावसे बरतो ।

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम् । (ऋग्० १०।१९१।३)

तुम्हारी मन्त्रणामें, समितियोंमें, विचारोंमें और चिन्तनमें समानता हो, सद्भावना हो, वैषम्य और दुर्भावना न हो ।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ (ऋग्० १०।१९१।४)

तुम्हारे अभिप्रायोंमें, तुम्हारे हृदयों (अथवा भावनाओं) में और तुम्हारे मनोंमें एकताकी भावना रहनी चाहिए, जिससे तुम्हारी सांघिक और सामुदायिक शक्तिका विकास हो सके ।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

राजनीतिक आदर्श

विशि राजा प्रतिष्ठितः (यजु० २०।९)

राजाकी स्थिति प्रजापर ही निर्भर होती है।

त्वां विशो वृणतां राज्याय (अथर्व० ३।४।२)

हे राजन् ! प्रजाओं-द्वारा तुम राज्यके लिए चुने जाओ।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु (अथर्व० ४।८।४)

हे राजन् ! तुम्हारे लिए यह आवश्यक है कि समस्त प्रजाएँ तुमको चाहती हों।

ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह (अथर्व० ६।८८।३)

हे राजन् ! राज्यमें तुम्हारी अविचल स्थिति समिति अर्थात् लोक-सभापर ही निर्भर है।

मानवीय कल्याणकी भावना

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ (यजु० ३६।१८)

मैं, मनुष्य क्या, सब प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखूँ ! हम सब परस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखें !

प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये (अथर्व० १९।६२।१)

सबके लिए हित और कल्याणकी बात सोचो, चाहे शूद्र हो चाहे आर्य।

पुनान् पुमांसं परि पातु विश्वतः (ऋग्० ६।७५।१४)

एक-दूसरेकी सर्वथा रक्षा और सहायता करना मनुष्योंका प्रथम कर्तव्य है।

याँश्च पश्यामि याँश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि। (अथर्व० १७।१।७)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

भगवन् ! ऐसी कृपा कीजिए जिससे मैं मनुष्यमात्रके प्रति, चाहे उनको जानता हूँ अथवा नहीं, सद्भावना रख सकूँ ।

तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः । (अथर्व० ३।३०।४)

आओ हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्योंमें परस्पर सुमति और सद्भावनाका विस्तार हो !

विश्व-शान्तिकी भावना

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथ्वी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः ।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्ति-
र्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्ति-
रेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि (यजु० ३६।१७)

द्युलोक, अन्तरिक्ष-लोक और पृथिवी-लोक सुख-शान्ति-दायक हों; जल, ओषधियाँ और वनस्पतियाँ शान्ति देनेवाली हों; समस्त देवता, ब्रह्म और सब कुछ शान्तिप्रद हों ! जो शान्ति विश्वमें सर्वत्र फैली हुई है, वह मुझे प्राप्त हो । मैं बराबर शान्तिका अनुभव करूँ !

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु
शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु । (ऋग्० ७।३५।८)

अत्यन्त विस्तृत तेजसे युक्त सूर्यका उदय हम सबके लिए शान्ति-दायक हो ! चारों दिशाएँ हमारे लिए शान्ति देनेवाली हों !

शं नो वातः पवताꣳ शं नस्तपतु सूर्यः ।
शं नः कनिक्रदद् देवः पर्जन्यो अभि वर्षतु ॥ (यजु० ३६।१०)

वायु हमारे लिए सुखरूप होकर चले ! सूर्य हमारे लिए सुखमय होकर तपे ! अत्यन्त गरजनेवाले पर्जन्य-देव भी हमारे लिए सुखरूप होकर अच्छी तरह बरसें !

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

तेरहवाँ परिच्छेद

वैदिक धाराकी सूक्ति-मंजरी

इस परिच्छेदमें हम वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मणग्रन्थोंसे चुनी हुई विशिष्ट सूक्तियोंका दिग्दर्शन कराना चाहते हैं। मनुष्य और मनुष्य-जीवनके विभिन्न पक्षों या पहलुओंपर बहुमूल्य, गम्भीर अनुभवसे पूर्ण तथा उपयोगी विचारोंको बतलानेवाली इन सूक्तियोंका महत्त्व स्पष्ट है।

प्रायः प्रत्येक सूक्ति बहुमूल्य रत्नके समान है। प्रत्येक सूक्तिपर एक व्याख्यात्मक अच्छा निबन्ध लिखा जा सकता है।

यह भावना चिरकालसे चली आ रही है कि वैदिक वाङ्मयमें प्रायः यज्ञादिका ही वर्णन है। पिछले परिच्छेदोंमें हम दिखला चुके हैं कि वैदिक मन्त्र अद्वितीय उदात्त भावनाओं और अमूल्य तथा शाश्वत जीवन-सन्देशोंसे परिपूर्ण हैं। इस परिच्छेदसे यह स्पष्ट हो जायेगा कि वैदिक वाङ्मयमें ऐसे विचार भी पुष्कल मात्रामें पाये जाते हैं, जिनका व्यावहारिक दृष्टिसे बड़ा मूल्य है।

इस परिच्छेदके दो भाग हैं। प्रथम भाग (वैदिक सूक्ति-मंजरी) में वैदिक संहिताओंसे, और द्वितीय भाग (ब्राह्मणीय सूक्ति-मंजरी) में ब्राह्मण-ग्रन्थोंसे कुछ विशिष्ट सूक्तियाँ संगृहीत हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

वैदिक सूक्ति-मंजरी

ऋग्वेद-संहिता

पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न विदस्यन्त्यूतयः। (१।११।३)

परमात्माकी देनकी इयत्ता नहीं हो सकती। उनकी रक्षामें क्षीणता नहीं आती।

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम् (१।२३।१९)

जलोंमें अमृतका वास है। वे औषध-स्वरूप हैं।

आपश्च विश्वभेषजीः (१।२३।२०)

जलोंमें सब औषध रहते हैं।

सविता····अपामीवां बाधते (१।३५।९)

सूर्य बीमारीको भगाता है।

विश्वं चिदायुर्जीवसे (१।३७।१५)

आयु-भर मनुष्यको जीवनकी स्फूर्तिका अनुभव करना चाहिए।

न दुरुक्ताय स्पृहयेत् (१।४१।९)

अपशब्द बोलनेकी प्रवृत्तिसे बचना चाहिए।

न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते (१।५३।१)

धन देनेवालोंके प्रति दुःस्तुति करना ठीक नहीं।

विश्वस्मा उग्रः कर्मणे पुरोहितः (१।५५।३)

ओजस्वी मनुष्य ही सब कार्योंमें नेतृत्व करनेकी योग्यता रखता है।

नभो न रूपं जरिमा मिनाति (१।७१।१०)

मेघके समान वृद्धावस्था रूपको बिगाड़ देती है।

सत्यं तातान सूर्यः (१।१०५।१२)

सूर्य सत्यको ही विस्तारित करता है। अर्थात्, सत्य और प्रकाश समानता है।

पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धः (१।१६४।१६)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgap

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

जिसके आँख है, जो ज्ञानी है, वही देखता है, अन्धा अथवा अज्ञानी नहीं देखता।

बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश (१।१६४।३२)

अधिक सन्तानवाला घोर कष्टोंका अनुभव करता है।

माता पृथिवी महीयम् (१।१६४।३३)

यह विस्तृत पृथिवी हमारी माता है।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति (१।१६४।४६)

एक ही मूल तत्त्वको विद्वान् लोग अनेक प्रकारसे कहते हैं।

अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यम् (१।१७०।१)

दूसरेके चित्तका कोई ठिकाना नहीं। वह चंचल होता है।

मिनाति श्रियं जरिमा तनूनाम् (१।१७९।१)

बुढ़ापा शरीरकी शोभाको बिगाड़ देता है।

न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवाः (१।१७९।३)

यह ठीक ही है कि देवता उसीकी सहायता करते हैं जो श्रम करता है।

पुलुकामो हि मर्त्यः (१।१७९।५)

मनुष्य स्वभावसे ही बहुत कामनाओंवाला होता है।

नकिरस्य तानि व्रता देवस्य सवितुर्मिनन्ति। (२।३८।७)

सवितृ-देवके नियमोंको कोई नहीं तोड़ सकता।

पुरुद्रुहो हि क्षितयो जनानाम् (३।१८।१)

मनुष्योंके विभिन्न वर्गोंमें अनेक प्रकारके विरोध या संघर्ष रहते ही हैं।

जायेदस्तम् (३।५३।४)

स्त्रीका ही नाम घर है।

नावाजिनं वाजिना हासयन्ति
न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति। (३।५३।२३)

घोड़ेके साथ घोड़ेकी ही प्रतियोगिता करायी जाती है, घोड़ेसे भिन्नकी नहीं। गदहेको घोड़ेके आगे स्थान नहीं दिया जाता।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति (४।२३।८)

प्रकृति अथवा सृष्टिके नियमोंके परिज्ञानसे बुराइयाँ नष्ट हो जाती हैं।

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः (४।३३।११)

जो श्रम नहीं करता उसके साथ देवगण मित्रता नहीं करते।

यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत् (५।४४।८)

मनुष्य जिस-किसी लक्ष्यमें मन लगाता है उसे श्रमसे प्राप्त कर लेता है।

य उ स्वयं वहते सो अरं करत् (५।४४।८)

अपने मनसे ही कामको करनेवाला उसे ठीक तरह करता है।

अनुब्रुवाणो अध्येति, न स्वपन् (५।४४।१३)

अभ्याससे ही मनुष्य सीखता है, न कि सोते हुए।

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।

(४।४४।१४)

जो जागता है उसीको ऋचाएँ चाहती हैं। सामवेदके मन्त्र भी उसीके पास आते हैं।

विद्वान् पथः पुरएता ऋजु नेषति (५।४६।१)

समझदार नेता ही ठीक रास्तेसे ले जाता है।

पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः (६।७५।१४)

मनुष्यको मनुष्यकी सब प्रकारसे सहायता करनी चाहिए।

नहि स्वमायुश्चिकिते जनेषु (७।२३।२)

मनुष्योंमें कोई अपनी आयु अथवा जीवन-कालको नहीं जानता।

तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीराः (७।३१।११)

समझदार लोग परमेश्वरके नियमोंका उल्लंघन नहीं करते।

न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु (७।३२।२१)

किसीकी अनुचित अथवा मिथ्या स्तुतिसे मनुष्य धन नहीं पाता।

न स्रेधन्तं रयिर्नशत् (७।३२।२१)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

दूसरोंसे झगड़ा करनेवाला मनुष्य धनको नहीं पाता।

चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति (७।६०।७)

ज्ञानी मनुष्य ही अज्ञानियोंको मार्ग दिखाते हैं।

स्त्रिया अशास्यं मनः (८।३३।१७)

स्त्रीका मन अशास्य होता है।

मा नो निद्रा ईषत मोत जल्पिः। (८।४८।१४)

प्रमाद अथवा आलस्यके वश होकर तथा जनप्रवादके कारण हमको अपने कर्तव्य-मार्गसे च्युत न होना चाहिए।

अस्ति रत्नमनागसः। (८।६७।७)

निष्पाप मनुष्यके लिए निधिरूप अमूल्य रत्न स्वयं उपस्थित हो जाते हैं।

ऋतस्य शृङ्गमुर्विया वि पप्रथे (८।८६।५)

सृष्टिके नियमोंकी सत्ता सर्वत्र फैली हुई है।

त्वमस्माकं तव स्मसि (८।९२।३२)

भगवन्! तुम हमारे हो, हम तुम्हारे हैं।

मज्जन्त्यविचेतसः (९।६४।२१)

अज्ञानी ही डूबा करते हैं।

ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः (९।७३।६)

दुष्कर्मी लोग सत्यके मार्गपर नहीं चल सकते।

नानानं वा उ नो धियो, वि व्रतानि जनानाम्।

(९।११२।१)

नाना प्रकारके विचार हमारे मनमें आते रहते हैं। और मनुष्य नाना प्रकारके काम करते हैं।

तक्षा रिष्टं रुतं भिषग् ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छति।

(९।११२।१)

मिस्तरी टूटी हुई वस्तुके लिए, वैद्य रोगीके लिए और ब्राह्मण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

(ऋत्विज्) सोम-याग करनेवाले अर्थात् पूजार्थीके लिए इच्छुक रहता है। अर्थात्, इन सबकी दृष्टि स्वार्थमयी होती है।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व । (१०।३४।१३)

जुआ मत खेलो। खेती करो।

सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतः (१०।३७।२)

सत्य वचन-द्वारा ही मैं सब ओरसे अपनी रक्षा कर सकता हूँ।

सत्येनोत्तभिता भूमिः (१०।८५।१)

पृथ्वी सत्यसे ठहरी हुई है।

न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति (१०।९५।१५)

स्त्रियोंके साथ स्थायी मित्रता नहीं होती।

न स सखा यो न ददाति सख्ये (१०।११७।४)

वह मित्र नहीं है जो मित्रकी सहायता नहीं करता।

केवलाघो भवति केवलादी (१०।११७।६)

जो अकेला खाता है वह केवल पापमय होता है।

सं गच्छध्वं सं वदध्वम् (१०।१९१।२)

अयि मनुष्यो ! तुम सब मिलकर चलो और मिलकर बोलो।

शुक्लयजुर्वेद-संहिता

उर्वन्तरिक्षमन्वेमि (१।७)

मैं अपनी उन्नतिके लिए विस्तृत क्षेत्र चाहता हूँ। अर्थात्, उन्नतिके लिए विस्तृत क्षेत्रकी आवश्यकता होती है।

धूर्वं धूर्वन्तं, धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति। (१।८)

मारते हुएको मारो, जो अकारण हमपर आघात करना चाहता है उसको नष्ट कर दो।

मा भेः, मा संविक्थाः। (१।२३)

न डरो, न उद्विग्नताको प्राप्त होओ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः (२।१०)

हम आशावादी बनें ! हमारी आशाएँ सफल हों !

ऋतस्य पथा प्रेत (७।४५)

प्राकृत नियमोंके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करो ।

अनाधृष्टाः सीदत सहौजसः (१०।४)

संघटित होकर रहनेसे तुम्हें कोई धमका न सकेगा ।

यो अस्मभ्यमरातीयाद् यश्च नो द्वेषते जनः ।
निन्दाद् यो अस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं भस्मसा कुरु ॥ (११।८०)

जो कोई हमारे साथ अकारण शत्रुता करता है, जो कोई हमारे लोगोंसे द्वेष करता है, जो कोई हमारी निन्दा करता है और हमारे प्राण लेना चाहता है, उसको मिट्टीमें मिला दो ।

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः (२३।४८)

सूर्यके समान ही वेद अथवा ज्ञान-विज्ञानका भी प्रकाश है ।

आशिक्षायै प्रश्निनम् । उपशिक्षाया अभिप्रश्निनम् । (३०।१०)

यह समझ लो कि जो प्रश्न करता है वही किसी विषयको जान सकता है; समीक्षक ही किसी पदार्थको ठीक-ठीक समझ सकता है ।

भूत्यै जागरणम् । अभूत्यै स्वपनम् । (३०।१७)

स्मरण रखो कि जागनेसे उन्नति होती है और सोनेसे अवनति ।

प्रियाय प्रियवादिनम् । (३०।१३)

अपने प्रियके लिए प्रिय-मधुर बोलनेवालेको ही नियुक्त करो ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् (४०।१७)

सत्यका मुख सुवर्ण-जैसी चमकीली वस्तुओंसे छिपा हुआ रहता है ।

सामवेद-संहिता

देवस्य पश्य काव्यम् (पू० ४।४।३)

तुम प्रकृति-देवीके सौन्दर्यको जो मूर्त-रूपमें भगवान्‌का काव्य है देखो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

और उससे प्रसन्नताको प्राप्त करो।

सदा गावः शुचयो विश्वधायसः (पू० ५।६।६)

गौएँ सदा पवित्र और सबका कल्याण करनेवाली होती हैं।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (पू० ६।१४।३)

सूर्य जड तथा चेतन जगत्की आत्मा है।

जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविः (उ० ३।१।६)

जागरूक व्यक्ति ही जनताकी रक्षा कर सकता है।

अथर्ववेद-संहिता

सं श्रुतेन गमेमहि। मा श्रुतेन वि राधिषि। (१।१।४)

हम ज्ञानको प्राप्त करें! मैं ज्ञानसे विमुख न होऊँ!

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपो विश्वस्य भेषजीः॥ (३।७।५)

जल निश्चय ही औषध-रूप हैं। जल रोगोंको भगानेवाले हैं। जल सबको स्वास्थ्य देनेवाले हैं।

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर। (३।२४।५)

सैकड़ों हाथोंसे उपार्जित करो और सहस्रों हाथोंसे वितरण करो।

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः।
(६।२३।३)

मनुष्योंको चाहिए कि वे ईश्वरकी आज्ञा अथवा पूजाके रूपमें अपने कर्मोंको करें।

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि (७।८।१)

तुम भद्रसे भद्रतर जीवनको प्राप्त करो।

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः (७।५२।८)

मेरे दाहिने हाथमें कर्म अर्थात् पुरुषार्थ है और बाँये हाथमें विजय अर्थात् सफलता रखी हुई है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

उद्यानं ते पुरुष नावयानम् (८।१।६)

अयि मनुष्य ! यह तेरी जीवन-यात्रा तेरी उन्नतिके लिए है, अवनतिके लिए नहीं ।

सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते (८।४।१२)

सत्य-वचन और असत्य-वचनमें स्पर्धा रहती है । वे एक साथ नहीं रह सकते ।

सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति । (९।७।८)

जिसके अन्नको दूसरे खाते हैं, उसके पाप नष्ट हो जाते हैं ।

सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति । (९।७।९)

जिसके अन्नको दूसरे नहीं खाते, उसके पाप बने रहते हैं ।

कीर्तिं च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति । (९।८।५)

जो घरमें आये हुए अतिथिसे पहले भोजन करता है वह मानो अपने घरकी कीर्ति और यशको समाप्त कर देता है ।

अशितवत्यतिथावश्नीयात् (९।८।८)

घरमें आये हुए अतिथिके भोजन कर लेनेपर ही भोजन करना चाहिए ।

पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः (१०।८।१४)

आँखसे सब देखते हैं, पर विचारशक्ति (वस्तु-परीक्षणशक्ति) सबमें नहीं होती ।

तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः (१०।८।४४)

उस परमदेवको जाननेवाला मृत्युसे नहीं डरता ।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः । (१२।१।१२)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

भूमि मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ।

मा प्र गाम पथो वयम् (१३।१।५९)

हम कभी सन्मार्गसे विचलित न हों !

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते
देवानां स्पश इह ये चरन्ति। (१८।१।९)

दैवी शक्तियोंके गुप्तचर जो यहाँ घूमते-फिरते हैं न तो कभी अपने कार्यसे विरत होते हैं, न उनकी आँखें झपकती हैं।

परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु (१८।३।६२)

हमसे मृत्यु हट जाय और अमृतत्व हमको प्राप्त हो !

प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये। (१९।६२।१)

सबको भलाईका ही चिन्तन करो, चाहे शूद्र हो चाहे आर्य।

ब्राह्मणीय सूक्ति-मञ्जरी

ऐतरेय-ब्राह्मण

कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे (ऐत० ब्रा० २।२)

हे अग्निदेव ! हमें उद्योगशील जीवनके लिए समुन्नत कीजिए।

परिमितं वै भूतम्। अपरिमितं भव्यम्। (ऐत० ब्रा० ४।६)

भूत (= जो हो चुका है) परिमित और भविष्य अपरिमित होता है।

भद्रादभि श्रेयः प्रेहि (ऐत० ब्रा० १।१३)

तुम भद्रसे भद्रतर जीवनको प्राप्त करो।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

इन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्य (रोहितम्) उवाच—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित ! शुश्रुम ।
पापो नृषद् वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा ॥१॥

चरैवेति ।....

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः ।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ॥२॥

चरैवेति ।...

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥३॥

चरैवेति ।...

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥४॥

चरैवेति ।....

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम् ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ॥५॥

चरैवेति ।....

(ऐत० ब्रा० ७।१५)

श्रम-संगीत

इन्द्रने पुरुष-रूपमें आकर रोहितसे कहा—

हे रोहित ! सुनते हैं कि जो श्रमसे श्रान्त नहीं है, उसको श्री प्राप्त नहीं होती । भला मनुष्य भी जो बैठा रहता है निकम्मा समझा जाता है । इन्द्र उसीकी सहायता करता है जो श्रमशील है । इसलिए बराबर श्रम करते रहो ॥१॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

श्रमशील पुरुषकी जाँघें स्फूर्तिके पुष्पोंसे पुष्पित होती हैं और उसके पुष्ट शरीरमें स्वास्थ्यका फल लगता है। उसके सारे पाप श्रमसे मानो मारे हुए निश्चेष्ट पड़े रहते हैं। इसलिए बराबर श्रम करते रहो ॥२॥

बैठे हुएका सौभाग्य बैठा रहता है, खड़े हुएका खड़ा हो जाता है। पड़े रहनेवालेका सौभाग्य सोता रहता है और चलनेवालेका सौभाग्य चलने लगता है। इसलिए बराबर श्रम करते रहो ॥३॥

जो सो रहा है वह कलि है, निद्रासे उठ बैठनेवाला द्वापर है। उठकर खड़ा हो जानेवाला त्रेता है, पर श्रम करनेवाला कृतयुग बन जाता है। इसलिए बराबर श्रम करते रहो ॥४॥

श्रमशील मनुष्य ही मधु अर्थात् जीवनके माधुर्यको पाता है, वही स्वादिष्ट फलका आस्वाद लेता है। सूर्यके श्रमको देखो, जो सदा चलता ही रहता है, कभी आलस्य नहीं करता। इसलिए बराबर श्रम करते रहो ॥५॥

वहति ह वै वह्निर्धुरो यासु युज्यते। (ऐत० ब्रा० ६।१८)

कर्मशील व्यक्ति जिस काममें भी लगा दिया जाता है उसको पूरा करके छोड़ता है।

सं वै गुरुर्भारः शृणाति (ऐत० ब्रा० ४।१३)

अपनी शक्तिसे अधिक भार उठानेसे मनुष्यको हानि ही होती है।

यः सकृत्पातकं कुर्यात् कुर्यादेनत्ततोऽपरम्।

(ऐत० ब्रा० ७।१०)

जिसने एक बार पाप किया, वह दूसरे पापमें प्रवृत्त होता है।

श्रद्धा पत्नी सत्यं यजमानः। श्रद्धा सत्यं तदिव्युत्तमं मिथुनम्।
श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गाँल्लोकान् जयतीति।

(ऐत० ब्रा० ७।१०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

जीवन-यज्ञमें, श्रद्धा मानो पत्नी है और सत्य यजमान है। श्रद्धा (भावनामूलक) और सत्य (बुद्धिमूलक) की उत्तम जोड़ी है। श्रद्धा और सत्यकी जोड़ीसे मनुष्य दिव्य लोकोंको (=वास्तविक कल्याणको) प्राप्त करता है।[1]

अशनाया वै पाप्मामतिः (ऐत ब्रा० २।२)

भूख (=पेटका न भरना) ही सब पापों और बुद्धि-भ्रंशकी जड़ है।

यस्यैवेह भूयिष्ठमन्नं भवति स एव भूयिष्ठं लोके विराजति।
(ऐत० ब्रा० १।५)

जिसके पास अधिक अन्न होता है, संसारमें वही अत्यधिक महत्त्वको पाता है।

यो वै भवति यः श्रेष्ठतामश्नुते तस्य वाचं प्रोदितामनु प्रवदन्ति।
(ऐत० ब्रा० २।१५)

जो सत्ता और श्रेष्ठताको पा लेता है उसकी कही हुई बातका सब अनुसरण करते हैं।

शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदातिथ्यम्। (ऐत० ब्रा० १।२५)

अतिथि-सत्कारको यज्ञका प्रमुख अंग समझना चाहिए।

राष्ट्राणि वै विशः (ऐत० ब्रा० ८।२६)

प्रजाएँ अर्थात् जनता ही राष्ट्रको बनाती है।

ब्रह्म च क्षत्रं च संश्रिते। (ऐत० ब्रा० ३।११)

ब्रह्म (=ज्ञानशक्ति) और क्षत्र (=सैन्यशक्ति) परस्पराश्रित होते हैं।

ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितम्। क्षत्रे ब्रह्म।
(ऐत० ब्रा० ८।२)

---

१. 'रश्मि-माला' में बुद्धि और भावनाके सम्बन्धपर २२वाँ प्रकरण देखिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

ब्रह्ममें क्षत्रकी स्थिति होती है और क्षत्रमें ब्रह्मकी ।

यजमानो वै यज्ञः (ऐत० ब्रा० १।२८)

यजमानका स्वरूप ही यज्ञमें प्रतिफलित होता है ।

आ त्वेव श्रद्धायै होतव्यम् (ऐत० ब्रा० ५।२७)

हवन-यज्ञकी वास्तविकता श्रद्धामें ही होती है ।

मनसा वै यज्ञस्तायते मनसा क्रियते । (ऐत० ब्रा० ३।११)

ज्ञान-पुरस्सर ही यज्ञ किया जाता है ।

एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति ।

(ऐत० ब्रा० १।४)

याज्ञिक कर्मकी सम्पन्नता या पूर्णरूपता इसीमें है कि उसमें जो मन्त्र प्रयुक्त होते हैं वे वास्तवमें उस कामको बतलाते भी हैं जो यज्ञमें किया जाता है ।

यद् यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम् । (ऐत० ब्रा० १।१६)

मन्त्र और कर्मकी अनुरूपतामें ही यज्ञकी सम्पन्नता निहित होती है।

यत्र क्व च यजमानवशो भवति, कल्पत एव यज्ञोऽपि ।
तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् यजमानो वशी यजते ।

(ऐत० ब्रा० ३।१३)

यज्ञमें तभीतक वास्तविकता रहती है जबतक वह विद्वान् यजमानके अधीनतामें रहता है । उसी दशामें वह जनताका हित सम्पादन करता है।

यथा ह वा इदं निषादा वा सेळगा वा पापकृतो वा वित्तवन्तं पुरुषमरण्ये गृहीत्वा कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति, एवमेव त ऋत्विजो यजमानं कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति यमनेवंविदो याजयन्ति ।

(ऐत० ब्रा० ८।११)

जैसे दुष्ट चोर और डाकू लोग जंगलमें किसी धनी यात्रीको पकड़कर उसे मार-पीटकर गढ़ेमें फेंककर उसका धन लेकर चम्पत हो जाते हैं,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

इसी प्रकार मूर्ख ऋत्विज् लोग जिस यजमानका यज्ञ कराते हैं उसको मानो मार-पीटकर गढ़ेमें फेंककर उसके धनको उड़ाकर चले जाते हैं।

सर्वस्य वै गावः प्रेमाणं सर्वस्य चारुतां गताः।

(ऐ० ब्रा० ४।१७)

गौओंको देखकर सबके हृदयमें प्रेम उमड़ आता है और वे सबको सुन्दर प्रतीत होती हैं।

कौषीतकि-ब्राह्मण

ज्योतिर्वै जागरितम्। तमः पाप्मा रात्रिः।

(कौ० ब्रा० १७।९)

प्रकाशको जागरणका और अन्धकार तथा पापको रात्रिका स्थानीय अथवा प्रतीक समझना चाहिए।

शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदातिथ्यम्।

(कौ० ब्रा० ८।१)

अतिथि-सत्कारको श्रेष्ठ यज्ञ समझना चाहिए।

योऽनूचानः श्रोत्रियः····आत्मा वै स यज्ञस्य।

(कौ० ब्रा० ८।३)

यथावद् वेदका विद्वान् ही यज्ञका आत्मा होता है।

सत्यमया उ देवाः (कौ० ब्रा० २।८)

देवता सत्यस्वरूप ही होते हैं।

अग्निर्वै देवानां मुखम् (कौ० ब्रा० ३।६)

अग्नि ही दैवी शक्तियोंका मुख-स्थानीय है।

शतपथ-ब्राह्मण

यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति।

(श० ब्रा० १।१।१।५)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

जो मनुष्य इस प्रकार सत्यके महत्त्वको समझता हुआ सत्य-भाषण करता है, उसको मूर्त्तिमान् यश ही समझना चाहिए।

मध्यमभयम् (श० ब्रा० १।१।२।२३)

मध्यम मार्गके अवलम्बनमें कोई भय नहीं होता।

एते वा उत्पवितारो यत्सूर्यस्य रश्मयः।

(श० ब्रा० १।१।३।६)

ये सूर्यकी रश्मियाँ निश्चित रूपसे गन्दगीको नष्ट करके पवित्र करने-वाली हैं।

अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता (श० ब्रा० १।२।१।६)

अग्नि हानिकारक जन्तुओंको नष्ट कर देता है।

संग्रामो वै क्रूरम्। संग्रामे हि क्रूरं क्रियते।

(श० ब्रा० १।२।५।१९)

संग्रामको क्रूरताका रूप समझना चाहिए; क्योंकि संग्राममें क्रूर कर्म किया जाता है।

यां वै कां च यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा।

(श० ब्रा० १।३।१।२६)

यज्ञमें ऋत्विज् जो कुछ कामना करते हैं वास्तवमें वह यजमानके लिए ही होती है।

सत्यं वै चक्षुः। (श० ब्रा० १।३।१।२७)

अन्ततोगत्वा प्रत्यक्ष-दर्शनमें ही सत्यका पर्यवसान होता है।

तद्धि समृद्धं यत्रात्ता कनीयान्, आद्यो भूयान्।

(श० ब्रा० १।३।२।१२)

खानेवाले कम हों और खाद्य पदार्थ अधिक हो, यही समृद्धिका रूप है।

वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति (श० ब्रा० १।३।२।१६)

वाणीसे ही यह सब-कुछ होता है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

सर्वं वा इदमेति च प्रेति च। (श० ब्रा० १।४।१।६)

क्रिया और प्रतिक्रिया इस जगत्में स्वभावसे सर्वत्र देखी जाती है। अथवा, आना और जाना सबके साथ लगा है।

वाग्वै मनसो ह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव मनः।
परिमिततरेव हि वाक्। (श० ब्रा० १।४।४।७)

मनसे वाणी कहीं छोटी है। दोनोंमें मन अपरिमिततर और वाणी परिमिततर प्रतीत होती है।

एते वै ब्राह्मणा यज्ञस्य प्रावितारो येऽनूचानाः।
एते ह्येतं तन्वते। एत एनं जनयन्ति।
(श० ब्रा० १।५।१।१२)

विधिवत् जिन्होंने वेदका अध्ययन किया है ऐसे ही ब्राह्मण यज्ञकी रक्षा करते हैं। वे ही यज्ञका विस्तार करते हैं। वे ही यज्ञको उत्पन्न करते हैं।

मनसा वा इदं सर्वमाप्तम् (श० ब्रा० १।७।४।२२)

यह सब कुछ मनसे प्राप्त है। अर्थात् मनकी गतिके अन्दर है।

मत्स्य एव मत्स्यं गिलति (श० ब्रा० १।८।१।३)

मत्स्यको मत्स्य ही निगल जाता है।

एते वै यज्ञमवन्ति ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽ-
नूचानाः। एते ह्येनं तन्वते। एत एनं जनयन्ति।
(श० ब्रा० १।८।१।२८)

जिन्होंने विधिवत् वेदको सुना है और उसका अध्ययन किया है, ऐसे ही ब्राह्मण यज्ञके स्वरूपकी रक्षा करते हैं। वे ही यज्ञको विस्तारित और उत्पन्न करते हैं।

न श्वःश्वमुपासीत। को हि मनुष्यस्य श्वो वेद।
(श० ब्रा० २।१।३।९)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

'कल करूँगा, कल करूँगा' ऐसी बात न करनी चाहिए। मनुष्यको कलको कौन जानता है ?

अद्धा हि तद् यद् भूतम्।....अनद्धा हि तद् यद् भविष्यद्। (श० ब्रा० २।३।१।२५)

जो हो चुका है वह निश्चित है। जो होनेवाला है वह अनिश्चित है।

अद्धा हि तद् यज्जातम्।....अनद्धा हि तद् यज् जनिष्यमाणम्। (श० ब्रा० २।३।१।२६)

जो हो चुका है वह निश्चित है। जो उत्पन्न होनेवाला है वह अनिश्चित है।

अद्धा हि तद् यदद्य। अनद्धा हि तद् यच्छ्वः।

(श० ब्रा० २।३।१।२८)

जो आज है वह निश्चित है, जो कल होगा वह अनिश्चित है।

यद्वै सत्येन हूयते तद्देवान् गच्छति। (श० ब्रा० २।३।१।३०)

सत्य-भावनासे जो हवन किया जाता है वही देवताओंको पहुँचता है।

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् (श० ब्रा० २।५।१।१)

सब प्राणियोंमें मनुष्य सृष्टिकर्ता परमेश्वरके अत्यन्त समीप है।

भूमा वै रायस्पोषः। श्रीर्वै भूमा। (श० ब्रा० ३।१।१।१२)

समृद्धि, धनकी पुष्टि और लक्ष्मी, इनका एक ही अभिप्राय है।

अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति। तेन पूतिरन्तरतः।

(श० ब्रा० ३।१।२।१०)

मनुष्य अपवित्र है, क्योंकि झूठ बोलता है। इसीसे उसके अन्दरसे दुर्गन्ध निकलती है।

सुवासा एव बुभूषेत्।....अप्यश्लीलं सुवाससं दिदृक्षन्ते। (श० ब्रा० ३।१।२।१६)

मनुष्यको अच्छे वस्त्रोंको ही धारण करना चाहिए। कुरूप मनुष्यको भी, जो अच्छे वस्त्र पहने हुए है, सब कोई देखना चाहते हैं।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य । (श० ब्रा० ३।१।३।२८)

यज्ञका जन्म अग्निसे ही होता है ।

पुरुषो यज्ञः । पुरुषसंमितो यज्ञः । (श० ब्रा० ३।१।४।२३)

मनुष्य ही यज्ञ है । यज्ञका स्वरूप मनुष्यपर निर्भर होता है ।

मनसा वा इयं वाग्धृता । मनो वा इदं पुरस्ताद्वाचः ।
(श० ब्रा० ३।२।४।११)

वाणीको मन पकड़े रहता है । वाणीसे मन पहले आता है ।

मनसा च वै वाचा च यज्ञं तन्वते (श० ब्रा० ३।५।३।११)

मन और वाणी दोनोंसे यज्ञ किया जाता है ।

तदिदं क्षत्रमुभयतो विशा परिवृढम् । (श० ब्रा० ३।६।१।२४)

राज्य-शक्तिकी दायें-बायें दृढता प्रजा-द्वारा ही होती है ।

द्वितीयवान् हि वीर्यवान् । (श० ब्रा० ३।७।३।८)

जिसका साथी है वही शक्तिमान् होता है ।

सत्यं वै चक्षुः । सत्यं हि प्रजापतिः । (श० ब्रा० ४।२।१।२६)

चक्षु सत्य है । और सत्य ही प्रजापति है ।

विशा व क्षत्रियो बलवान् भवति (श० ब्रा० ४।३।३।६)

प्रजासे ही राजा बलवान् होता है ।

अन्नेन हीदं सर्वं गृहीतम् । तस्माद् यावन्तो नोऽशनमश्नन्ति
ते नः सर्वे गृहीता भवन्ति । एषैव स्थितिः ।
(श० ब्रा० ४।६।५।४)

अन्नने सबको पकड़ रखा है । अतः जो कोई भी हमारे यहाँ भोजन करते हैं वे सब हमारे हो जाते हैं । यही वस्तु-स्थिति है ।

यो वै ब्राह्मणानामनूचानतमः स
एषां वीर्यवत्तमः (श० ब्रा० ४।६।६।५)

ब्राह्मणोंमें वही सबसे अधिक शक्ति-सम्पन्न माना जाता है जो सबसे अधिक विद्वान् होता है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः (श० ब्रा० ५।१।१।१)

अति अभिमान पराभवका मुख होता है ।

अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया ।....यावज्जायां न विन्दते....अपूर्णो हि तावद् भवति । (श० ब्रा० ५।२।१।१०)

पत्नी पुरुषका आधा भाग होती है । जबतक पुरुष पत्नीको नहीं पाता है तबतक वह अपूर्ण ही रहता है ।

को वेद मनुष्यस्य (श० ब्रा० ५।५।२।२)

मनुष्यको कौन जानता है? अर्थात्, मानवकी, मानव-जीवनकी, समस्या का समाधान बड़ा कठिन है ।

यः सर्वः कृत्स्नो मन्यते गायति चैव गीते वा रमते ।

(श० ब्रा० ६।१।१।१५)

मनुष्य जब अपनेको पूर्ण समझता है तब गाने लगता है अथवा गाना सुनकर प्रसन्न होता है ।

न ह्ययुक्तेन मनसा किंचन संप्रति शक्नोति कर्तुम् ।

(श० ब्रा० ६।३।१।१४)

अयुक्त मनसे कोई किसी कामको ठीक तरह नहीं कर सकता ।

यदु वा आत्मसम्मितमन्नं तदवति । तन्न हिनस्ति । यद् भूयो हिनस्ति तद् । यत्कनीयो न तदवति । (श० ब्रा० ६।६।३।१७)

अपनी आवश्यकताके अनुसार खाया गया अन्न पुष्टि करता है । हानि नहीं करता । अधिक होनेपर हानि करता है । कम होनेपर पुष्टि नहीं करता ।

अन्नं वै विशः (श० ब्रा० ६।७।३।७)

प्रजाका आधार अन्न होता है ।

श्रीर्वै राष्ट्रम् (श० ब्रा० ६।७।३।७)

लक्ष्मीसे ही राष्ट्र चलता है ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

उष्ण एव जीविष्यन्। शीतो मरिष्यन्। (श० ब्रा०८।७।२।११)
जीनेवाला गरम और मरनेवाला ठण्डा होता है।

न वै कामानामतिरिक्तमस्ति (श० ब्रा० ८।७।२।१९)
कामनाओंका अन्त नहीं है।

ते ह ते घोरतरा अशान्ततरा य उभयतो नमस्काराः।
(श० ब्रा० ९।१।१।२०)

दोनों ओरके नमस्कार अत्यन्त भयानक और अशान्तिके हेतु होते हैं। अर्थात्, दो विरुद्ध पक्षोंके संघर्षमें दोनोंकी हाँमें हाँ मिलानेसे हानि होती है।

रूपं वा एतत्पुरुषस्य यद्वासः।
(श० ब्रा० १३।४।१।१५)

वस्त्रसे निश्चय ही मनुष्यकी शोभा होती है।

उभे ब्रह्म च क्षत्रं च विशि प्रतिष्ठिते।
(श० ब्रा० ११।२।७।१६)

ब्रह्म और क्षत्र दोनोंकी स्थिति प्रजापर ही निर्भर होती है।

गोपथ-ब्राह्मण

परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विषः।
(गो० ब्रा० १।१।१)

देवता परोक्षसे प्रेम करते हैं, प्रत्यक्षसे द्वेष।

स मनसा ध्यायेद्—यद्वा अहं किंचन मनसा ध्यास्यामि तथैव तद्भविष्यति। तद्ध स्म तथैव भवति।
(गो० ब्रा० १।१।९)

यदि मनुष्य किसी कामको करना चाहे तो उसे मनसे ध्यान करना चाहिए—"मैं जिसका मनसे ध्यान करूँगा वह अवश्य ही होगा।" सो निश्चय रूपसे वैसा ही होता है।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

रूपसामान्यादर्थसामान्यं नेदीयः (गो०ब्रा० १।१।२६)

रूपकी समानतासे अर्थकी समानता अधिक समीपताको प्रकट करती है।

व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवति (गो० ब्रा० १।१।३४)

ब्राह्मणका महत्त्व व्रत-पालनसे ही बढ़ता है।

पूर्वे वयसि पुत्राः पितरमुपजीवन्ति।....उत्तमे वयसि पुत्रान् पितोपजीवति। (गो० ब्रा० १।४।१७)

पहली वयमें पुत्र पितापर निर्भर रहते हैं। अन्तिम वयमें पिता पुत्रों पर निर्भर रहता है।

ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते (गो० ब्रा० २।१।१९)

ऋतुओंकी सन्धियोंमें व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।

यजमानेऽधःशिरसि पतिते स देशोऽधःशिराः पतति (गो० ब्रा० २।२।१५)

यजमानके उलटे-सिर गिरनेपर, वह देश उलटे-सिर गिर जाता है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

चौदहवाँ परिच्छेद

वैदिक-गीतांजलि[1]

१. आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है

"अस्माकं सन्त्वाशिषः ।
सत्या नः सन्त्वाशिषः ॥" [यजु० २।१०]

अर्थात्, हम आशावादी बनें । हमारी आशाएँ सफल हों !

भारतीय विचारधारामें इधर चिरकालसे 'संसार असार है', 'जीवन क्षणभंगुर और मिथ्या है' इस प्रकारकी निराशावादकी भावनाओंका साम्राज्य रहा है । हमारे जीवनको शक्तिहीन, उत्साहहीन और आदर्श-हीन बनानेमें निराशावादका बहुत बड़ा हाथ है, यह कौन नहीं जानता ? पर भारतीय संस्कृतिकी सूत्रात्मामें आशावाद सदासे ओत-प्रोत रहा है। उसी आशावादके स्वरूप और महिमाका वर्णन नीचे किया जाता है –

निराशायाः समं पापं मानवस्य न विद्यते ।
समुत्सार्य समूलं तामाशावादपरो भव ॥ १ ॥

मनुष्यके लिए निराशाके समान दूसरा पाप नहीं है । इसलिए तुम्हें इस पापरूपिणी निराशाको समूल हटाकर आशावादी बनना चाहिए ।

---

१. अर्थात् ग्रन्थकर्त्ताकी 'रश्मि-माला', 'अमृतमन्थन' तथा 'जीवन-सन्देश-गीतांजलि' नामक संस्कृत पद्यात्मक पुस्तकोंसे उदात्त वैदिक सन्देशोंको देनेवाली कुछ रचनाओंका उद्धरण ।

Rai Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मानवस्योन्नतिः सर्वा साफल्यं जीवनस्य च ।
चारितार्थ्यं तथा सृष्टेराशावादे प्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥

मनुष्यकी सारी उन्नति, जीवनकी सफलता और सृष्टिकी चरितार्थता आशावादमें ही प्रतिष्ठित हैं ।

आशा सर्वोत्तमं ज्योतिर्निराशा परमं तमः ।
तस्माद् गमय तज्ज्योतिस्तमसो मामिति श्रुतिः[1] ॥३॥

आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है । निराशा घोर अन्धकार है । इसलिए "भगवन् ! मुझको अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चलिए" ऐसा श्रुतिका वचन है ।

आस्तिक्यमात्मविश्वासः कारुण्यं सत्यनिष्ठता ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो नूनमाशावतामिह ॥ ४ ॥

आस्तिकता (= जीवनमें आदर्श-भावना), आत्मविश्वास, कारुण्य, सत्यपरायणता और उत्तरोत्तर समुन्नति – संसारमें इनका सद्भाव आशावादियोंमें ही हो सकता है ।

निराशावादिनो मन्दा निष्ठुराः संशयालवः ।
अन्धे तमसि मग्नास्ते श्रुतावात्महनो मताः ॥५॥

निराशावादी लोग स्वभावसे ही मन्द (उदात्त भावनाओंसे विहीन), निष्ठुर (असंवेदनशील) और संशयालु होते हैं । वेद[2] में ऐसे ही लोगोंको

---

१. तु० 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८)।

२. तु० "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥" (यजु० ४०।३)
अर्थात्, आत्मत्व या आत्म-चेतनाकी विस्मृति-रूप आत्महत्या (अर्थात्, जीवनमें आदर्शभावनाका अभाव), न केवल व्यक्तियोंके लिए, किन्तु जातियों और राष्ट्रोंके लिए भी, किसी भी प्रकारकी प्रेरणासे विहीन अज्ञानान्धकारमें गिराकर, सर्वनाशका हेतु होती है ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

उदात्त आदर्शों की प्रेरणासे विहीन अज्ञानान्धकारमें निमग्न, तथा आत्म-विस्मृति-रूप आत्महत्या करनेवाला कहा गया है।

('रश्मिमाला' १)

२. जीवनका रहस्य

"लोका यत्र ज्योतिष्मन्त-
स्तत्र माममृतं कृधि।" (ऋग्० ९।११३।९)

अर्थात्, भगवन्! मुझे ज्योतिर्मय लोकोंमें अमृत पद (=शाश्वत जीवन) प्राप्त कराइए।

'जीवन निःसार और मिथ्या है', 'जीवन बन्धन या कारागारके समान है और उससे छुटकारा (मोक्ष) पाना ही हमारा परम कर्तव्य है' इन मिथ्या-भावनाओंने हमारे जातीय जीवनको चिरकालसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। इनके कारण ही, जेलके क़ैदीके समान, हम स्वभावतः, न केवल अपने ही, किन्तु जाति, राष्ट्र या मानवके भी विकास और समुत्थानसे प्रायः उदासीन रहे हैं।

परन्तु नीचे जीवनके विषयमें जिस दृष्टिका प्रतिपादन किया गया है, उसके अनुसार जीवन मिथ्या होनेके स्थानमें परमात्माका एक महान् प्रसाद है। इस अनन्तानन्त ब्रह्माण्डमें अनन्त विकास और समुन्नतिका साधन जीवन ही है। वास्तवमें तो हमारा जीवन शाश्वत है। हमारा यह जीवन ही शाश्वत अनन्त जीवनकी प्राप्तिका एक अनिवार्य और अमूल्य साधन है। इसीलिए उसमें आस्थाकी अनिवार्य रूपसे आवश्यकता है—

जीवनं परमोत्कृष्टः प्रसादो जगतीपतेः।
तस्य तत्त्वं रहस्यं च ये विदुस्ते मनीषिणः ॥१॥

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

जीवन जगदीश्वरका सर्वोत्कृष्ट प्रसाद है। मनीषी लोग ही उसके वास्तविक स्वरूप और रहस्यको समझते हैं।

जीवनस्य भयं मृत्योर्मरणान्तं च जीवितम्।
आ जन्मनः क्रमेणायुर्ह्रासो मृत्युपथानुगः[1] ॥२॥
इत्येवं नैकधानर्थमूलं मिथ्यामतिर्नृणाम्।
जीवनास्थाविहीनांस्तान् विदधाति भयार्दितान् ॥३॥

'जीवनको मृत्युका भय है,' 'मृत्यु-पर्यन्त ही जीवन है', तथा 'जन्मसे ही आयु घटने लगती है और बराबर मृत्युके पास पहुँचती जाती है' इस प्रकारके अनेकानेक अनर्थोंके मूल परम्परागत मिथ्या-विचार मनुष्योंको जीवनमें आस्थासे रहित और भयसे व्याकुल बनाते हैं।

निराशावादिनो मन्दा मोहावर्त्तेऽत्र दुस्तरे।
निमग्ना अवसीदन्ति पङ्के गावो यथावशाः ॥४॥

प्रगतिकी भावनासे विहीन निराशावादी लोग मोहके दुस्तर भँवरमें पड़े हुए दलदलमें फँसी बेबस गौओंके समान दुःखको पाते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमभिधत्तेऽसकृच्छ्रुतिः।
"कुर्वन्नेवेह कर्माणि[2]", "जीवा ज्योतिरशीमहि[3]" ॥ ५ ॥

उनके प्रति अनुकम्पाके भावसे ही वेदमें "मनुष्यको सौ वर्ष तक कर्म

---

१. तु० "मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः" (रघुवंश ८।८७) तथा "संसारः स्वप्नमात्रश्च चलाः प्राणा धनं तथा। सुखं तत्र न परमं दुःखं तत्र दिने दिने ॥"
अर्थात्, मनुष्यके लिए मृत्यु स्वाभाविक और जीवन अस्वाभाविक है। यह संसार स्वप्नमात्र है, प्राण और धन चलायमान हैं। संसारमें सुखके स्थानमें बराबर दुःख ही दुःख दीख पड़ता है।
२. तु० "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः" (यजु० ४०।२)
३. तु० "जीवा ज्योतिरशीमहि" (ऋग्० ७।३२।२६)।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

हुए ही जीनेकी इच्छा करनी चाहिए", "हम बराबर प्रकाशमय जीवनको प्राप्त करें" इस प्रकार बार-बार कहा गया है।

कर्मैव जीवनं तस्माद्, विकासस्तस्य भास्वरः।
उत्तरोत्तरलोकेषु कर्तव्यत्वेन मन्यताम् ॥ ६ ॥

इसलिए कर्मका ही नाम जीवन है। उत्तरोत्तर लोकों या अवस्थाओं-में प्रकाशमान विकासको ही हमें अपना ध्येय समझना चाहिए।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षि जीवनं शाश्वतं हि नः।
अस्पृष्टं तमसा चापि मोहरूपेण सर्वथा ॥ ७ ॥

वास्तवमें हमारा जीवन उत्तरोत्तर समुन्नतिशील और शाश्वत (= रहनेवाला) है। उसका स्वरूप अज्ञान-रूपी अन्धकारसे सर्वथा स्पृष्ट है।

('रश्मिमाला' २)

३. संयतस्व जीवनाय

जीवनके लिए बराबर यत्न करो

"उदायुषा स्वायुषोदस्थाम् ॥" (यजु० ४।२८)

अर्थात्, हम दीर्घ और शुभ जीवनके लिए सदा उद्योगशील रहें।

प्राप्य मानवीयजन्म पुण्यकर्मसंचयेन।
दीनदुःखिरक्षणेन संयतस्व जीवनाय ॥ १ ॥

मनुष्य-जन्मको पाकर, पवित्र कर्मोंका संचय और दीन-दुखियोंकी सेवा करते हुए जीनेका यत्न करो !

सत्पथानुवर्तनेन भव्यभावभावनेन।
लोकशंप्रसारणेन संयतस्व जीवनाय ॥ २ ॥

...a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

सदाचारके मार्गपर चलते हुए, सुन्दर-समुन्नत विचारोंको रखते हु
और लोक-कल्याणका प्रसार करते हुए जीनेका यत्न करो !

दैन्यभावभञ्जनेन धैर्यधर्मधारणेन ।
वीरतासमाश्रयेण संयतस्व जीवनाय ॥ ३ ॥

दीनताके भावका भंजन करते हुए, धैर्य-रूपी धर्मको धारण क
हुए, वीरतापूर्वक जीनेका यत्न करो !

जीवनं त्विदं मुधेति पामरा जना वदन्ति ।
नैव तत्तथा, ततोऽत्र संयतस्व जीवनाय ॥ ४ ॥

यह जीवन मिथ्या है, ऐसा मूर्ख-पामर लोग कहते हैं। पर वं
मिथ्या नहीं है। इसलिए इस संसारमें जीनेका यत्न करो !

('रश्मिमाला' से

४. जयन्ति के जना भुवि ?

संसारमें जय किन लोगोंकी होती है ?

भद्रादभि श्रेयः प्रेहि [ऐतरेयब्राह्मण १।१३]

अर्थात्, तुम भद्रसे भद्रतर जीवनको प्राप्त करो।

परोपकारतत्पराः स्वदेशभक्तिवत्सलाः ।
अमत्सरास्तथापि ये जयन्ति ते जना भुवि ॥ १ ॥

परोपकार-परायण और अपने देशकी भक्तिमें तत्पर होते हुए
जो अभिमानसे रहित होते हैं, संसारमें उन्हींकी जय होती है।

उदात्तकर्मशालिनो न दैन्यभावधारिणः ।
तथापि सन्ति प्रश्रिता जयन्ति ते जना भुवि ॥ २ ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

उदात्त कर्मोंको करनेवाले और दीनताके भावसे दूर रहनेवाले होते भी जो नम्र होते हैं, संसारमें उन्हींकी जय होती है।

विहातुमुद्यताः सदा परार्थमात्मनो हितम्।
अथाभिमानवर्जिता जयन्ति ते जना भुवि ॥ ३ ॥

दूसरोंके निमित्त अपने हितको छोड़नेके लिए सदा उद्यत होते भी जो स्वयं अभिमानसे रहित होते हैं, संसारमें उन्हींकी जय होती है।

विसृष्टकीर्तिकामनाः स्वधर्मपालने रताः।
तथापि ये यशस्विनो जयन्ति ते जना भुवि ॥ ४ ॥

कीर्तिकी कामनाको छोड़कर स्वधर्मके पालनमें तत्पर होते हुए भी यशस्वी होते हैं, संसारमें उन्हींकी जय होती है।

विरागमूर्तयोऽपि ये स्वदेशरागशोभिताः।
अरण्यवासनिःस्पृहा जयन्ति ते जना भुवि ॥ ५ ॥

स्वयं वैराग्यकी मूर्ति होते हुए भी जो स्वदेशके राग (=प्रेम) से शोभित हैं और अपने कर्तव्यसे भागकर वनवासके लिए उत्सुक नहीं हैं, संसारमें उन्हींकी जय होती है।

अमायिनो दृढव्रतास्तपस्विनो जितेन्द्रियाः।
सदाशया महाशया जयन्ति ते जना भुवि ॥ ६ ॥

जो छल-कपटसे रहित, दृढव्रत, तपस्वी, जितेन्द्रिय और शुभ तथा उच्च विचारोंवाले होते हैं, संसारमें उन्हींकी जय होती है।

('रश्मिमाला' ४)

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

५. दुःख-मीमांसा

दुःखके स्वरूपपर विचार

हमारे देशकी विचारधारामें इधर चिरकालसे दुःखविषयक विचारों और तन्मूलक विभीषिकाने एक ऐसा वातावरण बना रखा है जो वैयक्तिक तथा जातीय दोनों दृष्टियोंसे हमारे लिए प्रायेण घातक सिद्ध हुआ है। 'संसार दुःखमय है, अतएव असार और हेय है', 'जीवन दुःख-रूप है, अतएव बन्ध (=कारागार) है, उससे किसी प्रकार छुटकारा (मोक्ष) पाना ही हमारे जीवनका परम ध्येय है',[1] 'दुःख सबको ही प्रतिकूल और बाधाके रूपमें प्रतीत होता है',[2] 'विवेकी मनुष्यको सब कुछ दुःखरूपमें ही देखना चाहिए'[3] – इस प्रकारके विषाक्त अनार्य विचारोंने जहाँ एक ओर हमारे जीवनको नीरस, मन्द, उत्साहहीन, नैराश्यपूर्ण और अकर्मण्य बनानेमें बड़ा भाग लिया है, वहाँ दूसरी ओर हमारे करोड़ों भाइयोंमें जीवन-संघर्षसे मुँह छिपाकर, प्रायः अपरिपक्व दशामें ही, संन्यासकी मिथ्या प्रवृत्तिको बराबर प्रोत्साहित किया है।

दुःखके विषयमें उपर्युक्त विचारोंसे यदि कोई आगे बढ़े हैं तो उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि कर्मयोगीको सुख-दुःखको समान समझकर ही जीवनके युद्धमें प्रवृत्त होना चाहिए।[4]

परन्तु प्रस्तुत प्रकरणमें दुःखके स्वरूपके विषयमें हम एक नवीन दार्शनिक दृष्टिकोण उपस्थित कर रहे हैं।[5] दुःखोंसे उद्विग्न मानव

---

१. तु० "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" (सांख्यसूत्र १।१)

२. तु० "बाधनालक्षणं दुःखम्", "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" (न्यायसूत्र १।१।२१–२२)

३. तु० "दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (योगसूत्र २।१५)।

४. तु० "सुखदुःखे समे कृत्वा···ततो युद्धाय युज्यस्व" (भगवद्गीता २।३८)

५. इस विषयके विशेष विचारके लिए "वैदिक धाराकी दार्शनिक पृष्ठभूमि" शीर्षक परिच्छेद देखिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

उनसे एक नया ही प्रकाश मिलेगा, ऐसी हमारी धारणा है।

नीचेके पद्योंमें दुःखके विषयमें युक्ति और उपपत्तिके साथ जो सिद्धान्त हमने उपस्थित किये हैं वे संक्षेपमें मुख्यतः इस प्रकार हैं –

१. दुःखकी प्राप्ति आकस्मिक या अहेतुक नहीं होती।

२. सृष्टिकी योजनामें दुःखकी प्राप्ति निष्प्रयोजन नहीं हो सकती।

३. दुःखसे लगनेवाले भयके मूलमें हमारा अज्ञान ही कारण होता है। महान् पुरुष तो दुःख और कष्टोंका स्वागत ही करते हैं।

४. दुःखोंको लक्ष्यसिद्धिकी आवश्यक भूमिका समझना चाहिए।

५. स्वेच्छासे स्वीकृत दुःख तपके रूपमें परिवर्तित किया जा सकता है। तपसे ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

६. जीवनके उत्तरोत्तर उत्कर्षमें दुःख केवल सीढ़ियोंके समान होते हैं।

यहाँ इस लेखको बढ़ानेकी आवश्यकता नहीं है। नीचे हम पद्योंका केवल स्पष्टार्थ देते हैं –

उद्वेगजनकं दुःखं सर्वेषामेव प्राणिनाम्।
सेयमापाततो बुद्धिस्तत्त्वदृष्ट्या विविच्यते ॥ १ ॥

इस संसारमें दुःखसे सब कोई घबराते हैं; दुःखको उद्वेग-जनक समझते हैं। दुःखके विषयमें यह जो आपाततः विचार है उसका यहाँ हम तात्त्विक रूपसे विवेचन करेंगे।

न चैवाकस्मिकं दुःखं न चाप्यस्त्यप्रयोजनम्।
न चैवावश्यकं, दुःखं दुःखमित्येव मन्यताम् ॥ २ ॥

दुःखके विषयमें विचार करनेपर, न तो हम उसको आकस्मिक अथवा अहेतुक कह सकते हैं, न निष्प्रयोजन। दुःखको दुःखके रूपमें ही अनुभव किया जाये, यह भी आवश्यक नहीं है।

दुःख आकस्मिक नहीं हो सकता, इसका समर्थन नीचे करते हैं –

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

कार्यकारणसूत्रेण सूत्रधारेण केनचित् ।
चाल्यमाने जगत्यस्मिन् कथं दुःखमहेतुकम् ? ॥ ३ ॥

इस जगत् या विश्वके सूत्रधार या नियामक परमात्मा कार्य और कारणके सूत्र अर्थात् नियम-द्वारा सारे जगत्का संचालन कर रहे हैं। ऐसी स्थितिमें किसीके ऊपर आनेवाला दुःख अहेतुक है, अर्थात् उसका कोई हेतु नहीं है, ऐसा कैसे हो सकता है ?

दुःख निष्प्रयोजन भी नहीं हो सकता, इसका समर्थन नीचे करते हैं-

गर्भावस्थां समारभ्य या यावस्थानुभूयते ।
प्राणिना, तद्धितायैव स्पष्टं तस्याः प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

जबसे प्राणी गर्भावस्थामें आता है, उसे बराबर नयी-नयी दशाओंका अनुभव करना पड़ता है। शास्त्रोंमें उनका प्रायः भयानक दुःखमय अवस्थाओंके रूपमें वर्णन मिलता है। उन दशाओंको हम दुःखमय मानें या न मानें, इतना तो स्पष्ट है कि उनका प्रभाव प्राणीके लिए हितकर ही होता है।

अभिप्राय यह है कि गर्भावस्थाके समान प्रत्येक दुःखावस्था मनुष्यके हितके लिए ही होती है। गर्भावस्थाके अनुभवके पश्चात् ही राम, कृष्ण, बुद्ध और गान्धी-जैसे महापुरुष बनते हैं।

एवं स्थावरलोकेऽपि वृक्षादीनां समुद्भवे ।
नानावस्थास्तु बीजस्य जायन्ते सप्रयोजनाः ॥ ५ ॥

इसी प्रकार स्थावर जगत्में भी वृक्ष आदिकी उत्पत्तिमें बोनेके पश्चात् बीजकी जो सड़ने-गलने आदिकी अनेक अवस्थाएँ होती हैं वे सब सप्रयोजन होती हैं। बीज बोये जानेके पीछे पहले गलता है, फिर सड़ता है। तब कहीं वह अंकुरके रूपमें उगता है और अन्तमें आम, अनार, अंगूर-जैसे उपयोगी और सुन्दर वृक्षोंके रूपमें आता है। इस प्रकार आपाततः दुःख-

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

सो अवस्थाओंको भी जानना चाहिए। दुःखावस्थासे अन्तमें कल्याण ही होगा, यही समझना चाहिए।

तत्रैवं सति लोकेऽस्मिन् दुःखावस्थेति या मता।
सप्रयोजनता तस्या नूनं नैवात्र संशयः ॥ ६ ॥

इसलिए संसारमें जिसको दुःखकी अवस्था माना जाता है उसका ईश्वरकी दृष्टिमें कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य होता है, यही मानना चाहिए।

सहेतुकत्वमित्येवं सप्रयोजनतां तथा।
दुःखस्यावेक्ष्य तत्त्वज्ञो न ततो विजुगुप्सते ॥ ७ ॥

इस प्रकार दुःखकी सहेतुकता और सप्रयोजनताको समझकर, अर्थात् मनमें बैठाकर कि ईश्वरकी सृष्टिमें जो कोई दुःख आता है उसका कोई कारण और प्रयोजन भी अवश्य होता है, तत्त्वज्ञानी मनुष्य दुःखोंसे कभी नहीं घबराता।

अन्धकारगतः कश्चिद् यथाकस्माद् भयातुरः।
भवेत्तथैव दुःखेभ्यो मन्दानां जायते भयम् ॥ ८ ॥

जैसे अँधेरेमें खड़ा हुआ मनुष्य वास्तविक स्थितिको नहीं समझता और 'न जाने कहाँसे क्या आपत्ति आ जाये' यह सोचकर भयसे व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी लोग दुःखके कारण और प्रयोजनको न समझते हुए उससे डरते रहते हैं।

उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतावुत्सुकस्तु यः।
दुःखानां स्वागतं कुर्वंस्तत्त्वज्ञो नावसीदति ॥ ९ ॥

पर तत्त्वज्ञानी मनुष्य, जो अपने जीवनमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नतिके लिए उत्सुक रहता है, दुःखोंका स्वागत करता हुआ उनसे विषादको नहीं प्राप्त होता।

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

यथा छात्रस्य कस्यापि तापसस्य धनार्थिनः ।
कष्टानां महतामङ्गीकारो दृष्टः फलार्थिनः ॥ १० ॥

जैसे अपने-अपने अभीष्ट लक्ष्य (क्रमसे विद्या, आध्यात्मिक सिद्धि और सम्पत्ति) की प्राप्तिके लिए प्रयत्न करनेवाला एक विद्यार्थी, तपस्वी या धनार्थी प्रसन्नतासे बड़े-बड़े कष्टोंको सहता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी मनुष्य अपने जीवनके लक्ष्यकी ओर बढ़ता हुआ दुःखों और कष्टोंको सहर्ष स्वीकार करता है ।

विधातुः सर्वलोकस्याभिप्रायोऽप्येष दृश्यते ।
यल्लक्ष्यसिद्धितः पूर्वं कष्टस्वीकरणं मतम् ॥ ११ ॥

समस्त संसारकी सृष्टि करनेवाले प्रजापतिका अभिप्राय भी यही दीखता है कि किसी भी लक्ष्यकी सिद्धिसे पहले कष्ट या दुःखको उठाना ही चाहिए । दूसरे शब्दोंमें, भगवान्‌की रची हुई इस सृष्टिमें सबके लिए यह स्वाभाविक है कि अपनी अभीष्टसिद्धिके लिए कष्ट या दुःखको उठाया जाये ।

अत एव सिसृक्षुः सन् लोकानेतान् प्रजापतिः ।
'तपोऽतप्यत', नैकत्र श्रूयते ब्राह्मणादिषु[1] ॥ १२ ॥

इसीलिए 'शतपथ-ब्राह्मण आदि ग्रन्थोंमें जहाँ-कहीं 'प्रजापतिने इन लोकोंकी सृष्टि करनेकी इच्छा की', इस बातका प्रसंग आया है वहीं 'प्रजापतिने तप किया' ऐसा कहा गया है ।

अभिप्राय यह है कि औरोंकी तो बात ही क्या, प्रजापति या ब्रह्माको भी सृष्टिकी रचनासे पहले तप करना पड़ता है ।

स्वेच्छासे स्वीकार किये गये दुःख या कष्टको ही तप कहते हैं, यह नीचे कहा गया है –

---

१. तु० "सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत । भूयान् स्यां प्रजायेयेति । सोऽश्राम्यत् । स तपोऽतप्यत ।....." (शतपथब्राह्मण ६।१।१।८)।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jaipur

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

शिवस्य नीलकण्ठस्य विषपानं यदुच्यते ।
व्याख्यानमस्य तेनापि सिद्धान्तस्य विधीयते ॥ १३ ॥

पुराणोंमें भगवान् नीलकण्ठ शिवकी विष-पानकी कथा प्रसिद्ध है। वास्तवमें उस कथासे उक्त सिद्धान्तकी ही व्याख्या की गयी है। संसारमें कौन स्वेच्छया विषपान करनेको तैयार होगा ? फिर भी लोक-कल्याणकी इच्छासे शिवजीने प्रसन्नतापूर्वक भयंकर विषका पान किया। इसलिए अभीष्ट अर्थकी सिद्धिके लिए प्रसन्नतापूर्वक कष्टको स्वीकार करना चाहिए।

रामस्य तस्य भीष्मस्य बुद्धस्यापि महात्मनः ।
क्राइस्टस्य जिनस्यापि गान्धिनश्च महात्मनः ॥ १४ ॥
जीवनेषु तथान्येषां लोकोत्तरयशस्विनाम् ।
स्वेच्छयैव सुखं त्यक्त्वा कष्टस्वीकरणं मतम् ॥ १५ ॥

उक्त कारणसे ही भगवान् राम, सुप्रसिद्ध भीष्म पितामह, महात्मा बुद्ध, महात्मा क्राइस्ट, भगवान् महावीर, महात्मा गान्धी तथा अन्य लोकोत्तर यशवाले महापुरुषोंके जीवनमें देखा जाता है कि उन्होंने महान् आदर्शोंके पालनके लिए स्वेच्छासे सुखोंको छोड़कर कष्टोंको स्वीकार किया।

आपेक्षिकी मता तस्माद् भावना सुखदुःखयोः ।
नैकान्तिकं तयो रूपमित्येवमवधार्यताम् ॥ १६ ॥

इसलिए सुख और दुःखकी भावनाको आपेक्षिक ही मानना चाहिए। उनमें-से किसीका अपना कोई निश्चित या ऐकान्तिक रूप नहीं है।

दुःखं वै दुःखरूपेण तावदेव प्रतीयते ।
यावत्परिग्रहस्तस्यानिच्छयैव विधीयते ॥ १७ ॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

दुःख दुःखरूपसे तभीतक प्रतीत होता है जबतक कि उसका ग्रहण अनिच्छासे ही किया जाता है।

दुःखं चेत्स्वेच्छया प्राज्ञः प्रसन्नेनान्तरात्मना।
आदत्ते, तत्तपोरूपमाधत्ते, नात्र संशयः ॥ १८ ॥

यदि बुद्धिमान् मनुष्य आये हुए दुःखको स्वेच्छापूर्वक प्रसन्न मनसे स्वीकार कर लेता है तो वही दुःख उसके लिए निःसन्देह तपका रूप धारण कर लेता है।

आशय यह है कि मनुष्यको चाहिए कि वह सहसा आये हुए दुःखको अपने उत्कर्षकी प्राप्तिमें सहायक तप मानकर प्रसन्नतासे सहे। इस प्रकार वह दुःख उसके लिए कल्याणका ही साधक हो सकता है।

नूनं तपांसि कृच्छ्राणि शास्त्रोक्तानि विधानतः।
आचरन्त्यात्मनः शुद्ध्यै श्रद्धया ये मनीषिणः ॥ १९ ॥

यह कौन नहीं जानता कि शास्त्रोंमें अनेकानेक कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत आदि तपोंका विधान किया गया है। जो बुद्धिमान् हैं वे आत्मशुद्धिके लिए उन तपोंका श्रद्धासे विधिपूर्वक पालन करते हैं।

तपसा पारमाप्नोति तपसा हन्ति किल्बिषम्।
लोकेऽत्र तपसा धीर उन्नतेर्मूर्ध्नि तिष्ठति ॥ २० ॥

तपकी महिमा महान् है। तप-द्वारा ही मनुष्य अपने अभीष्ट पदको प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णताको दूर कर अपने चरित्रको उज्ज्वल और पवित्र बनाता है। धीर पुरुष संसारमें तप-द्वारा ही उन्नतिके शिखर-पर विराजमान होता है।

ततोऽनिवार्यदुःखं यत् प्राप्तं भवति जीवने।
तप इत्येव तद्विद्याद् य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ॥ २१ ॥

इसलिए जो अपना कल्याण चाहता है उसे चाहिए कि जीवनमें जो

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

कोई अनिवार्य दुःख प्राप्त हो उसे वह अभीष्ट-सिद्धिका साधक तप ही समझे और माने ।

हिरण्यस्य यथा शुद्धिरग्नितापेन जायते ।
तथैव दुःखतप्तानां जायते कल्मषक्षयः ॥ २२ ॥

जैसे अग्निमें तपानेसे सुवर्णकी शुद्धि हो जाती है, उसी प्रकार दुःख-रूपी तपसे तपे हुओंके कल्मष या पापका नाश हो जाता है ।

रम्यं प्रासादमारोहन्नत्युच्चशिखरस्थितम् ।
कष्टानि सहते धीरः प्रसन्नो लक्ष्यसिद्धये ॥ २३ ॥

किसी पर्वतके अति ऊँचे शिखरपर बने हुए रमणीय प्रासाद तक पहुँचनेके निमित्त ऊपर चढ़नेवाला धीर मनुष्य अपने लक्ष्यकी सिद्धिके लिए प्रसन्नतापूर्वक कष्टोंको सहता है ।

उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतावुत्सुकस्तु यः ।
एवं वेदोक्तमार्गेण दुःखादुद्विजते न सः[1] ॥ २४ ॥

इसी प्रकार 'तुम उत्तरोत्तर कल्याणको प्राप्त करो'[2] इस वैदिक आदेशके अनुसार जो मनुष्य अपनी उत्तरोत्तर उत्कृष्ट समुन्नतिके लिए उत्सुक है वह दुःखसे कभी नहीं घबराता ।

देवाधिदेवतत्त्वेन करुणाप्लुतचेतसा ।
नूनं सृष्टं जगत्कृत्स्नं भूतानामुद्दिधीर्षया[3] ॥ २५ ॥

---

१. तु० "आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः ।
प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभते सुखम् ॥" (वाल्मीकिरामायण ३।९।३१) ।

२. तु० "भद्रादभि श्रेयः प्रेहि" (ऐतरेयब्राह्मण १।१३)
(अर्थात्, तुम भद्रसे भद्रतर जीवनको प्राप्त करो) ।

३. तु० "भद्रा इन्द्रस्य रातयः" (साम० उ० ५।२।१४)
(अर्थात्, भगवान्‌के प्रदान कल्याणमय हैं) ।

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

इसमें सन्देह नहीं कि उस परमतत्त्व परमात्माने, जो देवताओंका भी अधिष्ठातृदेवता है, करुणा-वश होकर प्राणियोंके उद्धारकी इच्छासे ही समस्त जगत्‌की सृष्टि की है।

तत्रैवं सति लोकेऽस्मिन् दुःखावस्थेति योच्यते।
नूनं सास्मद्धितायैव नोद्वेगाय मनीषिणः ॥ २६ ॥

सृष्टिके विषयमें उपर्युक्त वस्तुस्थितिके होनेसे, लोकमें जिसको दुःखावस्था कहा जाता है वह निश्चय ही हमारे कल्याणके लिए ही होती है, ऐसा मानना चाहिए। समझदार लोग उससे उद्विग्न नहीं होते।

कदाचिदेतदेवात्र कारणं येन, विस्मयः!।
कुत्रापि वेदमन्त्रेषु दुःखशब्दो न दृश्यते ॥ २७ ॥

दुःखके विषयमें जो कुछ ऊपर कहा गया है कदाचित् उसी कारणसे, यह आश्चर्यकी बात है कि, वैदिक संहिताओंके मन्त्रोंमें कहीं भी 'दुःख' शब्द नहीं पाया जाता।

['रश्मिमाला' १]

६. व्रतसे आत्मशुद्धि

"अग्ने! व्रतपते व्रतं चरिष्यामि···
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥" (यजु० १।५)

अर्थात्, हे व्रतपते प्रकाश-स्वरूप देव! मेरी प्रार्थना है कि मैं व्रतका पालन करता हुआ अनृतसे सत्यकी ओर प्रगति कर सकूँ!

जीवनके उत्थान और विकासके लिए आत्म-विश्वास और आत्मिक शक्तिकी आवश्यकता है। आत्मिक शक्ति और आत्म-विश्वास अनुशासन, व्रताचरण और नियम-पालनसे ही प्राप्त हो सकते हैं। जीवनमें व्रतोंके

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

रक्षण और पालनका यही रहस्य है। इसी सिद्धान्तका विशदीकरण किसी
ऋषिके मुखसे नीचेके पद्योंमें कराया गया है —

उत्तरोत्तरमुत्कर्षं जीवने लब्धुमुत्सुकः।
प्रतिजाने चरिष्यामि व्रतमात्मविशुद्धये ॥ १ ॥

अपने जीवनमें उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करनेके लिए मैं उत्सुक हूँ।
आत्म-विशुद्धि या पवित्राचरणसे ही यह हो सकता है। उस आत्म-विशुद्धि-
के लिए व्रताचरणकी मैं प्रतिज्ञा करता हूँ।

व्रतानां पालनेनैव तद् गूढमात्मदर्शनम्।
जायते यमिनां नूनमात्मविश्वासकारणम् ॥ २ ॥

व्रतोंके पालनसे ही संयमी मनुष्योंको अपने उस गूढ स्वरूपका दर्शन
होता है जो कि आत्म-विश्वासका कारण होता है। अभिप्राय यह है
कि व्रतोंके आचरणसे ही मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप और शक्तिको
पहचानता है, और इसी प्रकार उसमें आत्म-विश्वासकी भावनाका उदय
होता है।

ऋषिभिर्मुनिभिश्चैव लोकानां मार्गदर्शकैः।
सेवितो विततः पन्था एष नैवात्र संशयः ॥ ३ ॥

संसारको सन्मार्ग दिखानेवाले ऋषियों और मुनियोंने वास्तवमें
इसी प्रशस्त मार्गका सेवन किया था। अभिप्राय यह है कि व्रताचरण-
द्वारा मनुष्य ऋषि और मुनिकी पदवीको भी प्राप्त कर सकता है।

विश्वस्य विविधं कार्यं कुर्वन्तोऽत्र निरन्तरम्।
व्रतानां पालनेनैव देवा अमृतभोजिनः ॥ ४ ॥

विश्वके विभिन्न कार्योंको निरन्तर नियमपूर्वक करनेवाले अग्नि,
वायु, सूर्य आदि देवताओंको व्रतोंके पालनेके कारणसे ही अमृत-भोजी
(=अमृत अथवा अमृतत्वका सेवन करनेवाले) कहा गया है। दूसरे
शब्दोंमें, अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवता विश्वके संचालनार्थ अपने-अपने

Jagadguru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

महान् व्रत अथवा कर्तव्यका अविचल-भावसे पालन करते हैं। इसी आधारपर उनको 'अमृत-भोजी' कहा गया है।

अभिप्राय यह है कि व्रताचरण-द्वारा ही मनुष्यको अपने अमृतत्व या शाश्वत जीवनका बोध हो सकता है।

व्रतेन प्राप्यते दीक्षा दक्षिणा दीक्षयाप्यते।
तया च प्राप्यते श्रद्धा श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ ५ ॥

व्रताचरणसे ही मनुष्यको दीक्षा अथवा उन्नत जीवनकी योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षासे दक्षिणा अथवा प्रयत्नकी सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणासे अपने जीवनके लक्ष्य अथवा आदर्शोंमें श्रद्धा, और श्रद्धासे सत्य अथवा वास्तविक लक्ष्यकी प्राप्ति होती है।

अभिप्राय यह है कि व्रतोंके पालनसे ही मनुष्य अपने जीवनके परम लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

('रश्मिमाला' १०)

७. ब्रह्मचर्य

"ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्त्ति" (अथर्व० ११।५।२४)

अर्थात्, ब्रह्मचर्य-व्रतको धारण करनेवाला ही प्रकाशमान ब्रह्म (ब्रह्म अथवा ज्ञान) को धारण करता है।

ऊपर मनुष्यके लिए व्रताचरणकी महिमाका वर्णन किया है। सब व्रतोंके मूलमें ब्रह्मचर्य-व्रत है। उसीका वर्णन नीचेके पद्योंमें किया गया है—

जीवनं वै महान् यज्ञस्तस्य सिद्ध्यै मनीषिभिः।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यादौ ग्रहणमुपदिश्यते ॥१॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

जीवन एक महान् यज्ञ है। उसकी सफलताके लिए मनुष्यको जीवनके प्रारम्भमें ही ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण करना चाहिए, ऐसा मनीषियोंका आदेश है।

प्रासादस्य विनिर्माणे मूलभित्तिरपेक्ष्यते।
तथैव जीवनस्यादौ ब्रह्मचर्यमपेक्ष्यते ॥२॥

जैसे किसी महलके बनानेमें नींवकी अपेक्षा होती है। उसी प्रकार जीवनके प्रारम्भमें ब्रह्मचर्यकी अपेक्षा होती है।

ब्रह्मचर्यव्रतं चीर्णं यैस्तैरेव तपस्विभिः।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो जीवने लभ्यते ध्रुवम् ॥३॥

तपके रूपमें ब्रह्मचर्यके व्रतको पूर्ण करनेवाले मनुष्य ही निस्सन्देह जीवनमें उत्तरोत्तर उत्कर्षको प्राप्त करते हैं।

ब्रह्मचर्येण सर्वोऽर्थः सिद्धो भवति भूतले।
तस्यैवेहातिसंक्षिप्ता काचिद् व्याख्या विधीयते ॥४॥

संसारमें प्रत्येक लक्ष्यकी प्राप्ति ब्रह्मचर्यसे होती है। उसीकी कुछ संक्षिप्त व्याख्या यहाँ की जाती है।

सर्वेषामपि भूतानां यत्तत्कारणमव्ययम्।
कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं, वेदो वा, ज्ञानमेव यत् ॥ ५ ॥
तदेतदुभयं ब्रह्म ब्रह्मशब्देन कथ्यते।
तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते ॥ ६ ॥

सृष्टिके समस्त पदार्थोंका जो अक्षय्य, कूटस्थ, शाश्वत, दिव्य मूल कारण है उसको, तथा ज्ञानरूप वेदको भी, ब्रह्म शब्दसे कहा जाता है। इस प्रकारके ब्रह्मकी प्राप्तिके उद्देश्यसे जो व्रत ग्रहण करता है उसीको ब्रह्मचारी कहते हैं।

समष्टिरूपं यद् ब्रह्म तद्रूपं ज्ञानमेव यत्।
ताभ्यां सायुज्यसंपत्त्यै ब्रह्मचारी सदेप्सति ॥ ७ ॥

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

समस्त पदार्थोंकी समष्टि-रूप जो ब्रह्म है, तथा समष्ट्यात्मक (अथवा व्यापक) जो ज्ञान है, उन दोनोंके साथ सायुज्य अथवा तादात्म्यकी प्राप्तिके लिए ब्रह्मचारी सदा उत्सुक रहता है ।

एतस्यां भूमिकायां तु तिष्ठतो ब्रह्मचारिणः ।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टं जीवनं लक्ष्यमुच्यते ॥ ८ ॥
"भद्रादभि श्रेयः प्रेहि[1]", "भद्रं भद्रं न आभर[2]" ।
इत्येवं बहुशो मन्त्रैरेष एवार्थ उच्यते ॥ ९ ॥

उक्त मानसिक परिस्थितिमें वर्तमान ब्रह्मचारीके लिए उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जीवन ही लक्ष्य होता है । "तुम भद्रसे भद्रतर जीवनको प्राप्त करो", "भगवन् ! हमारे लिए बराबर कल्याणको ही लाइए" इस प्रकार अनेकानेक वेद-मन्त्र इसी बातको कहते हैं ।

तदर्थं स्वीयशक्तीनां विकासः संचयस्तथा ।
श्रमेण तपसा वृत्तिः संयमेन पुरस्कृता ॥ १० ॥
चारित्र्यस्य विनिर्माणं विद्याया अर्जनं तथा ।
प्रथमं तस्य कर्तव्यं जायते प्रथमाश्रमे ॥ ११ ॥

उक्त लक्ष्यकी सिद्धिके लिए प्रथम आश्रम (=ब्रह्मचर्याश्रम) में उसका मुख्य कर्तव्य होता है : अपनी शक्तियोंका विकास और संचय, मन वाणी और शरीरके संयमके साथ श्रम और तपका आचरण, चरित्रका निर्माण और विद्याका उपार्जन ।

तपसा पारमाप्नोति तपसा हन्ति किल्बिषम् ।
तपसा वर्तमानः स उन्नतेर्मूर्ध्नि तिष्ठति ॥ १२ ॥

तप-द्वारा वह (ब्रह्मचारी) अपने अभीष्ट पदको प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णताको दूरकर अपने चरित्रको उज्ज्वल और पवित्र

---

१. 'ऐतरेयब्राह्मण' १।१३। २. 'सामवेद' पू० २।८।९।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

ता है। तपका आचरण करता हुआ वह उन्नतिके शिखरपर आसीन
ता है।

तपसा निर्मलो भूत्वा परिपाकेन शुद्धधीः।
द्वितीयमाश्रमं गत्वा सर्वस्येष्टे न संशयः॥ १३॥

तपसे चरित्रकी दुर्बलताओंको दूरकर और मनोविकास-द्वारा तत्त्वाव-
नी विशुद्ध बुद्धिको प्राप्त कर वह द्वितीय गृहस्थ-आश्रममें प्रविष्ट होनेपर
ल परिस्थितियोंको अपने अनुकूल बनानेमें समर्थ होता है।

ह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः"[1]।
ह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति"[2] ॥ १४॥

"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते"[3] ॥ १५॥

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्"[4] ॥ १६॥

इत्यादिवेदमन्त्रैश्च वैदिकोदात्तभाषया।
ब्रह्मचर्यस्य माहात्म्यं रहस्यं चोपवर्ण्यते॥ १७॥

"ब्रह्मचर्य-व्रतको धारण करनेवाला ही तेजोमय ब्रह्मको धारण करता
और उसमें समस्त देवता ओत-प्रोत होते हैं (अर्थात् वह समस्त
ताओंसे प्रकाश और शक्तिको प्राप्त कर सकता है)।"

"समिधा और मेखला-द्वारा अपने व्रतोंको पालन करता हुआ
चारी श्रम और तपके प्रभावसे लोकोंको आपूरित करता है।"

"ब्रह्मचर्यके तपसे ही राजा अपने राष्ट्रकी रक्षामें समर्थ होता है।
र्य-द्वारा ही आचार्य ब्रह्मचारीको शिक्षणार्थ चाहता है।"

---

१. अथर्व० ११।५।२४। २. अथर्व० ११।५।४। ३. अथर्व० ११।५।१७।
४. अथर्व० ११।५।१९।

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

"ब्रह्मचर्यके तपसे ही देवताओंने मृत्युको दूर भगा दिया है। ब्रह्मचर्य-द्वारा ही इन्द्रने देवताओंको दिव्य प्रकाश लाकर दिया है।"

इत्यादि वैदिक मन्त्र अपनी उदात्त भाषामें ब्रह्मचर्यकी महिमा और रहस्यका वर्णन करते हैं। ('रश्मिमाला' ११)

८. ब्रह्मचर्यकी महिमा

उद्यमानस्य विवशं भावानां तीव्रधारया।
आत्मविश्वासमाधत्ते ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥ १ ॥

भावोंकी तीव्र धारामें बेबस होकर बहते हुए मनुष्यमें जो आत्म-विश्वासको उत्पन्न करता है उस ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिए।

शारीरं मानसं वापि स्वास्थ्यमाध्यात्मिकं तथा।
अभीष्टं चेत्तदा सर्वैर्ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥ २ ॥

यदि शारीरिक मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्यकी इच्छा है तो सबको ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिए।

चारित्र्यं मानवस्येह जन्मनः सारमुत्तमम्।
तस्य रक्षाकृते भ्रातर् ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥ ३ ॥

मनुष्यके जीवनका चारित्र्य ही उत्तम सार है। उसकी रक्षाके लिए भाई! ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिए।

नानाधिव्याधिखिन्नानां मर्त्यानामौषधं परम्।
निराशायाः समाधानं ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥ ४ ॥

ब्रह्मचर्य नाना प्रकारकी आधियों और व्याधियोंसे खिन्न मनुष्योंकी परम औषध है। वह निराशाका समाधान है। उसका पालन करना चाहिए।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

जीवने यः समुत्कर्षो लोकोत्तरमहात्मनाम् ।
तस्य मूलं रहस्यं च ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥ ५ ॥

लोकोत्तर महापुरुषोंके जीवनमें जो समुत्कर्ष होता है उसका मूल और रहस्य ब्रह्मचर्य है। इसलिए उसका पालन करना चाहिए।

जीवने रिक्तता येयं या चोद्देश्यस्य हीनता ।
क्लेशहेतुस्तदुच्छित्त्यै ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥ ६ ॥

जीवनमें क्लेश देनेवाली रिक्तता अथवा उद्देश्यहीनता देखी जाती है; उसको दूर करनेके लिए ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिए।

वासनानां तमोराशौ मग्नानामन्धचेतसाम् ।
प्रकाशरूपं यत्तत्त्वं ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥ ७ ॥

वासनाओंके घोर अन्धकारमें डूबे हुए तथा सद्-असद्की विवेक-बुद्धिसे हीन लोगोंको प्रकाश देनेवाला तत्त्व ब्रह्मचर्य ही है; उसका पालन करना चाहिए।

मृत्युग्राहेण विभ्रान्तास्त्रस्ताश्चैवानिशं ततः ।
त्राणं यत्केवलं तेषां ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥ ८ ॥

मृत्युरूपी ग्राहसे घबराये हुए और सदा उससे त्रस्त लोगोंकी रक्षाका एकमात्र साधन ब्रह्मचर्य है। उसका पालन करना चाहिए।

जीवनस्य महान् पन्थाः पाथेयं तस्य यन्महत् ।
तत्त्ववेदिभिरादिष्टं ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥ ९ ॥

जीवनका पथ अति लम्बा है। तत्त्ववेत्ताओंने ब्रह्मचर्यको उसका महान् पाथेय बतलाया है। उसका पालन करना चाहिए।

('अमृतमन्थन' ४)

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

९. भगवान्‌में विश्वास

"सः....याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् ।" (यजु० ४०।८)

अर्थात्, हमारे जीवनके ईश्वर-प्रदत्त पदार्थोंमें योग्यता और औचित्य का आधार होता है ।

मनुष्यको कर्तव्य-बुद्धिसे कर्म करते हुए उसके फलको समस्त विश्व-को नियन्त्रणमें रखनेवाले कारुणिक भगवान्‌के निर्णय पर ही छोड़ देना चाहिए । किस कर्ममें किसी फलके देनेकी कितनी और कैसी योग्यता है, इसका निर्णय कर्म करनेवाला स्वयं नहीं कर सकता ।

इसी विषयका प्रतिपादन नीचेके पद्योंमें किया गया है :

कर्तव्यं कर्म कुर्वन्तो यावद्धि पुरुषायुषम् ।
वर्तेरन् मानवाः सर्वे इत्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥१॥

मनुष्योंको अपने जीवन-पर्यन्त कर्तव्य कर्मोंको करते रहना चाहिए—ऐसा वेद[1] में कहा गया है ।

समुद्योगपरैर्भाव्यं जीवने मानवैः सदा ।
परमुद्योगसीमाया धीमान् ध्यानं न विस्मरेत् ॥२॥

मनुष्योंको जीवनमें उद्योग अवश्य करना चाहिए । परन्तु बुद्धिमान् मनुष्यको यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि फलके विषयमें उद्योगकी अपनी सीमा भी होती है । अर्थात्, किसी उद्योगका अभीष्ट फल अवश्य ही होगा, या सदा एक-सा ही फल होगा, यह नहीं कहा जा सकता ।

गर्भागतस्य सर्वस्य स्वीययत्नानपेक्षया ।
ते ते भावा नियम्यन्त एतत्कस्य तिरोहितम् ॥३॥

गर्भावस्थामें आये हुए प्राणीकी अनेक बातोंका नियन्त्रण, अपने यत्नके बिना ही, किसी दूसरी शक्ति-द्वारा होता है, यह किससे छिपा है ?

---

१. तु० "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः" (यजु० ४०।२)।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

स्वास्थ्यं बुद्धिस्तथावस्था संपत्तेरथवेतरा ।
शरीरस्याकृती रूपं पितरौ च कुलं तथा ॥४॥
सर्वस्यापि जनस्यैतज् जीवनेऽतिप्रभावकृत् ।
तथापि सर्व एवात्र विषये विवशा ध्रुवम् ॥५॥

स्वास्थ्य, बुद्धि, सम्पत्ति, दारिद्र्य, शरीरकी आकृति, रूप, माता-पिता और कुल – इन सबका मनुष्यके जीवनपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। तो भी, जन्मके समय इनके विषयमें सब कोई विवश होते हैं।

अभिप्राय यह है कि जन्मके समय मनुष्यके स्वास्थ्य, बुद्धि आदि कैसे हैं, इसमें उसका यत्न कुछ नहीं होता। स्पष्टतः इनका नियन्त्रण किसी दूसरी शक्ति-द्वारा होता है। और उस नियन्त्रणको बरबस सबको मानना ही पड़ता है।

एवमुद्योगकालेऽपि तत्फलं प्रत्यनुत्सुकः ।
नियन्तुर्जगतां पत्युस्तिष्ठेद् विश्वासमाश्रितः ॥६॥

इसी प्रकार उद्योग करते समय भी मनुष्यको चाहिए कि वह, उसके फलके सम्बन्धमें उत्सुकता और उद्विग्नताको छोड़कर, सबको नियन्त्रणमें रखनेवाले विश्वपति भगवान्‌के विश्वासके सहारेपर ही रहे।

वर्तमानेन सन्तुष्टस् तथाप्युन्नत्यभीप्सया ।
समुद्योगपरस्तिष्ठेत् फलं न्यस्य परात्मनि ॥७॥

मनुष्यको वर्तमानसे सन्तुष्ट रहते हुए भी उन्नतिकी इच्छासे उद्योगमें तत्पर होना चाहिए। साथ ही उसे उद्योगके फलको परमात्मापर छोड़कर रहना चाहिए।

तदेतज्जीवनस्याहू रहस्यं परमं बुधाः ।
तज्ज्ञात्वा येऽनुवर्तन्ते भवबाधास्तरन्ति ते ॥८॥

विद्वानोंके अनुसार जीवनका परम रहस्य यही है। इसको समझकर जो इसका अनुसरण करते हैं वे सांसारिक जीवनके दुःख और सन्तापोंको पार कर जाते हैं। ('रश्मिमाला' १८)

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

१०. उत्तरोत्तर उन्नति

"प्र तार्यायुः प्रतरं नवीयः" (ऋग्० १०।५९।१)।

अर्थात्, भगवन् ! हमें उत्तरोत्तर समुन्नति-शील नवीनतर जीवनमें अग्रसर कीजिए !

जन्मजन्मान्तरस्यैतद् विज्ञा आहुः प्रयोजनम् ।
अनुभूतिविशेषैर्यदुत्तरोत्तरमुन्नतिः ॥ १ ॥

विज्ञोंका कहना है कि विभिन्न अनुभवों-द्वारा उत्तरोत्तर उन्नति अथवा विकास ही जन्म-जन्मान्तरका प्रयोजन है ।

तस्माद् यानुभवस्याप्तिर्मानवस्येह जायते ।
दुःखरूपापि सा नूनं मन्तव्या सप्रयोजना ॥ २ ॥

इसलिए मनुष्यको इस जीवनमें दुःख-रूपमें भी जो अनुभव प्राप्त होता है उसको सप्रयोजन ही समझना चाहिए ।

अभिप्राय यह है कि मनुष्यको अपने जीवनकी दुःखात्मक घटनाओंसे न घबराकर उनको, उनसे प्राप्त शिक्षा या अनुभव-द्वारा, अपने उत्तरोत्तर विकासका साधन ही बनाना चाहिए । क्योंकि –

यथार्ज्यते धनं लोके दुःखैः कष्टैश्च भूरिशः ।
तथा तैरर्ज्यते ज्ञानं जनैरनुभवात्मकम् ॥ ३ ॥

जैसे संसारमें अनेक प्रकारके दुःखों और कष्टोंसे धनका संचय किया जाता है, वैसे ही अनुभवात्मक ज्ञान भी अनेक दुःखों और कष्टोंसे संचित किया जाता है ।

('रश्मिमाला' ५१)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

११. अन्धकारसे प्रकाश
अथवा
दुःखागमसे कल्याण

पङ्कादुत्पद्यते पद्ममहो रात्र्याः प्रजायते ।
ग्रीष्मादनन्तरं वर्षा विद्युन्मेघात्प्रजायते ॥ १ ॥
शुक्लपक्षसमारम्भः कृष्णपक्षादनन्तरम् ।
कण्टकाचितवृक्षेभ्यो मनोज्ञकुसुमोद्गमः ॥ २ ॥
दास्यात्स्वतन्त्रतावाप्तिः स्वास्थ्यं रोगादनन्तरम् ।
दारिद्र्यं संपदो भूमिस्तपसः सिद्धिरेव च ॥ ३ ॥
कन्यागर्भात्समुत्पत्तिर्व्यासादीनां महात्मनाम् ।
शूद्रेभ्योऽपि सतां जन्म ज्ञानमज्ञानिनां तथा ॥ ४ ॥
वृत्तेऽस्मिन् दृश्यमाने तु सृष्टावस्यां समन्ततः ।
कस्यांचिद् दुःस्थितौ नैव नैराश्यमुपयुज्यते ॥ ५ ॥
लोकेशस्य जगद्भर्त्तुर् विश्वकल्याणकारिणी ।
प्रवृत्तिर्धीमतां शश्वच् छ्रद्धाविश्वासदायिनी ॥ ६ ॥
सर्वापि दुःस्थितिस्तस्मात् सुस्थितेरेव कारणम् ।
एवं दुःखागमो नूनं कल्याणायैव जायते ॥ ७ ॥
सिद्धान्तमिममाश्रित्य धीरा धैर्यधुरन्धराः ।
निरातङ्काः समुन्नत्यै प्रयतन्ते निरन्तरम् ॥ ८ ॥

१. पंकसे पद्म उत्पन्न होता है, रात्रिसे दिनका जन्म होता है, ग्रीष्मके पश्चात् वर्षा आती है, विद्युत् मेघसे जन्म लेती है ।

२. शुक्लपक्षका प्रारम्भ कृष्णपक्षके अनन्तर होता है, काँटोंसे व्याप्त वृक्षोंसे सुन्दर पुष्पोंका उद्गम होता है ।

३. दास्यसे स्वतन्त्रताकी प्राप्ति होती है, रोगके पश्चात् स्वास्थ्यलाभ

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

होता है, जहाँ दारिद्रय है वहीं सम्पत्ति आती है, कष्टमय तपसे ही सिद्धि प्राप्त होती है।

४. कन्याके गर्भसे व्यासादि महात्माओंका जन्म होता है, शूद्रोंसे भी सन्तोंका जन्म होता है, अज्ञानियोंको ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

५. इस सृष्टिमें जब सब ओर यह बात दिखाई दे रही है, तब किसी भी दुरवस्थामें निराश होना उपयुक्त नहीं है।

६. जगत्का पोषण करनेवाले, लोकोंके स्वामी भगवान्की विश्वका कल्याण करनेवाली प्रवृत्ति बुद्धिमानोंमें सदा श्रद्धा और विश्वासको उत्पन्न करती है।

७. इसलिए 'सारी दुरवस्था अच्छी स्थितिका पूर्वरूप हुआ करती है, एवं दुःखका आगमन भी कल्याणके लिए ही हुआ करता है'–

८. इसी सिद्धान्तका आश्रय लेकर धैर्य-धुरन्धर धीर लोग निर्भयताके साथ सदा उन्नतिके लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ('अमृतमन्थन' २६

१२. प्रगतिका अनन्त मार्ग

अनन्ते प्रगतेर्मार्गे गच्छन्सोल्लासमानसः।
नानाविधानि दृश्यानि पश्यन्नानन्दनिर्भरः॥ १॥
अनासक्तः क्वचित्, स्वीयं यात्रोद्देश्यं च संस्मरन्।
सर्वदा सर्वथा स्वस्थः सदानन्दो वसाम्यहम्॥ २॥

प्रगतिके अनन्त मार्गपर मनमें उल्लासके साथ चलते हुए, नाना प्रकारके दृश्योंको आनन्दातिशयसे देखते हुए,

कहीं भी आसक्त न होकर अपनी यात्राके उद्देश्यको स्मरणमें रखते हुए, सर्वदा सब प्रकारसे शान्त-चित्त, मैं सदा आनन्दसे रहता हूँ!

('अमृतमन्थन' ५६

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

१३. हृदयोल्लास

"ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति" (ऋग्० ४।२३।८)

अर्थात्, प्राकृतिक नियमोंका अनुसरण मनुष्यके हृदयकी मलिनता और अनुत्साहको दूर करता है।

मनुष्येण विना कश्चिदन्यः प्राणी न विद्यते।
यस्य दृष्टाविय सृष्टिरुल्लासाय न जायते ॥ १ ॥

मनुष्यको छोड़कर कोई दूसरा प्राणी संसारमें ऐसा नहीं है जिसकी दृष्टिमें यह सृष्टि उल्लास और प्रसन्नताको देनेवाली न हो।

पक्षिणः पशवो वापि मनुष्यैर्न वशीकृताः।
क्रीडन्त इव दृश्यन्ते सृष्टेर्दृश्यैरनेकशः ॥ २ ॥

मनुष्यके वशमें न आये हुए पक्षी और पशु भी सृष्टिके विभिन्न दृश्योंसे मानो खेलते हुए देखे जाते हैं।

स्वागतं ननु सोत्कण्ठाः कुर्वन्तोऽहर्मुखस्य ते।
प्रातरुत्थाय कूजन्तः पक्षिणः केन न श्रुताः ? ॥ ३ ॥

प्रातः उठकर कोमल मधुर शब्द करते हुए, मानो उत्कण्ठाके साथ दिनका स्वागत करते हुए, पक्षियोंको किसने नहीं सुना है ?

उत्प्लुत्योत्प्लुत्य धावन्त उल्लासेनावशा इव।
अरण्येषु मृगाः केन न दृष्टा मोदनिर्भराः ? ॥ ४ ॥

हर्ष और आनन्दसे मानो विवश होकर, जंगलोंमें उछल-उछलकर दौड़ते हुए, आनन्दसे विभोर मृगोंको किसने नहीं देखा है ?

प्राणिनां बुद्धिजीवित्वात् तिष्ठतां मूर्ध्नि सर्वथा।
दुर्दशेयं मनुष्याणां कुत एतद्विचिन्त्यते ॥ ५ ॥

बुद्धिजीवी होनेके कारण मनुष्योंका स्थान सर्वथा सब प्राणियोंमें ऊँचा है। फिर भी मनुष्योंकी यह दुर्दशा क्यों है ? यह हमको विचार करना है।

aGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

प्रकृत्या सह सम्पर्कं त्यक्त्वा स्वास्थ्यैककारणम् ।
इन्द्रियार्थेषु लोलानां मनुष्याणामियं गतिः ॥ ६ ॥

ऊपरके प्रश्नका उत्तर यही है कि आरोग्य और प्रसन्नताका मुख्य कारण है—प्रकृतिके साथ सम्पर्क अथवा प्राकृतिक जीवन-चर्या। इन्द्रियोंके विषयमें आसक्त होकर मनुष्योंने उस सम्पर्कको छोड़ दिया है। उनकी वर्तमान निराशामय स्थितिका, जिसमें उन्हें सृष्टिके दृश्योंमें उल्लास नहीं प्रतीत होता, यही कारण है।

('रश्मिमाला' २०)

१४. मानवताका महत्त्व

'वैदिक धाराकी व्यापक दृष्टि' (परिच्छेद ९) के प्रसंगमें हमने ऊपर वैदिक धाराके मानवीय पक्षको संक्षेपमें दिखलाया है।

वास्तवमें वैदिक संस्कृतिका मौलिक आधार मानवताका सम्मान और महत्त्वके सिद्धान्तपर अवस्थित था। इसीलिए 'शतपथब्राह्मण' (२।५।१।१) में कहा गया है –

"पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्।" अर्थात्, सब प्राणियोंमें मनुष्य सृष्टिकर्ता परमेश्वरके सबसे अधिक समीप है।

निम्नस्थ पद्यात्मक रचना इसी आधारको लेकर लिखी गयी है –

उत्पाद्य सकलां सृष्टिमसन्तुष्टः प्रजापतिः।
सृष्टवानात्मरूपेण मन्ये मानुष्यकं महत् ॥१॥

समस्त सृष्टिको उत्पन्न करके प्रजापति (ब्रह्मा)को सन्तोष नहीं हुआ। तब उन्होंने, हमारे मतमें, अपने रूपमें महान् मानवताकी सृष्टि की।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

परात्मनः स्वरूपं तदानन्दरसनिर्भरम् ।
निर्मलं शाश्वतं शान्तं प्रेमकारुण्यसुन्दरम् ॥२॥
कुत्राप्यन्यत्र सुस्थानं न दृष्ट्वा खिन्नमानसम् ।
स्वस्थं तिष्ठति यत्रैतन् मन्ये मानुष्यकं महत् ॥३॥

आनन्दरससे परिपूर्ण, निर्मल, शाश्वत, शान्त और प्रेम तथा करुणासे
र परमात्माका वह स्वरूप मानवतासे अन्यत्र कहीं भी अपने योग्य
र स्थानको न पाकर, खिन्नमनस्क होकर, जहाँ आरामसे रह सकता
हमारे मतमें, वह महान् मानवता ही है ।

अभिप्राय यह है कि परमात्माके उक्त परम पवित्र स्वरूपका साक्षात्-
र मानव ही कर सकता है तथा मानवतामें ही वह स्वरूप मूर्तिमान्
र दृष्टिगोचर हो रहा है ।

इसी अर्थको नीचे स्पष्ट किया गया है—

केवलं तत्र पश्यन्ति महात्मानो मनीषिणः ।
योगिनस्तत्त्ववेत्तारस्तस्मात्खान्तःस्थमव्ययम् ॥४॥
भास्वरं परमं तत्त्वं सर्वक्लेशविवर्जितम् ।
तन्नूनं सुतरां पुण्यं मन्ये मानुष्यकं महत् ॥५॥

उक्त कारणसे ही मनीषी महात्मागण तथा तत्त्ववेत्ता योगीजन अपने
करणमें अवस्थित अव्यय, प्रकाशस्वरूप तथा सर्वक्लेशोंसे रहित उस
तत्त्वको मानवतामें ही देखते हैं । इसलिए, हमारे मतमें, मानवता
धिक पवित्र और महान् है ।

विश्वस्मादुत्तरं तस्मात् सारवद् विश्वतोमुखम् ।
विश्वभुग् विश्वद्रष्टृत्वपदे नित्यं प्रतिष्ठितम् ॥६॥
आश्चर्यमद्भुतं दिव्यगुणग्रामनिकेतनम् ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षि मन्ये मानुष्यकं महत् ॥७॥

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

इसलिए, हमारे मतमें, महान् मानवताका महत्त्व सबसे अधिक है। सारी सृष्टिका वह सार है। उसकी दृष्टि चारों ओर फैली हुई है। वह विश्वका उपभोग करती है और सदा विश्वके द्रष्टाके पदपर वह अवस्थित है। वह आश्चर्यरूप और अद्भुत है। दिव्य गुणोंका स्थान है। और उसके विकासका क्षेत्र अनन्त है।

धन्यास्ते तत्त्वमेतद् येऽसंशयेन विजानते।
अन्तरायशतेऽप्यग्र्या नात्मानमवजानते ॥८॥
किं च मानवमात्रस्य मानमातन्वते सदा।
नृषु सर्वेषु पश्यन्तो मन्ये मानुष्यकं महत् ॥९॥

जो इस तत्त्वको निस्संशयरूपसे जानते हैं, वे धन्य हैं। वे अनेकानेक विघ्नोंके आनेपर भी अपने आत्माकी अवज्ञा नहीं करते, अपनेमें हीन भावना नहीं आने देते हैं। किन्तु वे सब मनुष्योंमें रहनेवाली महान् मानवताको ध्यानमें रखते हुए सदा प्रत्येक मनुष्यको सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं।

नरनारायणौ नित्यं केवलं यत्र तिष्ठतः।
भ्रातृभावं समापन्नौ परमं सख्यमाश्रितौ ॥१०॥
देवानामपि सर्वेषां स्थितिर्यत्रैव लभ्यते।
धर्मस्य तदधिष्ठानं मन्ये मानुष्यकं महत् ॥११॥

जिस मानवतामें ही भ्रातृभावको प्राप्त होकर अथवा अत्यन्त सखिभावसे नर और नारायण दोनों एक साथ रहते हैं, समस्त देवताओंकी स्थितिका अनुभव जिसमें होता है तथा जो धर्मका भी अधिष्ठान है, हमारे मतमें, वह मानवता महान् है।

अभिप्राय यह है कि नर और नारायण अर्थात् मनुष्य और उसके आदर्शदेवका योग मानवको छोड़ और कहीं नहीं हो सकता। इसी प्रकार मनुष्यको छोड़ देवता अथवा धर्म भी और कहीं नहीं रह सकते।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

ऋषयस्तत्त्वमर्मज्ञा मुनयो गतमत्सराः ।
विक्रान्तयशसः शूराः सन्तश्चारित्र्यभूषणाः ॥१२॥
स्वोत्कर्षं यदवाप्यैव प्राप्तुं शक्ता असंशयम् ।
तत्पदं परमोत्कृष्टं मन्ये मानुष्यकं महत् ॥१३॥

पदार्थोंके मर्मको जाननेवाले ऋषिगण, मद तथा मात्सर्यसे रहित मुनि-, पराक्रमशील शूर-वीर और चारित्र्यसे भूषित सत्पुरुष जिस स्थितिमें र ही अपने-अपने उत्कर्षको पा सकते हैं, हम उस मानवताको महान् परम उत्कृष्ट मानते हैं ।

('जीवनसन्देशगीतांजलि'से)

१५. महामानवका स्वरूप

उपकाराय लोकस्योद्युक्ताः प्राणपणैरपि ।
उत्कटास्वपि बाधासूपस्थितासूर्ध्वगामिनः ॥१॥
अज्ञानतिमिरौघस्य वारणायाग्निसंनिभाः ।
महामानवसंज्ञां ते भजन्ते विश्वविश्रुताः ॥२॥

जो लोकके उपकारके लिए प्राण-पणसे उद्यत रहते हैं, जो उत्कट बाधाके उपस्थित होनेपर भी ऊर्ध्वगामी (उनका अतिक्रमण करनेवाले) हैं, और जो अज्ञानरूपी घोर अन्धकारके हटानेके लिए अग्नि-देवके होते हैं, वे ही विश्व-प्रसिद्ध व्यक्ति महामानव संज्ञाको प्राप्त हैं।

लोककल्याणकार्येषु वृत्ररूपेण तिष्ठताम् ।
प्रबलानामरातीनाम् उन्मूलनविशारदाः ॥३॥
नूनमिन्द्रसमाः शूरा महासत्त्वा यशस्विनः ।
महामानवसंज्ञां ते भजन्ते विश्वविश्रुताः ॥४॥

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

जो लोक-कल्याणके कार्योंमें वृत्रासुरके रूपमें रहनेवाले प्रबल शत्रुओंके उन्मूलनमें विशारद होते हैं, अतएव जो वृत्र-शत्रु इन्द्रके समान शूर, महासत्त्व और यशस्वी होते हैं, वे ही विश्व-प्रसिद्ध व्यक्ति महामानव संज्ञाको प्राप्त होते हैं।

व्रियन्ते धर्मवृद्ध्यर्थं ये सन्नीतिपथानुगैः।
नित्यमुद्योगशीला ये पापाचारनिवारणे ॥५॥
वरुणेन समा नूनं दिव्यभावैरलंकृताः।
महामानवसंज्ञां ते भजन्ते विश्वविश्रुताः ॥६॥

धर्मकी वृद्धिके लिए सन्नीति (नैतिकता) के मार्गपर चलनेवालोंद्वारा जिनका नेतृत्व रूपमें वरण किया जाता है, जो स्वयं पापाचारके निवारणमें सदा उद्योगशील रहते हैं, जो दिव्य पवित्र भावोंसे शोभायमान होते हुए वरुण-देवके समान होते हैं, वे ही विश्वप्रसिद्ध व्यक्ति महामानव संज्ञाको प्राप्त होते हैं।

धर्ममेघसमाधावप्यास्थिता न मुमुक्षवः।
प्राणिनां दुःखतप्तानाम् उद्धारैकपरायणाः ॥७॥
भगवद्बुद्धसदृशा लोककल्याणसेतवः।
महामानवसंज्ञां ते भजन्ते विश्वविश्रुताः ॥८॥

धर्ममेघ-नामक[1] उत्कृष्ट समाधिमें स्थित होते हुए भी जो स्वयं मोक्षकी इच्छा न रखते हुए दुःखोंके तापसे तप्त प्राणियोंके उद्धारमें ही लगे रहते हैं,[2] और इसीलिए लोक-कल्याणके सेतुरूप होते हुए भगवान् बुद्धके सदृश

---

१. तु० "प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः" (योगसूत्र ४।२९)।

२. तु० "न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् पराम् अष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजाम् अन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥"
(भागवत ९।२१।१२)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

हैं, वे ही विश्व-प्रसिद्ध व्यक्ति महामानव संज्ञाको प्राप्त होते हैं ।

आन्तराणामरातीनां विजयव्रतधारिणः ।
आत्मविश्वासमालम्ब्य परमं लक्ष्यमीप्सवः ॥९॥
महावीरसमा धीरा अहिंसाभावमाश्रिताः ।
महामानवसंज्ञां ते भजन्ते विश्वविश्रुताः ॥१०॥

जो काम, क्रोध, मद आदि आन्तरिक शत्रुओंको विजयके व्रतको धारण करनेवाले होते हैं, जो अपने ही विश्वासके बलपर जीवनके परम लक्ष्यको प्राप्त करनेके इच्छुक होते हैं, जिन्होंने अहिंसाकी भावनाको ग्रहण किया है और अतएव जो धीर-वीर भगवान् महावीरके समान होते हैं, वे ही विश्व-प्रसिद्ध व्यक्ति महामानव संज्ञाको प्राप्त होते हैं ।

प्रवृद्धेऽधर्मसन्तापे परितः पृथिवीमिमाम् ।
स्वार्थान्धवृत्त्यसद्वृत्तैः खिलीभूतेऽथ सत्पथे ॥११॥
धर्मसंस्थापनार्थाय जायन्ते ये महोदयाः ।
महामानवसंज्ञां ते भजन्ते विश्वविश्रुताः ॥१२॥

इस पृथ्वीपर चारों ओर अधर्मके सन्तापके बढ़ जानेपर और स्वार्थ-अन्ध विवेकशून्य प्रवृत्तिवाले असदाचारी लोगों-द्वारा धार्मिक आचारके नष्ट हो जानेपर जो महोदय धर्मकी स्थापनाके लिए जन्म लेते हैं, वे ही विश्व-प्रसिद्ध व्यक्ति महामानव संज्ञाको प्राप्त होते हैं ।

('जीवनसन्देशगीतांजलि'से)

१६. वैदिक शक्ति-साधना

वेद-मन्त्रोंके आधारपर आदर्शरक्षा तथा आत्मरक्षाकी भावनाका वर्णन ऊपर परिच्छेद ९में किया है ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि उक्त दोनों प्रकारकी रक्षाके लिए शक्ति-साधना अथवा बल-सम्पादनकी नितरां आवश्यकता होती है।

वास्तवमें सब दृष्टियोंसे मनुष्यके लिए दुर्बलतासे गुरुतर पाप संसारमें नहीं है।

कृशे कस्यास्ति सौहृदम् ?

यह एक प्रसिद्ध उक्ति है। इसीलिए वेदोंमें बल-सम्पादन अथवा शक्ति-साधनाकी तीव्र भावना सर्वत्र व्याप्त पायी जाती है। वास्तवमें वैदिक इन्द्रका देवतात्व इसी भावनाका एक महान् प्रतीक है। इसीलिए 'निरुक्त' (७।१०) में कहा है—

"या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्[1]"

अर्थात्, मन्त्रोंमें वृत्रवध आदि जो भी बल-प्रयुक्त वर्णन मिलते हैं उन सबको इन्द्रका ही कर्म समझना चाहिए।

उक्त भावनासे परिप्लुत वेद-मन्त्रोंके उदाहरणोंको देखिए—

वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि।
(यजु० १९।९)

अर्थात्,

हे देव !

आप वीर्य-रूप हैं, मुझे वीर्यवान् कीजिए !

आप बल-रूप हैं, मुझे बलवान् बनाइए !

बलं धेहि तनूषु नो बलमिन्द्रानळुत्सु नः।
बलं तोकाय तनयाय जीवसे त्वं हि बलदा असि॥
(ऋग्० ३।५३।१८)

---

१. तु० "ऐन्द्रस्तु मन्त्रो···बलकृत्या बलेन च" (बृहद्देवता १।८७)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0 In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

अर्थात्, हे इन्द्रदेव ! आप हमारे शरीरोंमें बल दीजिए। युद्धोपयोगी रथ ले जानेवाले हमारे बैलोंमें बल दीजिए। हमारी पुत्र-पौत्रादि प्रजाओंको सफल जीवन-यात्राके लिए बलशाली बनाइए। देव ! तुम ही एकमात्र बलको देनेवाले हो।

वाज और बल मूलमें समानार्थक शब्द हैं। वाजके लिए हार्दिक प्रार्थनाएं अनेकानेक मन्त्रोंमें पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ,

वाजो हि मा सर्ववीरं जजान
विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम्।

(यजु० १८।३३)

अर्थात्, बलसम्पादन-द्वारा ही मैं वीरोंमें वीर हो सका हूँ। मेरी कामना है कि बल-द्वारा मैं सब दिशाओंमें विजयशील बनूँ !

सोऽहं वाजꣳ सनेयमग्ने !

(यजु० १८।३५)

अर्थात्, हे अग्निदेव ! ऐसा अनुग्रह कीजिए कि मैं बलसम्पादन करूँ !

ऐसी ही प्रार्थनाओंके आधारपर, एक ही स्थानमें शतशः मन्त्रोंकी श्रेष्ठ भावनाओंके एकत्रीकरणके उद्देश्यसे, वैदिक छन्द, शब्दावली, और विचारधाराके अनुसार, एक वाजसूक्तकी रचना हमने स्वयं बार की थी। हिन्दी अनुवाद और भावार्थके साथ, उपयुक्त समझकर, हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

वाजसूक्त

वाजस्य नु प्रसवे तं महान्तमिन्द्रं देवं वृत्रहन्तारमीडे।
विश्वकर्माणं मघवानमुग्रं सायं प्रातर्मन्मना वज्रहस्तम्॥१॥

बनेमें वाज या शक्तिकी प्रेरणाके उद्देश्यसे मैं, सायं और प्रातः, मन-द्वारा वृत्र अथवा बाधक शक्तियोंके निवारक उस महान् देव इन्द्र-

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

रूप परमात्माकी स्तुति करता हूँ, जो विश्वकर्मा, मघवा (ऐश्वर्यशाली), उग्र और वज्रहस्त है।

यस्ते वाजो निहितो वाजपते !
अग्नौ सूर्ये वायावथ स्रोत्यासु।
तेन नो वाजिन् वाजवतो विधेहि ॥२॥

(गद्यात्मक रचना)

हे शक्तिके निधान परमात्मन् ! जो आपकी अनन्त शक्ति अग्निमें, सूर्यमें, वायुमें और नदियोंमें कार्य कर रही है, भगवन् ! उससे आप हम सबको शक्तिशाली बनाइए।

आज विज्ञानने यह सिद्ध कर दिया है कि उक्त भौतिक पदार्थोंमें अनन्तानन्त शक्ति निहित है और उस शक्तिका उपयोग भी विश्वके व्यावहारिक हितके लिए किया जा सकता है।

इसी सिद्धान्तका विवरण नीचेकी रचनामें किया गया है—

वाजेन सूर्यस्तम आभिनत्ति वाजेन वायुस्तरसा प्रवाति।
वाजेन विद्युद् द्योतते सशब्दं वाजेन नद्यः प्रवहन्ति वेगात् ॥३॥

वाजसे ही सूर्य अन्धकारको दूर करता है। वाजसे ही वायु बलपूर्वक चलता है। वाजसे ही विद्युत् कड़कड़ाहटके साथ चमकती है और वाजसे ही नदियाँ वेगके साथ बहती हैं।

वाजेन वीरा विजयं लभन्ते वाजेनेन्द्रो जायते वृत्रहन्ता।
वाजेन विश्वं रुचमादधाति वाजं विना परितो वर्धते तमः ॥४॥

बल-द्वारा ही वीर जन विजयको प्राप्त करते हैं। बल या शक्ति-द्वारा ही समुन्नतिशील व्यक्ति (इन्द्र) अपने लक्ष्यकी समस्त बाधाओं (वृत्र) को दूर करता है। बल और शक्ति होनेपर समस्त संसार दीप्तिसे युक्त अर्थात् रोचक प्रतीत होता है। और बलके अभावमें निर्बल व्यक्तियोंको अपने चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार फैलता हुआ दीखता है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

वाजः पृथिव्यां दिवि चान्तरिक्षे वाजो विश्वं भुवनमाविवेश ।
आधींश्च व्याधींश्च निवारयन्तो वाजेन शत्रून् सहसा जयेम ॥५॥

वाज पृथ्वी, द्युलोक और अन्तरिक्षलोकमें विद्यमान है। वाज समस्त
प्रारम्भसे ही व्याप्त था। हम अपने मानसिक कष्टों और शारीरिक
व्याधियों-दुर्बलताओंका निवारण करते हुए वाजसे समस्त आन्तरिक और
शत्रुओंपर सहसा विजय प्राप्त करें!

वाजो हि मा सर्ववीरं करोतु सर्वा आशा वाजपतिर्जयेयम् ।
वाजः पुरस्तादुत पृष्ठतो मे सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम् ॥६॥

मेरे सब पुत्र-पौत्रादि बलसे युक्त हों और मैं बलशाली होता हुआ
दिशाओंमें विजय प्राप्त करूँ! मेरे सामने बल हो और मेरे पीछे
बल हो और इस प्रकार बलसे युक्त होकर मैं समस्त दिशाओंमें
ता और समृद्धिको प्राप्त करूँ!

अगली रचनामें, जो गद्यात्मक है, यह बतलाया है कि बलको प्राप्त-
में किन-किन महान् लक्ष्योंकी प्राप्तिके लिए उसका उपयोग करना
ता हूँ—

धीतिश्च मे क्रतुश्च मे, वाक् च मे मनश्च मे,
ओजश्च मे सहश्च मे, शर्म च मे वर्म च मे, आत्मा च
मे तनूश्च मे, महिमा च मे वरिमा च मे, सत्यं च मे
श्रद्धा च मे, क्रीडा च मे मोदश्च मे, सूक्तं च मे सुकृतं
च मे, व्रतं च मे तपश्च मे वाजेन कल्पन्ताम् ॥७॥

अर्थात्, भगवन्! बल अथवा शक्तिसे सम्पन्न होकर मैं यही चाहता
कि मैं अपने जीवनमें उदात्त लक्ष्यों और गुणोंकी प्राप्ति कर सकूँ!

—

मुझमें विचार (धीति) और उसको कार्यरूपमें परिणत करनेका
या शक्ति (क्रतु) दोनों हों;

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

मुझमें वाक्-शक्तिके साथ-साथ विचार-शक्ति भी हो;

मुझमें बल (ओजः) और उसके द्वारा दूसरोंको प्रभावित करनेकी शक्ति (सहः) दोनों हों;

मुझमें शान्ति-प्रसन्नता (शर्म) और आत्म-रक्षाकी शक्ति (कर्म) दोनों हों;

मेरी आत्मिक उन्नतिके साथ-साथ शरीरकी स्वस्थता भी हो;

मेरे महत्त्वके साथ-साथ मेरे प्रभाव-क्षेत्रकी भी वृद्धि हो;

सत्यके अनुसन्धानके साथ-साथ मुझमें श्रद्धाकी भावना भी हो;

मैं निर्दोष क्रियाओंमें भाग लेता हुआ मोद-प्रमोदको प्राप्त करूँ;

मुझे सूक्तों-सुभाषितोंका ज्ञान हो और साथ ही मेरा आचरण भी तदनुसार हो;

मैं व्रतोंके पालन-द्वारा तप अर्थात् कष्ट-सहिष्णुताका अभ्यासी बनूँ !

इस प्रकार वैदिक धर्मके अनुसार बलकी प्राप्तिका लक्ष्य अपनेमें उत्कृष्ट गुणोंका सम्पादन करना है, न कि दूसरोंको सताना या पीड़ा देना ।

('जीवनसन्देशगीताञ्जलि'से)

१७. विश्वकल्याण-भावना

(वैदिक पद्धतिमें)

परिच्छेद ८ में हमने वैदिक उदात्त भावनाओंके प्रसंगमें 'भद्र भावना'का विशद वर्णन किया है ।

इसी सम्बन्धमें वैदिक छन्द, शब्दावली और शैलीमें लिखी गयी एक रचनाको यहाँ हम उद्धृत करते हैं –

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

भद्रं भद्रं सर्वतो नः समेयाद्,
भद्रा वाचः सुमनसो वदेम।
भद्रं मनो भद्रकामाय भूयात्,
कामे कामे नो भद्रं विरोचताम् ॥१॥

हमें सब ओरसे केवल भद्र अथवा कल्याण ही प्राप्त होवे! हम सुमनाओंसे युक्त होकर कल्याणमय वाणीको ही बोलें! विशुद्ध विचारों-युक्त हमारे मनकी कामनाएँ भी कल्याणमय हों! हमारी प्रत्येक कामनामें कल्याणका प्रकाश हो!

ग्रामे ग्रामे नो भद्रं विराजताम्,
भासतां भद्रं समितौ सभायाम्।
भद्रं राज्येषु विश्वतः समृध्याद्,
भद्रं पृथिव्यां प्रथतां समन्तात् ॥२॥

हमारे ग्राम-ग्राममें भद्रभावना सुशोभित हो! हमारी समितियों और सभाओंमें उसका प्रकाश हो! राज्योंमें सब ओरसे भद्रभावनाकी वृद्धि हो! और इस प्रकार समस्त पृथ्वीपर उसका विस्तार हो!

परस्परं भद्रं समाचरन्तो,
न मायिनो मानुषीणां प्रजानाम्।
आतन्वन्तः शिवतातिं वरिष्ठाम्,
इहैव लोकेऽमृतमाभजेम ॥३॥

हम निश्छल भावसे परस्पर कल्याणका आचरण करते हुए और प्रजा-मात्रके लिए श्रेष्ठ मंगलका विस्तार करते हुए इसी लोकमें अमृतत्व-का सेवन करें!

विप्राः कवयो भद्रवाचो भवन्तो,
भद्रं राजानो राज्यधुरं वहन्तः।
भद्रं गुरौ शिक्षमाणा वसन्तो,
भद्रं वयं सर्वत आवदेम ॥४॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

हमारे कवि सात्त्विक विचारोंसे युक्त होकर कल्याणमय वाणीका प्रसार करनेवाले हों! शासक लोक-कल्याणके आदर्शसे प्रेरित होकर राज्यका शासन करें! गुरु और शिष्यका पारस्परिक सम्बन्ध भी कल्याण-मय हो! इस प्रकार हम सब अपने चारों ओर कल्याणका ही वातावरण उपस्थित कर दें!

भद्रं नः करोत्वनिशमन्तरिक्षं,
भद्रं नो वायुः पवमानः प्रवातु।
भद्रं भद्रं द्यावापृथिव्यौ भवेताम्,
भद्रं मरुतो वृष्टिवाहा भवन्तु ॥५॥

अन्तरिक्ष हमारे लिए कल्याणकारी हो! पवित्रताधायक वायु हमारे लिए कल्याणकारी होकर चले! द्युलोक और पृथिवी-लोक हमारे लिए सदा मंगलकारी हों! मरुद्गण भी वृष्टि-द्वारा विश्वका कल्याण करें!

('जीवनसन्देशगीतांजलि'से)

१८. मूल-तत्त्वमें आस्था

प्रेमकारुण्ययोर्धाम तत्त्वं विश्वनियन्तृ यत्।
जीवनस्य परं मूलं तदहं नित्यमाश्रये ॥ १ ॥

जो मूलतत्त्व प्रेम और कारुण्यका स्थान है, जो समस्त विश्वको नियन्त्रणमें रखता है, जो जीवनका परममूल है, मैं सदा उसीका आश्रय लेता हूँ।

विस्मृतेनापि बहुधा मया मोहवशेन हा!
विस्मर्ये न क्षणं येन तदहं नित्यमाश्रये ॥ २ ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

हा ! मैं मोहवश प्रायः उसे भूले रहता हूँ । पर जो क्षण-भरके लिए मुझे नहीं भुलाता, मैं सदा उसीका आश्रय लेता हूँ ।

प्राणानामपि मे प्राणः परमं यत्परायणम् ।
वरेण्यं शरणं पुण्यं तदहं नित्यमाश्रये ॥ ३ ॥

जो मेरे प्राणोंका भी प्राण है, जो जीवनका परम उत्कृष्ट आदर्श है, वरणीय पवित्र शरण-स्थान है, मैं सदा उसीका आश्रय लेता हूँ ।

ध्यायते योगिभिर्नित्यं ज्ञानिभिश्चिन्त्यते तथा ।
भक्ता गानरता यस्य तदहं नित्यमाश्रये ॥४॥

योगी सदा जिसका ध्यान करते हैं, ज्ञानी जिसका चिन्तन करते हैं, भक्तजन जिसके गानमें रत रहते हैं, मैं सदा उसीका आश्रय लेता हूँ ।

सन्तोऽपि यस्य सत्ताया विश्वासेन निरन्तरम् ।
जीवन्मुक्ता वसन्तीह तदहं नित्यमाश्रये ॥५॥

सन्त-महात्मा जिसकी सत्ताके विश्वाससे संसारमें निरन्तर जीवन्मुक्तों-जीवन व्यतीत करते हैं, मैं सदा उसीका आश्रय लेता हूँ ।

गीयते कीर्तिसंगीतं सुगन्धिसुमनोहरैः ।
निःशब्दं कुसुमैर्यस्य तदहं नित्यमाश्रये ॥६॥

सुगन्धित मनोहर पुष्प जिसकी कीर्तिके संगीतका निःशब्द-भावसे करते हैं, मैं सदा उसीका आश्रय लेता हूँ ।

सौन्दर्यं विश्वविस्तीर्णं कवयः क्रान्तदर्शिनः ।
पश्यन्त्यलौकिकं यस्य तदहं नित्यमाश्रये ॥७॥

जिसके समस्त विश्वमें फैले हुए अलौकिक सौन्दर्यको क्रान्त-दर्शी कवि-देखते हैं, मैं सदा उसीका आश्रय लेता हूँ ।

शुद्धोदात्तविचारेषु परार्थे जीवने तथा ।
मन्ये मे दर्शनं यस्य तदहं नित्यमाश्रये ॥८॥

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

पवित्र उदात्त विचारोंमें तथा परार्थ जीवनमें मुझे जिसकी झाँकी मिलती है, मैं सदा उसीका आश्रय लेता हूँ।

व्यष्टेरस्या मदीयायाः सर्वस्वं निलयस्तथा।
समष्टिरूपं यत्तत्त्वं तदहं नित्यमाश्रये ॥९॥

जो विश्वका समष्टि-रूप तत्त्व मेरी इस व्यष्टि (=व्यक्ति)का सर्वस्व और एकमात्र निकेतन है, मैं सदा उसीका आश्रय लेता हूँ।

अपूर्णतासु सर्वासु तथाकाङ्क्षास्वसंशयम्।
संकेतो यस्य पूर्णस्य तदहं नित्यमाश्रये ॥१०॥

समस्त अपूर्णताओंमें तथा समस्त आकांक्षाओंमें जिस पूर्ण-तत्त्वका निश्चित संकेत मिलता है, मैं सदा उसीका आश्रय लेता हूँ।

यन्नूनं परमं सत्यं नैव किञ्चिद् बहिर्यतः।
सन्निधावथ दूरे यत् तदहं नित्यमाश्रये ॥११॥

निश्चय ही जो परम सत्य है, जिससे बाहर कुछ भी नहीं है, जो पास भी है और दूर भी है, मैं सदा उसीका आश्रय लेता हूँ।

('जीवनसन्देशगीतांजलि'से)

१९. जीवनका परम लक्ष्य

सद्भावनाप्रसूनैर्यद् वासितं सुमनोहरम्।
सर्वलोकसमाकर्षि तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ १ ॥

सद्भावना-रूपी कुसुमोंसे जो सुरभित और सुमनोहर है, जो समस्त लोकको आकृष्ट करनेवाला है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो!

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

नैराश्यमन्धतामिस्रं यतः सर्वं निवर्तते ।
आशाप्रकाशविच्छिन्नं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ २ ॥

आशाके प्रकाशसे विच्छिन्न होकर घोर अन्धकाररूपी सारा नैराश्य जिससे निवृत्त हो जाता है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

सेवितं सततं सद्भिः सूरिभिर्गतमत्सरैः ।
सदाचारपरैः शुद्धैस्तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ३ ॥

ईर्ष्यासे रहित, सदाचारमें तत्पर, पवित्रात्मा और विद्वान् सत्पुरुषों-द्वारा जो सदा सेवित है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

सति दुःखेऽप्यनुद्विग्नमादर्शमनु निश्चितम् ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षि तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ४ ॥

दुःखके आनेपर भी जो उद्विग्नतासे रहित है, आदर्शके प्रति जो दृढ और उत्तरोत्तर उत्कर्ष करनेवाला है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

सत्यानुसन्धानपरा लोककल्याणसेतवः ।
आश्रित्य यत्स्थिता धीरास्तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ५ ॥

सत्यके अनुसन्धानमें तत्पर और लोकके कल्याणके लिए सेतु-रूप धीर जिसका आश्रय लेकर सदा रहते हैं, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

विषादेनावसादेन निर्मुक्तं मुक्तसंशयम् ।
कर्त्तव्यपथमारूढं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ६ ॥

विषाद और अवसादसे जो रहित है, संशय जहाँ नहीं है और कर्तव्य-मार्गपर जो आरूढ है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

श्रमेण तपसा नित्यं संयमेन समन्वितम् ।
विनयेनापि संजुष्टं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ७ ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

जो श्रम, तपस् और संयमसे सदा समन्वित है और विनय भी जहाँ विद्यमान है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

येनेदं मधुमद् विश्वं स्वयं यन्मधुमत्तमम् ।
मधु यन्मधुविद्यायास्तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ८ ॥

जिससे विश्वका माधुर्य सम्पन्न होता है, जो स्वयं निरतिशय माधुर्यसे युक्त है, जो मधु-विद्या'[1] का मधु है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

प्रेम्णा स्नेहेन दिव्येन कारुण्येनार्जवेन च ।
पृथिवी स्वर्गायते येन तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ९ ॥

जिसके कारण दिव्य प्रेम और स्नेहसे तथा कारुण्य और आर्जवसे यह पृथिवी स्वर्ग बन जाती है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

भाषासीमामतिक्रम्य स्वरूपेणैव संस्थितम् ।
यदेतच्छाश्वतं तथ्यं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ १० ॥

भाषाकी सीमाका अतिक्रमण करके जो अपने रूपसे ही स्थित है और जो शाश्वत तथ्य-रूप है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

तत्तन्नामभिराख्यातं विभिन्नैः साम्प्रदायिकैः ।
वस्तुतस्तैरसंस्पृष्टं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ११ ॥

विभिन्न सम्प्रदायोंके लोग भिन्न-भिन्न नामोंसे जिसका निर्देश करते हैं, परन्तु वस्तुतः जो उन नामोंसे असंस्पृष्ट है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

मोहेन तमसा हीनमानन्दरसनिर्भरम् ।
दिव्येन ज्योतिषा दीप्तं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ १२ ॥

मोह और अज्ञानसे जो रहित है, आनन्द रससे जो आप्लावित है और अलौकिक प्रकाशसे जो प्रकाशित है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

---

१. तु० 'बृहदारण्यकोपनिषद्' २।५।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

यत्र स्थिता महात्मानस्तत्त्वमव्ययमद्वयम् ।
पश्यन्त्यलौकिकं दिव्यं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ १३ ॥

जहाँ स्थित होकर महात्मा लोग दिव्य अलौकिक शाश्वत तथा अद्वितीय परमतत्त्वका साक्षात्कार करते हैं, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

('जीवनसन्देशगीतांजलि' से)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

परिशिष्ट

क. संस्कृत साहित्यमें ग्रन्थ-प्रणयन

ख. वेदोंका वास्तविक स्वरूप

ग. यजुर्वेद तथा वैदिक कर्मकाण्ड

घ. वेदों के जीवनप्रद सन्देश

ङ. भगवद्गीताका एक असाम्प्रदायिक अध्ययन

च. वर्णभेद तथा जातिभेदका परस्पर सम्बन्ध

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

परिशिष्ट (क)

संस्कृत साहित्यमें ग्रन्थ-प्रणयन[1]

ह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि संसारके किसी भी साहित्यके इतिहास-
ला संस्कृत साहित्यका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। इसी कारणसे
साहित्यके इतिहासके सम्बन्धमें जहाँ अनेक प्रकारकी कठिनाइयाँ
साथ ही उसके सम्बन्धमें अनेकानेक ऐसी बातें भी बतलायी जा
हैं, जिनसे साधारण शिक्षितोंका ही नहीं, विद्वानोंका भी मनोरंजन
ना नहीं रह सकता। हमारा विचार है कि हम क्रमशः उनपर
ा डालें।

स्तुत लेखमें हम कुछ ऐसी समस्याओंको लेकर, जो संस्कृत-अध्ययन
लोंके सामने प्रायः उपस्थित होती हैं, उनके समाधान करनेका
रेंगे। उदाहरणार्थ, कुछ समस्याएँ ये हैं :

. संस्कृत वाङ्मयके ब्राह्मण, उपनिषद् आदि अनेकानेक ग्रन्थ ऐसे
ार उनके कर्ताओंके नाम नहीं मिलते। इसीलिए उनके विषयमें
न-अपौरुषेयत्वका विवाद चिरकालसे चला आया है।

. अनेक ग्रन्थ दो रूपोंमें मिलते हैं; और दोनों एक ही ग्रन्थकर्ताके
सिद्ध हैं। उदाहरणार्थ, शङ्ख-स्मृति आदि अनेक स्मृति-ग्रन्थ थोड़े-
ा तथा पद्य दोनों रूपोंमें पाये जाते हैं।

---

[1] 'कल्पना', अप्रैल १९५२, से उद्धृत ग्रन्थकारका लेख।

aGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

३. अनेक ग्रन्थोंमें उनके ग्रन्थकारोंकी ही सम्मतियाँ प्रथम-पुरुषके प्रयोग-द्वारा उद्धृत की गयी हैं। उदाहरणार्थ, शौनकके नामसे प्रसिद्ध 'बृहद्देवता' में शौनककी ही सम्मति अनेक स्थानोंपर उद्धृत की गयी है, जैसे

"सर्वाण्यतानि नामानि कर्मतस्त्वाह शौनकः" (बृ० १।२७)।

यही नहीं,

"तत्राचार्यस्तु शौनकः। नदीवन्निगमाः षट् ते सप्तमो नेत्युवाच ह"
(बृ० २।१३६)

इस प्रकार परोक्ष कालका भी प्रयोग किया गया है। अपने ही ग्रन्थमें ग्रन्थकार अपनी सम्मति परोक्ष-काल और प्रथम-पुरुषमें उद्धृत करे, यह विचित्र-सी बात दीखती है।

४. संस्कृत साहित्यमें एक ही ग्रन्थके अनेक संस्करणोंका—जो वेदोंके समान नहीं हैं—प्रायः उल्लेख मिलता है; जैसे 'मनुस्मृति', 'वृद्ध मनुस्मृति' आदि।

ऐसी अनेक समस्याएँ हैं जिनका सामना संस्कृत साहित्यके इतिहासके प्रत्येक लेखकको करना पड़ता है। यहाँ हम सुसम्बद्ध रीतिसे इनके समाधानका यत्न करेंगे।

इन समस्याओंकी कठिनताका मुख्य कारण यह है कि अधिकांशमें हम आधुनिक ग्रन्थ-प्रणयनकी परिपाटीको ही सामने रखकर इनपर विचार करते हैं। प्रायः बड़े विद्वान् भी इस दोषसे खाली नहीं पाये जाते। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक देशमें और इतिहासके प्रत्येक कालमें उक्त परिपाटीका ही अनुसरण किया जाता रहा हो। अनेकानेक अवस्थितियोंके भेदसे उक्त परिपाटीमें भी भेद हो सकता है। इसलिए भारतवर्षके भिन्न-भिन्न कालमें 'ग्रन्थ-प्रणयन' या, ठीक शब्दोंमें, साहित्यिक परम्परा की कौन-कौन-सी परिपाटी रही – इसपर विचार करना आवश्यक है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

ग्रन्थ-प्रणयनकी परिपाटीका प्रारम्भ

अध्ययनाध्यापनकी परम्परा भारतवर्षमें अत्यन्त प्राचीन कालसे चली है। आज-कल हम यह समझते हैं कि अध्ययनाध्यापनके लिए किसी पोथीकी अनिवार्य रूपसे आवश्यकता होती है। परन्तु वास्तवमें नहीं है। वास्तवमें देखा जाये तो अध्ययनाध्यापनकी परम्परा चलनेके काल बाद ही ग्रन्थ-प्रणयनका युग प्रारम्भ हुआ होगा (इस प्रसंगमें शब्दका अर्थ हम यही समझते हैं कि जो किन्हीं लिखे या छपे हुए ग्रन्थन करनेसे बने[1])। इस विषयमें यास्काचार्यकृत 'निरुक्त' में बड़ा उपयुक्त सन्दर्भ मिलता है। वह यह है :

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थमाम्नासिषुः। वेदं च वेदाङ्गानि च। (नि० १।२०)

अर्थात्, सबसे पहले वे ऋषि हुए जिन्होंने स्वयं धर्मका साक्षात्कार किया, दूसरे शब्दोंमें, मन्त्रोंको प्रकाशित किया। उन्होंने अपने पीछे आनेवालोंको उपदेश-द्वारा मन्त्रोंको दिया या सिखलाया। तदनन्तर ऐसे पैदा हुए, जिनके लिए केवल उपदेश पर्याप्त न था। उन्होंने अपनी स्मृतिके लिए ग्रन्थ-प्रणयनकी परिपाटीका प्रारम्भ किया। इसी समय वेद, वेदांगादिका संग्रन्थन किया गया।

इस सन्दर्भके अनुसार एक समय ऐसा था, जब ग्रन्थ-प्रणयनकी परिपाटी-का प्रारम्भ ही नहीं हुआ था, या उसकी आवश्यकता ही प्रतीत नहीं

---

[1] संस्कृतकी प्राचीन हस्त-लिखित पोथियोंसे जिन्हें परिचय है, वे जानते हैं कि उन पोथियोंके पन्नोंके मध्य भागमें प्रायः एक छिद्र होता था, जिसका उपयोग यही था कि उसमें पतली डोरी पिरोकर पन्नोंको रक्षार्थ ग्रथित किया जा सके। 'ग्रन्थ' शब्दका मूलार्थ यही प्रतीत होता है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि 'ग्रन्थ' शब्दका प्रयोग वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मणोंमें नहीं मिलता है।

aGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

होती थी। उस समय अध्ययनाध्यापनके साधन ग्रन्थ न थे; किन्तु मौखिक उपदेशसे ही शिक्षा दी जाती थी। यह अति प्राचीन काल है। उस समय वैदिक संहिताएँ भी नहीं थीं। तभी तो ऊपर कहा है – "वेदं च वेदाङ्गानि च।"

'ऋग्वेद' के मण्डूक-सूक्त में प्रायः इसी अवस्थाका सुन्दर वर्णन मिलता है। जैसे—

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।
(ऋग्० ७।१०३।५)

अर्थात्, एक मेंढक दूसरे मेंढककी बोलीको इसी तरह दोहराता है, जैसे शिष्य गुरु या शिक्षकके वचनको।

यास्कके अनुसार इस युगके बाद ग्रन्थ-प्रणयनके युगका प्रारम्भ हुआ।

ग्रन्थ-प्रणयन-युगके पूर्व जो अवस्था थी, उसको हम 'प्रवचन' या 'विद्याप्रवचन' कह सकते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि विद्या-प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयनमें भेद है; और ग्रन्थ-प्रणयनकी परिपाटीका प्रारम्भ विद्या-प्रवचनकी परिपाटीके आरम्भ होनेके बहुत पीछे ही हुआ। दोनोंमें क्या भेद है? इसका विचार हम नीचे करते हैं।

प्रवक्ता और ग्रन्थ-कर्ता

पाणिनि आचार्यकी 'अष्टाध्यायी' में दो सूत्र आते हैं, जिनसे उक्त भेद और उसके स्वरूपके समझनेमें बड़ी सहायता मिलती है। वे सूत्र ये हैं:—

तेन प्रोक्तम्। (पा० ४।३।१०१)
कृते ग्रन्थे। (पा० ४।३।११६)

दोनों सूत्र दो पृथक् प्रकरणोंसे सम्बन्ध रखते हैं। परन्तु आपातत दोनोंमें कोई विशेष भेद प्रतीत नहीं होता। किसीने एक ग्रन्थ बनाया या एक ग्रन्थ कहा, इसमें क्या भेद हो सकता है? पर यदि दोनोंमें भेद नहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

ी दो प्रकरणोंकी आवश्यकता ही क्या थी ? दोनों प्रकरणोंके उदाहरण
ायः भिन्न-भिन्न ही हैं। इसलिए यही मानना होगा कि प्रवचन या
-प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयनमें वस्तुतः भेद है, और विद्या-प्रवचन करने-
को प्रवक्ता और ग्रन्थ-प्रणयन करनेवालोंको ग्रन्थकर्ता कहनेकी परम्परा
न कालसे चली आयी है। इसीलिए उपर्युक्त दोनों प्रकरणोंकी
यकता थी। यह ध्यानमें रखना चाहिए कि यहाँ हम 'ग्रन्थ' शब्दको
त लिखित पत्रादि सामग्रीके ग्रन्थनसे बनी हुई पोथीके विशिष्ट अर्थमें
हे हैं। इसीलिए यहाँ 'ग्रन्थ-प्रवचन' न कहकर 'विद्या-प्रवचन'
है।

विद्या-प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयनमें मुख्य भेद हमारी सम्मतिमें यह है।
-प्रवचनमें अर्थ या प्रतिपाद्य विषयका प्राधान्य होता है। शब्दानुपूर्वी-
ओर ध्यान नहीं होता। ग्रन्थ-प्रणयनमें शब्दानुपूर्वीका भी पूरा स्थान
है। दूसरे शब्दोंमें, जहाँ विद्या-प्रवचनमें मुख्यतः प्रतिपाद्य विषयके
ता-प्राप्तत्वका आशय है, वहाँ ग्रन्थ-प्रणयनमें अर्थके नवीन गुम्फनकी
अधिक संकेत है। प्रवचन और व्याख्यान ('व्याख्या' के अर्थमें नहीं,
आधुनिक 'लेक्चर'के अर्थमें) बहुत-कुछ समानार्थक हैं। इसलिए,
दृष्टिसे, विद्या-प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयनमें वैसा ही भेद है, जैसा एक
न' और एक 'पुस्तक' में हो सकता है। साथ ही प्राचीन कालके
में, जैसा ऊपर कहा है, परम्परा-प्राप्तत्वका आशय अधिक था।
र पाणिनिके 'तेन प्रोक्तम्' इस सारे प्रकरणमें श्रुति (=छन्दस्
ब्राह्मण) या श्रुतिसमकक्ष (अर्थात्, प्रवचनकी परम्परासे प्राप्त)
को दृष्टिमें रखकर ही उदाहरण दिये गये हैं।

प्रवचन-काल

भारतवर्षकी अध्ययनाध्यापनकी परम्परामें एक ऐसा समय था, जब कि
, उपदेश, या व्याख्यान-द्वारा ही अध्ययनाध्यापनका कार्य चलता

aGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

था। ग्रन्थोंका उसमें कोई स्थान ही नहीं था। इस कालको हम शुद्ध-प्रवचन-काल कह सकते हैं। यह काल चरणों, शाखाओं और परिषदोंके प्रारम्भिक कालसे लगभग मिलता है। इनका विचार हम नीचे करेंगे। शुद्ध-प्रवचन-कालके वाङ्मय या साहित्यकी हम आज-कलके 'युनिवर्सिटी-लेक्चर्स'के साथ तुलना कर सकते हैं। तो भी दोनोंमें यह भेद है कि आधुनिक 'युनिवर्सिटी लेक्चर्स' प्रायः किसी लिखित आधारपर दिये जाते हैं, पर शुद्ध-प्रवचन-कालमें प्रवचन या उपदेशका बहुत करके कोई लिखित आधार न होता था।

यह ध्यान देनेकी बात है कि 'पठ' (=पढ़ना) धातुका किसी रूपमें प्रयोग वैदिक संहिताओंमें नहीं मिलता। तदनन्तर कालके ब्राह्मणों तथा आरण्यकोंके साहित्यमें भी इसका प्रयोग, केवल 'तैत्तिरीय आरण्यक'को छोड़कर, नहीं मिलता[1]। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे आजकल "लिखना-पढ़ना" इन दोनों शब्दोंका साहचर्य है, इसी प्रकार 'पठ' धातुका प्रयोग भी प्रारम्भसे ही लिखित ग्रन्थादिके पढ़नेके लिए होता था। इसी लिए श्रुतिके साथ 'पठ' धातुका सम्बन्ध प्राचीन कालमें नहीं था।

वास्तवमें श्रुति-कालीन अध्ययनाध्यपनसे सम्बद्ध शब्दोंका आधार प्रधानतः 'अधि + इ' (=अध्ययन करना; अधि + अयन=आत्मगत करना), 'ब्रू' या 'वच' (=बोलना), और 'श्रू' (=सुनना) ये धातुएँ ही थीं। इसलिए इन धातुओंसे निष्पन्न 'अध्ययन', 'प्रवचन', 'अनूचान', 'प्रवक्ता', 'सूक्त', 'श्रुति', 'शुश्रूषु' (मूलार्थ 'सुननेका इच्छुक') जैसे प्रयोग ही प्राचीन वैदिक वाङ्मयमें देखे जाते हैं।

शुद्ध-प्रवचन-कालका साहित्य दो तरहका पाया जाता है—एक तो वह, जिसका सम्बन्ध साक्षात् किसी व्यक्तिविशेषसे कहा जाता है; जैसे

---

१. लिखनेके अर्थमें 'लिख' धातुका प्रयोग भी वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण तथा आरण्यकोंमें नहीं मिलता।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

ऐतरेयब्राह्मण'का सम्बन्ध महिदास ऐतरेयसे कहा जाता है। दूसरा वह, उनका किसी व्यक्ति-विशेषसे वैसा सम्बन्ध नहीं है। इस कालमें इसी प्रकार साहित्यका बाहुल्य है। अनेक उपनिषद् और ब्राह्मण ऐसे ही हैं। तु यह स्मरण रखना चाहिए कि इस कालका साहित्य उस समयके लोगोंकी ही सम्पत्ति समझी जाती थी। दूसरे, याज्ञवल्क्य आदिका अपने शिष्योंसे सम्बन्ध प्रवचन-द्वारा ही था, न कि ग्रन्थ-प्रणयन-द्वारा। "तेन-प्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" (पाणिनि ४।३।१०५) इत्यादि सूत्रोंमें पाणिनिका भी यही अभिप्राय है। यही कारण है कि उक्त ब्राह्मणादि ग्रन्थोंके विषयमें कोई ग्रन्थ-कर्ता नहीं माना जाता। व्यक्ति-विशेषके साथ उसका सम्बन्ध होनेपर भी उस व्यक्तिको ग्रन्थ-कर्ता न कहकर प्रोक्ता ही कहा जाता है। इसी कारण "याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि" में पाणिनिका "कृते ग्रन्थे" (पा० ४।३।११६) सूत्र न लगकर प्रोक्तार्थमें ही प्रत्यय होता है।

इससे यह सिद्ध है कि शुद्ध-प्रवचन-कालमें ग्रन्थ-प्रणयन आरम्भ नहीं था।

प्रवचन तथा ग्रन्थ-प्रणयनका मिश्रित काल

चरणों, शाखाओं और परिषदोंके कालमें ही दूसरा काल ऐसा आया, कि प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयन दोनों ही परिपाटियाँ साथ-साथ प्रचलित इसको हम मिश्रित-काल कह सकते हैं। तो भी इस कालमें निस्स-प्रवचनकी परिपाटी धीरे-धीरे लुप्त हो रही थी, और ग्रन्थ-प्रणयनकी बढ़ी थी।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन कल्प-सूत्रों (जैसे 'पैङ्गी यहाँ 'पिङ्गेन प्रोक्तः' यही अर्थ किया जाता है, न कि 'पिङ्गेन यह अर्थ; देखो पाणिनि ४।३।१०५) और अन्य निबन्धोंमें भी, ग्रन्थ-के नामके साथमें रहनेपर भी, प्रोक्तार्थमें ही प्रत्यय किया जाता है;

aGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

'कृते ग्रन्थे' इस अर्थमें नहीं। यह बात पिछले कालके न्याय-सूत्र, मीमांसा-सूत्र आदिके विषयमें नहीं है। वे अपने ग्रन्थकारों-द्वारा 'प्रोक्त' नहीं, किन्तु 'कृत' ही समझे जाते हैं। इसका कारण यही है कि ये ग्रन्थ उस समयके बने हुए हैं, जब कि चरणों आदिकी परम्परा बहुत कुछ शिथिल या लुप्त-प्राय हो गयी थी। चरणों तथा उनकी परिषदोंके दिनोंमें, जिनकी तुलना बहुत-कुछ आधुनिक 'रेज़िडेंशल यूनिवर्सिटीज़'से की जा सकती है, गुरु अपनी शिष्य-मण्डलीके सामने, परम्परागत प्रणालीके अनुसार, विद्या-प्रवचन ही किया करते थे; और ग्रन्थ-प्रणयन होता भी था, तो स्वयं गुरु-द्वारा या शिष्यों-द्वारा गौण रीतिसे ही किया जाता था।

यहाँ प्रसंगवश एक और बातपर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। शुद्ध-प्रवचन-कालके वाङ्मयके लिए 'श्रुति' शब्दका प्रयोग किया जाता है, और उसके पीछेके सूत्र-ग्रन्थ 'स्मृति' समझे जाते हैं। विद्वानोंसे यह छिपा नहीं है कि धर्म-सूत्रोंके समान ही पाणिनि आदिके अन्य सूत्र-ग्रन्थोंके लिए भी प्राचीन ग्रन्थकार 'स्मृति' शब्दका प्रयोग करते हैं।

इस 'श्रुति' 'स्मृति' के व्यवहार-भेदका कारण अनेक विद्वान् और ही बतलाते हैं। पर हमारी सम्मतिमें तो इसका कारण स्पष्टतया यही है कि शुद्ध-प्रवचनकालमें तत्कालीन वाङ्मयके लिखित रूपमें न होनेसे श्रवण और प्रवचनकी मौखिक परम्परा-द्वारा ही वह शिष्य-प्रशिष्योंमें रक्षित रहता था। इसीलिए इसको 'श्रुति' नामसे कहा जाता है। प्राचीन साहित्यमें इसी कारण 'इति शुश्रुम' (= ऐसा सुनते हैं) प्रायः आता है। लिखित ग्रन्थोंके न होनेके कारण और केवल श्रवणकी परम्परा-द्वारा रक्षित होनेसे इस वाङ्मयमें कितना अंश शब्दतः किस ऋषि या आचार्यका है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता था। प्रायः इसीलिए इस वाङ्मयको हमारे धार्मिक ग्रन्थोंमें 'अपौरुषेय' तक कहा है।[1]

---

१. पिछले काल तक – वेदको लिखना नहीं चाहिए – यह विचारधारा चली आयी थी। "वेदविक्रयिणश्चैव वेदानां चैव लेखकाः। वेदानां दूषकाश्चैव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयनके मिश्रित कालमें जो कुछ सुना जाता था, पीछेसे किसी लिखित आधारकी सहायतासे 'स्मरण' किया जाता था। इसलिए इसको 'श्रुति' न कहकर 'स्मृति' कहने लगे। लेख-द्वारा प्रवचन-का कथन ठीक-ठीक सुरक्षित किया जा सकता है। इसलिए निःसन्देह उसको व्यक्ति-विशेषके साथ सम्बद्ध कर सकते हैं। इसी कारण इस के ग्रन्थ स्पष्टतया 'पौरुषेय' हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त मिश्रित कालमें भी, पुरानी परिपाटीके नुसार, ये ग्रन्थ बहुत अंश तक परिषदोंकी ही सम्पत्ति समझे जाते थे। का अर्थ यह है कि आवश्यकताके अनुसार उक्त ग्रन्थोंमें धीरे-धीरे परि-द्वारा परिवर्तन किये जा सकते थे।

इस समयके ग्रन्थोंमें यह बात प्रायः देखी जाती है कि उनके मूलरूपके क्रमशः कुछ नया अंश भी बढ़ता रहा है। 'ऋग्वेद-प्रातिशाख्य' आदि में स्पष्टतया पीछेसे बढ़ाये हुए अंश उपलब्ध हैं। धर्मसूत्रोंमें भी, कईके विद्वानोंकी ऐसी ही सम्मति है। कहीं-कहीं यह बढ़ाया हुआ अंश मूल अंशसे विरुद्ध भी दिखाई देता है। कहीं-कहीं भावके भेदके साथ शैलीका भेद भी स्पष्ट है। इन कारणोंसे यह अतिरिक्त अंश मूल-ग्रन्थ-कर्ताका तो हो नहीं सकता। ऐसी अवस्थामें प्रश्न होता 'ऐसा क्यों कर हुआ ?'

हमारी समझमें इसका उत्तर यही है कि या तो भिन्न-भिन्न चरणोंकी परिषदों-द्वारा या उस-उस आचार्यकी परिषदन्तर्गत शिष्य-परम्परा-द्वारा उन ग्रन्थोंको समयानुकूल या सम्पूर्णांग बनानेके लिए अतिरिक्त अंश जोड़ दिये जाते थे।

इसका प्रारम्भिक प्रकार यही रहा होगा कि या तो नयी बात परि-

ते वै निरयगामिनः ॥" इस प्रकार वेद-लेखनकी निन्दाके वचन प्रायः मिलते हैं।

aGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

शिष्टके रूपमें ग्रन्थोंमें जोड़ दी जाती थी, जिसको कालान्तरमें ग्रन्थका भाग ही समझ लिया जाता था ('निरुक्त' आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थोंमें ऐसे परिशिष्ट पाये जाते हैं); या यह हो सकता है कि अतिरिक्त अंश टीका-टिप्पणीके रूपमें मूल-ग्रन्थमें ही लिख दिया जाता था, और धीरे-धीरे वह ग्रन्थका भाग बन जाता था। उदाहरणार्थ 'ऋग्वेद-प्रातिशाख्य'-में ११वाँ पटल दशम पटलकी विस्तृत व्याख्या-जैसा ही है। स्पष्टतया वह पीछेसे बढ़ाया गया है। इसी ग्रन्थमें तीसरे पटलका अन्तिम श्लोक और दूसरे पटलोंके अनेक श्लोक स्पष्टतया पीछेसे जोड़े हुए हैं। अनेक टिप्पणियाँ किस प्रकार मूल-ग्रन्थमें सम्मिलित हो जाती हैं, इसके आधुनिक उदाहरण हस्त-लिखित पोथियोंमें प्रायः मिलते हैं। जिनको ऐसी पोथियोंसे काम पड़ा है, वे जानते हैं कि एक पोथीके किनारोंकी टिप्पणियाँ (marginal notes) उसके आधारपर प्रतिलिपि की हुई दूसरी पोथीमें किस प्रकार मूलमें सम्मिलित कर ली जाती हैं।

यह भी हो सकता है कि मूल-ग्रन्थ समय-समयपर परिषदों-द्वारा वस्तुतः प्रतिसंस्कृत या 'रिवाइज़्ड' किये जाते थे। ये नवीन संस्करण परिषदों-द्वारा 'प्रकाशित' किये जाते थे। ऐसा होनेपर भी इन नवीन परिवर्तित संस्करणोंपर मूल ग्रन्थ-कर्ता (या प्रवक्ता) का ही नाम रहता था। दूसरे शब्दोंमें, यदि हम परिषदोंको उन दिनोंकी 'युनिवर्सिटीज़' समझें, तो इन संस्करणोंको 'यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन्स' कह सकते हैं।

प्रतिसंस्कर्ता या सम्पादक, चाहे परिषद्के रूपमें, चाहे एक शिष्यके रूपमें, मूल-ग्रन्थमें परिवर्तन करनेमें काफ़ी स्वतन्त्रतासे काम ले सकता था। इस-का विशेष विचार हम आगे चलकर करेंगे। हमारे विचारमें इस स्वतन्त्रतासे यहाँतक काम लिया जाता था कि मूल-ग्रन्थके रूपको ही प्रतिसंस्कर्ता बिलकुल बदल सकता था। 'शङ्ख-स्मृति' आदि अनेक ग्रन्थ, जो प्रारम्भमें सूत्ररूपमें (गद्यमें) थे, पीछेसे पद्यमें कर दिये गये। यह इस स्वतन्त्रताका ही परिणाम था। इसपर भी ये रूपान्तरित ग्रन्थ प्रायः मूल-ग्रन्थ-कर्ताके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

वाससे प्रसिद्ध रहे।

मूल-ग्रन्थ-कर्ताके शब्दोंके साथ प्रतिसंस्कर्ताओंकी इतनी स्वतन्त्रताकी ति कैसे चल पड़ी ? इसका कारण, हमारे विचारमें शुद्ध-प्रवचन-कालसे मिल सकता है। हम कह चुके हैं कि उस समय, आधुनिक 'लेक्चरों' मान, प्रवचन शब्दशः सुरक्षित नहीं किये जा सकते थे। उनके भावकी रक्षा हो सकती थी। यही प्रवृत्ति दूसरे मिश्रित कालमें भी बनी रही। परम्परागत प्रवृत्तिके कारण उक्त स्वतन्त्रता मूल-ग्रन्थके साथ बादको भी जाती रही।

ऐसा भी हो सकता है कि प्रवक्ता या प्रवचन-कर्ताके प्रवचनोंको लिपिबद्ध, उसी समय या बादको, उसके शिष्य करते रहे हों।

जैसा ऊपर कहा है, 'बृहद्देवता' आदि ग्रन्थोंमें उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ-कारोंके नाम और मत प्रमाणरूपसे प्रथम-पुरुष और परोक्ष-भूतकालमें उद्धृत किये गये हैं। यही नहीं, 'बृहद्देवता'में उसके ग्रन्थ-कर्ता शौनकके शिष्य आश्वलायनका भी मत उद्धृत किया गया है (देखो बृह० दे० ३३१– "अस्माकमुत्तमं सूर्य स्तौतीत्याहाश्वलायनः")। यही बात 'श्रौतसूत्र' में भी पायी जाती है।

इस असंगतिका समाधान अनेक लोग अनेक तरहसे करते हैं। उदाहरणार्थ, 'बौधायनधर्मसूत्र' (३।५।८)में बौधायनके ही मतका उल्लेख कर उसका टीकाकार कहता है—

"बौधायनसंशब्दनाद् अस्य शिष्योऽस्य ग्रन्थकर्तेति गम्यते।"

अर्थात्, 'बौधायन' के उल्लेखसे जान पड़ता है कि उनका शिष्य ही ग्रन्थकर्ता है

एक और टीकाकर ऐसे ही प्रसंग में कहता है—

"प्रायेण ग्रन्थकाराः स्वमतं परापदेशेन ब्रुवते।"

अर्थात्, ग्रन्थकार अपने मतको प्रायः प्रथम-पुरुषमें कहते हैं।

aGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

हम तो यही समझते हैं कि इस असंगतिका भी समाधान वही है, जो ग्रन्थोंमें परिवर्तन और परिवर्धन आदिका है। अर्थात्, उन दिनों परिषदों-के प्रभावसे ही, चाहे साक्षात् परिषद्-द्वारा, चाहे परिषदन्तर्गत उस आचार्य-के शिष्यों-द्वारा, मूल-ग्रन्थ 'संस्कृत' या 'प्रतिसंस्कृत' होते थे। ऐसा मान लेनेसे उक्त असंगतिका समाधान सरलतया हो जाता है।

ऊपर शाखाओं, चरणों और परिषदोंका उल्लेख हमने किया है। इसलिए इनके स्वरूप आदिके विषयमें यहाँ कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है।

शाखा, चरण और परिषद्

ऊपर दिये हुए 'निरुक्त'के वचनके अनुसार पहले ऋषियों-द्वारा मन्त्र प्रकाशित हुए, और फिर उन्होंने उपदेश-द्वारा उनको दूसरोंको सिखलाया। प्रारम्भमें भिन्न-भिन्न ऋषि-वंशोंमें अपने पूर्वजोंसे प्राप्त मन्त्रोंकी रक्षा इसी प्रकार की गयी। कालान्तरमें समस्त मन्त्रोंको इकट्ठा करके वैदिक संहिता या संहिताओंका रूप दिया गया। धीरे-धीरे आर्योंके दैशिक विस्तारके कारण भिन्न-भिन्न वैदिक 'शाखाओं' की उत्पत्ति हुई। देश-भेद (और काल-भेद) से मूल-संहिता या संहिताओंमें अनिवार्य रूपसे होनेवाला अध्ययन-(या पाठ-) भेद ही शाखा-भेदका कारण था। अध्ययन-भेदसे शाखाओंके भेदका (तु० "अध्ययनभेदाच्छाखाभेदः") तथा देश-भेदसे शाखाओंकी व्यवस्थिति (तु० "देशभेदेन शाखानां व्यवस्थानम्") का सिद्धान्त परम्परासे सर्व-मान्य चला आया है। धीरे-धीरे वैदिक संहिताओंके सहकारी ब्राह्मणादि-साहित्यमें भी वैसा ही भेद हो गया।[1]

---

१. तु० "स्वाध्यायैकदेशो मन्त्रब्राह्मणात्मकः शाखेत्युच्यते। तयोर्मन्त्रब्राह्मणयो-रन्यतरभेदेन वेदेऽवान्तरशाखाभेदः स्यादिति चेत्। सत्यम्।" (महादेव-कृत हिरण्यकेशिभाष्य)। तथा "प्रवचनभेदात्प्रतिवेदं भिन्ना भूयस्यः शाखाः" (प्रस्थानभेद)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

इन शाखाओंके अध्येतृवर्ग 'चरण' कहलाते थे।
मूलमें इन चरणोंकी विद्वत्सभाओं या विद्यासभाओंको ही 'परिषद्' कहना चाहिए।
'मनुस्मृति' में धर्म-निर्णयार्थ परिषदोंका वर्णन इस प्रकार किया है—

दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत्॥
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद् दशावरा॥
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये॥

(मनु० १२।११०-११२)

अर्थात्, 'दशावरा' परिषद् अथवा 'त्र्यवरा' परिषद् जिस धर्मकी परिकल्पना करे, उस धर्मसे नहीं हटना चाहिए। त्रैविद्य, हैतुक, तर्की, नैरुक्त, धर्मपाठक,[2] और पहले तीनों आश्रमोंवाले – ये मिलकर दशावरा परिषद् होती हैं। ऋग्वेद-ज्ञाता, यजुर्वेद-ज्ञाता और सामवेद-ज्ञाता, ये मिलकर त्र्यवरा परिषद् बनती है। ये परिषदें धर्म-विषयक संशयोंके निर्णयके लिए होती हैं।

ऊपरके श्लोकोंसे स्पष्ट है कि एक समय ऐसा था जब भारतवर्षमें शाखाओंकी परिपाटी प्रचलित थी। यह माना कि यहाँ केवल धर्म-विषयक

---

1. तु० "चरणः शाखाध्येता" (पाणिनि-सूत्र ४।१।६३ पर 'तत्त्वबोधिनी'), "चरणशब्दः शाखाविशेषाध्ययनपरैकतापन्नजनसंघवाची" ('मालतीमाधव' नाटक पर जगद्धरकी टीका)। "चरणशब्दः शाखाध्यायिषु रूढः" ('आपस्तम्बधर्मसूत्र' १।१४।१३ पर हरदत्तकी टीका, माइसोर संस्करण)
2. त्रैविद्य=वेदत्रयीके विद्वान्। हैतुक=न्यायशास्त्रज्ञ। तर्की=मीमांसात्मक तर्कका ज्ञाता। नैरुक्त=निरुक्तको जाननेवाला। धर्मपाठक=धर्मशास्त्रका विद्वान्।

aGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

निर्णयोंके लिए ही परिषद्का वर्णन है; परन्तु अध्ययनाध्यापनकी परम्परामें भी 'परिषद्', पार्षद' आदि शब्दोंके पाये जानेसे यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि जैसे दूसरे विषयोंमें सर्वसाधारणके हितके लिए सामूहिक प्रश्नोंके निर्णयार्थ परिषदें होती थीं, उसी प्रकार विद्या-परिषदें[1] भी होती थीं। 'निरुक्त' के "पद-प्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि"[2] (नि० १।१७) इस वाक्यसे तथा ऐसे ही अन्य प्रमाणोंसे उस कालमें चरणोंसे सम्बन्ध रखनेवाली परिषदोंकी सिद्धि होती है।

चरणोंके अनुयायियों या 'मेम्बरों' का इन परिषदोंके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता था। परिषद्का कर्तव्य था कि वह अपने चरणसे सम्बद्ध विद्या-परम्परा या वाङ्मयकी पूर्णतया रक्षा करे और उसकी उन्नति करे। अपने सभापतिस्थानीय आचार्य (या कुलपति) या किसी सदस्य-द्वारा प्रोक्त, प्रचारित विद्या या प्रणीत ग्रन्थकी वह संरक्षिका होती थी। यही कारण प्रतीत होता है जिससे अपने किसी सदस्यके ग्रन्थको बढ़ाने या परिवर्तित करनेका पूर्ण अधिकार परिषद्को होता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि चरणों और शाखाओंके समान ये सब परिषदें वैदिक अध्ययनाध्यापनकी ही परम्परासे सम्बद्ध न होती थीं। हमारे विचारमें प्राचीन कालमें समस्त धार्मिक साहित्य – जैसे पुराण और धर्मशास्त्र – की देख-भाल भी कुछ परिषदें ही करती थीं। पुराणोंमें नैमिषारण्य आदिमें ऋषियोंकी परिषदोंका वर्णन मिलता है। इन परिषदोंका किसी वैदिक चरण या शाखा-विशेषसे सम्बन्ध नहीं होता था। इसीलिए

---

१. उदाहरणार्थ, बृहदारण्यकोपनिषद् (६।२।१) में "श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम" इस प्रकार एक विद्या-परिषद्का उल्लेख है। इन परिषदोंमें किस प्रकार विचार होता था, इसका एक अच्छा उदाहरण 'चरक-संहिता', सूत्र-स्थान, अध्याय २५ और २६ में मिलता है।

२. इसकी व्याख्यामें दुर्गाचार्य शब्दतः चरण-सम्बन्धी परिषद् (तु० "स्वचरण-परिषदि") का उल्लेख करते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

चरणों आदिकी परम्पराके ढीले पड़ जानेपर भी परिषदों-द्वारा आदिमें रूपान्तरण या प्रतिसंस्करण किये जाते रहे। यदि इन संस्करणोंमें परिषदोंका हाथ न होता, तो इनको सर्वमान्यताका पद होना अत्यन्त कठिन था।

पुराणों और धर्मशास्त्रोंके ऐसे प्रतिसंस्करण समय-समयपर होते रहे इनके अनेकानेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। हमारे विचारमें 'मनुस्मृति' के प्रतिसंस्करण या शङ्ख आदिकी गद्यात्मक स्मृतियोंके पद्यात्मक संस्करण ऐसी ही परिषदों-द्वारा किये गये होंगे। इसीलिए ऐसे प्रति-रणोंके साथ किन्हीं व्यक्ति-विशेषोंके नाम नहीं लगे हुए हैं।

ग्रन्थ-प्रणयन-काल

काल-क्रमसे देशकी राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियोंके बदल से वैदिक चरणोंसे सम्बन्ध रखनेवाली परिषदोंका लोप होने लगा। समय संस्कृत-साहित्यमें एक प्रकारसे वैज्ञानिक युगका प्रारम्भ हुआ। परिषदोंके दिनोंमें उनके साहित्यका दायरा वेदकी परिधिसे संकुचित उस साहित्यका सम्बन्ध मुख्यतः वेदसे था। दूसरे शब्दोंमें, वेद-वेदांग उनके अध्ययनाध्यापनके विषय थे। परन्तु अब विद्वानोंकी दृष्टि व्यापक और विस्तृत होने लगी। जहाँ पहले विभिन्न शाखाओंसे सम्बन्ध रखनेवाले 'प्रातिशाख्य'-जैसे ग्रन्थ लिखे जाते थे, वहाँ अब पाणि-व्याकरण-जैसे वैज्ञानिक तथा 'सर्ववेद-साधारण' ग्रन्थ लिखे जाने लगे। 'प्रातिशाख्य'-जैसे ग्रन्थोंका सम्बन्ध वेदकी शाखाविशेषोंसे ही था, पाणिनीय अष्टाध्यायी प्रधानतया, वैदिक भाषाके लिए नहीं, अपितु के संस्कृतके लिए लिखी गयी। पाणिनिकी दृष्टि स्पष्टतया किसी भी कालीन ग्रन्थसे व्यापकतर है।[1]

---

1. दे० महाभाष्य (६।३।१४)—"सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्। तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्।" इसीकी व्याख्या करते हुए कैयट कहते हैं—"प्राति-शाख्यसद्भावेऽपि सर्ववेदसाधारणेनानेन शब्दानां प्रतिपादनं क्रियते।"

aGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

यह वस्तुतः 'शुद्ध ग्रन्थ-प्रणयन-काल'का प्रारम्भ था। एकस्थानीय[1] परिषदोंसे सम्बन्ध रखनेवाले चरणोंके लिए विद्या-प्रवचन एक आवश्यक और महत्त्वकी प्रथा थी। आस-पासमें रहनेवाले (=अन्तेवासी) शिष्योंके लिए आचार्यका प्रवचन ही पर्याप्त था। अब अतिव्यापक दृष्टिसे लिखे गये ग्रन्थोंका क्षेत्र देश-व्यापी हो गया। इसी कारण प्रवचनसे ग्रन्थ-प्रणयनका महत्त्व कहीं अधिक होने लगा। अन्यान्य कारणोंके साथ-साथ बौद्ध आदि प्रतिद्वन्द्वियोंके संघर्षसे भी संकुचित वैदिक परिषदोंकी प्रथाके ह्रासमें सहायता अवश्य मिली होगी। इसी कारणसे कदाचित् विद्वानोंमें वैज्ञानिक और व्यापकतर दृष्टिके पैदा होनेमें भी सहायता मिली होगी।

शुद्ध ग्रन्थ-प्रणयनकी प्रथाके चल पड़नेपर ग्रन्थोंपर ग्रन्थ-कर्ताओंके नामकी मुहर लगने लगी। धर्मशास्त्र और पुराणोंको छोड़कर, जिनकी देख-भाल, हमारे विचारमें, कदाचित् अब भी धर्म-परिषदोंके हाथमें थी, अन्य ग्रन्थोंमें इस समयके बाद प्राचीन परिषत्कालीन ग्रन्थोंके समान परिवर्तन या प्रतिसंस्करणकी चाल उठ गयी। इसीलिए इस समयके बादके ग्रन्थोंमें अधिकतर परिवर्तन नहीं देखे जाते। यदि उनका प्रतिसंस्करण हुआ भी, तो प्रतिसंस्कर्ताका नाम भी साथमें दिया जाने लगा। इसका एक उत्तम उदाहरण चरक-संहितासे मिलता है। अग्निवेश-द्वारा 'प्रोक्त' आयुर्वेद-शास्त्रका संस्करण या प्रतिसंस्करण चरकने किया; इसमें पीछेसे कुछ अंश दृढबलने बढ़ाया, यह स्पष्टतया सिद्धिस्थान, अध्याय १२ में अंकित मिलता है।

संस्कर्ता या प्रतिसंस्कर्ता

ऊपर हमने अनेक बार 'संस्करण' या प्रतिसंस्करण का उल्लेख किया

---

१. दे० "आचार्यं सपरिषत्कं भोजयेत्" (गोभिल-गृह्य-सूत्र) का भाष्य "सह परिषदा शिष्यगणेन वर्तत इति सपरिषत्कः। तम्।" ऐसे प्रमाणोंसे परिषदोंकी एकस्थानीयता स्पष्ट है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

इसका प्रकार क्या था, इसका स्पष्ट वर्णन, जैसा हमने ऊपर कहा है, 'चरक-संहिता' में मिलता है। वह यह है :

'चरक-संहिता' के उपसंहारमें निम्नस्थ श्लोक आते हैं—

इत्यध्यायशतं विंशमात्रेयमुनिवाङ्मयम्।
हितार्थं प्राणिनां प्रोक्तमग्निवेशेन धीमता ॥ ७४ ॥
विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम्।
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम् ॥ ७६ ॥
अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना।
संस्कृतं.... ....॥ ७७ ॥

अर्थात्, आत्रेय मुनि-द्वारा प्राप्त इस एकसौ-बीस अध्यायवाले ग्रन्थको प्राणियोंके हितके लिए बुद्धिमान् अग्निवेशने सूत्रित या ग्रन्थबद्ध शिष्योंको पढ़ाया। इस उत्तम तन्त्रका संस्करण (या प्रतिसंस्करण) बुद्धिमान् चरकने किया।

संस्कर्ता (या प्रतिसंस्कर्ता) का काम यही होता है कि वह संक्षेपसे कही हुई बातको विस्तार करके स्पष्ट कर दे, और अतिविस्तृत अंशको कम कर दे। इस प्रकार संस्कर्ता एक पुराने ग्रन्थको पुनः नवीन कर देता है।

'चरक'संहिता'के स्थानोंके अन्तमें ये शब्द आते हैं—

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते।

अर्थात्, अग्निवेश इस शास्त्र (तन्त्र) के बनानेवाले हैं, और चरक संस्कर्ता हैं।

इसी ग्रन्थके सूत्रस्थानके प्रथम अध्यायमें इस शास्त्रका अग्निवेश का भी इतिहास दिया है। इस प्रसंगमें उसको भी यहाँ देना उचित प्रतीत होता है।

इन्द्रने भरद्वाज महर्षिको आयुर्वेदका उपदेश दिया। भरद्वाजने उसे ऋषियोंको दिया। तब

aGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अथ मैत्रीपरः पुण्यमायुर्वेदं पुनर्वसुः ।
शिष्येभ्यो दत्तवान् षड्भ्यः सर्वभूतानुकम्पया ॥ २८ ॥

अग्निवेशश्च भेलश्च जतूकर्णः पराशरः ।
हारीतः क्षारपाणिश्च जगृहुस्तन्मुनेर्वचः ॥ २९ ॥

बुद्धेर्विशेषस्तत्रासीन्नापदेशान्तरं मुनेः ।
तन्त्रप्रणेता प्रथममग्निवेशो यतोऽभवत् ॥ ३० ॥

अथ भेलादयश्चक्रुः स्वं स्वं तन्त्रं, कृतानि च ।
श्रावयामासुरात्रेयं सर्षिसंघं सुमेधसः ॥ ३१ ॥

श्रुत्वा सूत्रणमर्थानामृषयः पुण्यकर्मणाम् ।
यथावत् सूत्रितमिति प्रहृष्टास्तेऽनुमेनिरे ॥ ३२ ॥

अर्थात्, तब मैत्री रखनेवाले पुनर्वसु (आत्रेय) ने सब जीवोंपर कृपा के कारण पवित्र आयुर्वेदको अपने छह शिष्योंको दिया। मुनिके वचनको अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणिने ग्रहण किया। अपनी बुद्धिके वैशिष्ट्यके कारण, न कि इसलिए कि उनको गुरुने कोई विशेष उपदेश दिया था, अग्निवेशने सबसे प्रथम इस तन्त्रका प्रणयन किया। उसके अनन्तर भेल आदिने भी अपने-अपने तन्त्र बनाये। उन मेधावियोंने अपने प्रणीत तन्त्रोंको ऋषिसमाज (या परिषद्)में बैठे हुए आत्रेयको सुनाया। उन पवित्र कर्म करनेवालों-द्वारा 'अर्थ' (=सुने हुए प्रतिपाद्य विषय) के 'सूत्रण' (=ग्रन्थ रूपमें ग्रथन)को सुनकर प्रसन्न ऋषि समाज (या परिषद्)ने "आपने ठीक-ठीक सूत्रित किया है" यह कहते हुए अपनी अनुमति दी।

ऊपरके सन्दर्भसे स्पष्ट है कि प्रारम्भमें अनेक पीढ़ियों तक प्रवचन द्वारा ही इस शास्त्रकी परम्परा चलती रही। पीछेसे अग्निवेश आदिने इसे ग्रन्थ-बद्ध किया। इस समय ऋषियोंकी परिषद्को सुनाकर इसके लिए उनकी अनुमति प्राप्त की गयी। कालान्तरमें इसी पुराने शास्त्रको

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

स्करण-द्वारा चरकने पुनः नया कर दिया। इसकी पूर्ति चिरकालके
दृढबलने की, यह हम ऊपर कह चुके हैं।

इसी प्रकारके प्रतिसंस्करण या 'रेविज़न'के अनेक उदाहरण संस्कृत-
से दिये जा सकते हैं। एक उदाहरण 'ऋग्वेद-प्रातिशाख्य'की एक
मिलता है। विष्णुमित्र अपनी वृत्तिके आरम्भमें कहता है –

लेख्यदोषनिवृत्त्यर्थं विस्तरार्थं क्वचित् क्वचित्।
ज्ञातार्थपाठनार्थं च योज्यते सा मया पुनः॥

र्थात्, लिखनेकी भूलोंको मिटानेके लिए, कहीं-कहीं विस्तारके लिए,
ज्ञात अर्थको पढ़ानेके लिए मैं (इस वृत्तिको) पुनः ठीक (अर्थात्
स्कृत) करने लगा हूँ।

तिसंस्करणके विषयमें ऊपर जो कुछ कहा है, उसकी यदि हम
की परिपाटीसे तुलना करें, तो यही कहना होगा कि जहाँ आज-
सम्पादक किसी प्राचीन (या नवीन) ग्रन्थका सम्पादन करते हुए
पाद-टिप्पणी आदिसे उसे पूर्णांग कर देता है और साथ ही उस
मूल-स्वरूपकी रक्षा करता है, अपनी पाद-टिप्पणियों आदिको उसमें
ला देता, वहाँ प्राचीन समयमें एक प्रतिसंस्कर्ता अपनी टिप्पणियों
मूल-ग्रन्थमें ही मिला देता था। साथ ही उसके सम्पादन या
में कहीं अधिक स्वतन्त्रतासे काम लेता था।

ार

स्कृत-साहित्यकी कुछ समस्याओंका समाधान करते हुए ऊपर हमने
लानेका यत्न किया है कि संस्कृत-साहित्यमें ग्रन्थ-निर्माणकी परि-
इतिहास क्या है। ग्रन्थ-निर्माणके सम्बन्धमें प्रवक्ता, ग्रन्थकर्ता,
या प्रतिसंस्कर्ता आदिके भेदको समझ लेनेसे तथा एतद्विषयक
परिपाटियोंके साथ प्राचीन प्रथाकी तुलना करनेसे अनेक कठि-

aGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

नाइयोंका सरलतासे समाधान हो जाता है। संस्कृत-साहित्यके क्रमि इतिहासको लिखनेवालेके लिए इन बातोंको समझनेकी कितनी अधि उपयोगिता है, इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

इस सम्बन्धमें और भी अनेक उपयोगी विचार उठते हैं; जै संहिताकार, प्राचीन कालमें ग्रन्थ-प्रचारके कुछ विचित्र उपाय, ग्रन्थ-निर्मा में चोरी, ग्रन्थनिर्माण और साम्प्रदायिकता, खिल और प्रक्षेप, ग्रन्थो प्राचीन ग्रन्थोंके उद्धरण, आदि, आदि। इनपर विचार करना उपयो होनेके साथ-साथ मनोरंजक भी होगा। इनपर हम फिर कभी क्रम विचार करना चाहते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

परिशिष्ट (ख)

वेदोंका वास्तविक स्वरूप

अथवा

वेदोंके महान् आदर्श[1]

भद्रं नो अपि वातय मनः

(ऋग्० १०।२०।१)

विद्वद्गण तथा प्रिय ब्रह्मचारियो,

इस सुप्रसिद्ध गुरुकुल विश्वविद्यालयकी स्वर्ण-जयन्तीके शुभ अवसरपर मेलनके सभापति-पदके लिए जो मुझे निमन्त्रित किया गया है उसके इस समारम्भके संयोजक महानुभावोंका आभारी हूँ।

और वैदिक वाङ्मय अतीव विस्तृत होनेके साथ-साथ अत्यन्त भी है। मैं उसका न तो पारीवर्यविद् विद्वान् हूँ, न उसके कर्तव्य-कल यात्री हूँ। तो भी, वेदसे मुझे अपने जीवनमें सदा प्रकाश रणा प्राप्त होती रही है, वैदिक आदर्शों और भावनाओंमें मुझे श्रद्धा है, और चिरकालसे मैं वैदिक साहित्यका अनुशीलन करता । मेरी दृढ धारणा है कि न केवल भारतीय संस्कृतिके अभ्युत्थानके किन्तु समस्त मानव-समाजके कल्याणके लिए भी, वैदिक आदर्शों और

---

[1] गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी, के स्वर्ण-जयन्ती-महोत्सव (मार्च १९५०) पर वेद-सम्मेलनके सभापति-पदसे दिया गया ग्रन्थकारका भाषण।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

उदात्त भावनाओंकी आवश्यकता है। इसीलिए उक्त निमन्त्रणको स्वीकार करना मैंने अपना कर्तव्य समझा।

वेद और आचार्य दयानन्द

आज संसारमें यह असम्भव है कि वेदके विषयमें कोई गम्भीर विचार किया जाये और उसमें, शताब्दियों क्या सहस्राब्दियोंमें, वेदोंके अद्वितीय विद्वान् आचार्य स्वामी दयानन्दका विशेष उल्लेख न हो। तो भी, बहुत कम लोग हैं जो वेदके विषयमें आचार्य दयानन्दकी अनोखी देनको वास्तव में समझते हैं। इसलिए वेदके विषयमें कुछ भी कहनेके प्रथम, वेदविषयक आधुनिक परिस्थितिको समझनेके उद्देश्यसे, उस परिस्थितिके लानेवालोंमें प्रमुख स्थान रखनेवाले उन आचार्यके कार्यकी पृष्ठभूमि-का यहाँ निर्देश करना हम आवश्यक समझते हैं।

इसमें किसको सन्देह हो सकता है कि चिरन्तन कालसे वेद भारतीय संस्कृतिके प्रकाशस्तम्भ रहे हैं। भारतीय समाजके संगठन और उसके जीवनचर्याके नियमन और व्यवस्थापनके साथ-साथ उसकी आध्यात्मिक तथा अन्य उदात्त भावनाओंकी प्रेरणामें भी वेदका प्रमुख स्थान रहा है।

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥
(अर्थशास्त्र १।३)

इस प्रकार आचार्य कौटिल्यने स्पष्टतया सामाजिक व्यवस्था-द्वारा वेदके लोक-कल्याणकारी प्रभावका उल्लेख किया है।

वेदोंसे हमारी जातिको समय-समयपर ओज और बल प्राप्त होता रहा है।

भारतके महापुरुषोंके जीवनोंमें जो लोकोत्तर महत्ता पायी जाती है उसमें साक्षात् या असाक्षात् रूपसे देशके वातावरणमें व्याप्त वैदिक उदात्त भावनाओंका स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इसी प्रभावसे प्रेरित होकर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

तीय संस्कृतिने एक बार इतिहासमें मानव-समाजको, न केवल विशाल के क्षेत्रमें, किन्तु देशान्तरोंमें भी, सच्ची शान्ति, आध्यात्मिक भावना, भ्रातृता और प्रेमका सन्देश दिया था।

संक्षेपमें, वेद वास्तवमें भारतीय संस्कृतिके अक्षय्य निधि हैं और उनके थ भारतीय संस्कृति संसारमें अजर और अमर है।

उपर्युक्त मौलिक कारणोंसे ही वेदकी महिमा तथा वेदाध्ययनकी ताको वर्णन करनेवाले वचनोंसे हमारे शास्त्र भरे पड़े हैं; जैसे,

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। (मनुस्मृति २।६)
यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥
(मनु० २।७)

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयञ्च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥
(मनु० १२।९४)

अर्थात्, वेद धर्मका मूल है, वेद सर्वज्ञानसे समन्वित है, और वेद नसे सबका पथप्रदर्शक रहा है, इत्यादि प्रकारसे वेदकी महिमाका न शास्त्रोंमें पाया जाता है।

वेदाध्ययनकी कर्तव्यताके विषयमें भी—

वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना।
(मनु० २।१६५)

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते।
(मनु० २।१६६)

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥
(मनु० २।१६८)

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते।

(मनु० २।१७२)

अर्थात्, द्विज (= ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) का यह कर्तव्य है कि वह समस्त वेदको पढ़े और उसके रहस्यको जाने। वेदका अभ्यास ब्राह्मणका सबसे बड़ा तप है। जो द्विज वेदको पढ़े विना अन्य विषयोंमें श्रम करता है वह जीता हुआ ही शीघ्र अपने वंशके सहित शूद्रत्वको प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार द्विजके लिए वेदाध्ययन परम आवश्यक बतलाया गया है। यही नहीं, व्याकरण, निरुक्त आदि वेदांगोंका[1] और मीमांसा आदि उपांग कहे जानेवाले शास्त्रोंका तो प्रयोजन ही वेदकी रक्षा, वेदार्थज्ञान-की योग्यताका सम्पादन तथा वैदिक कर्मोंका सुचारु रूपसे अनुष्ठान आदि बतलाया गया है।

ऐसा होनेपर भी, भारतके इतिहासमें एक समय ऐसा आया जब कि मोह और अज्ञानमें फँसकर भारतने वेदोंके महत्त्व और वास्तविक स्वरूपको भुला दिया। मानवसमाजके उत्थान और कल्याणकी सार्वभौम प्रेरणाएँ वेदोंमें निहित हैं – इस बातको भूल कर वह या तो उनकी उपेक्षा ही कर बैठा या उनका[2] उपयोग "काचमूल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तामणिर्मया" इस कहावतके अनुसार प्रायेण साधारण कामनाओंकी प्राप्तिके लिए ही करने लगा।

---

१. दे०—"रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्" (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)। "अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते" (निरुक्त १।१५) इत्यादि।

२. इसी दृष्टिसे गीतामें वेदोंके विषयमें ऐसे वचन मिलते हैं: "एवं त्रयीधर्म-मनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।" (गीता ९।२१)। "यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥" (गीता २।४६)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

यह जानकर प्रायः आश्चर्य होगा कि चिरकालसे ही, साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या, संस्कृतका अध्ययनाध्यापन करनेवाले लोगोंमें वेदोंके पठन-पाठनकी प्रवृत्ति लुप्तप्राय होने लगी थी। इस उपेक्षाके कारणोंका निर्देश हम आगे करेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि चिरकालसे भारतवर्षमें यह स्थिति आ गयी थी कि, वेदोंके अर्थ-ज्ञानकी तो बात ही क्या, वेदोंके पाठ-मात्रकी प्रवृत्ति भी केवल कुछ नाममात्रके वैदिक लोगोंमें परिमित हो गयी थी। ऐसी परिस्थितिमें वैदिक कर्मकाण्ड प्रायः लुप्त ही हो गया था; जो कुछ शेष था वह भी उन लोगों-द्वारा कराया जाता था जो प्रायः अर्थज्ञानसे सर्वथा शून्य होते थे। वास्तवमें अपनी निधिके रत्नभूत वेदोंको हमने घरकी एक अँधेरी कोठरीमें फेंक दिया।

चिरकालसे वेद-विषयक अध्ययनाध्यापनकी गिरती हुई दशा पिछली कई शताब्दियोंमें तो अपनी चरम काष्ठाको पहुँच गयी थी। उसका प्रायः निश्चित अनुमान हम दो-चार बातोंसे कर सकते हैं।

जिन लोगोंका सम्पर्क प्राचीन हस्त-लिखित ग्रन्थोंकी शोधसे रहा है वे जानते हैं कि, वैदिक कहे जानेवाले लोगोंके घरोंको छोड़कर, विभिन्न स्थानोंके प्राचीन सुप्रसिद्ध पण्डितोंके भी वंशमें जहाँ कहीं संस्कृतकी जो हस्त-लिखित पोथियाँ पायी जाती हैं उनमें प्रायेण वैदिक ग्रन्थोंका, विशेषतः वैदिक संहिताओंकी पोथियोंका, अभाव पाया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारे देशमें अध्ययनाध्यापनकी परम्परामें वेदकी उपेक्षा चिरकालसे ही चली आ रही है।

गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस, भारतवर्षकी सर्व-प्रमुख संस्कृत-संस्था है। उसकी परीक्षाएँ देशमें सर्वमान्य हैं। पिछले वर्षोंमें उसकी कक्षाओंमें १४००० से १७००० तक छात्र बैठते रहे हैं। प्रथमतः हमारे सुझावोंके आधारपर वह अब एक विश्वविद्यालयका रूप धारण करने

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

जा रही है।[1] इस महान् संस्थाके इतिहासपर दृष्टि डालनेसे भी हमारी चिरकालीन वेद-विषयक अक्षम्य अनास्था ही सिद्ध होती है।

उक्त कालेजकी स्थापना सन् १७९१ ई० में वेदादि समस्त शास्त्रोंके अध्ययनाध्यापन तथा अनुशीलनके उद्देश्यसे उस समयकी भारतकी सरकारने की थी। प्रारम्भमें केवल एक वेदाध्यापक रखा गया था। १८०० में चारों वेदोंके अध्यापनके लिए चार वेदाध्यापक रखे गये। परन्तु छात्रोंमें वेदके अध्ययनकी ओरसे साधारणतया और वेदके अर्थज्ञानकी ओरसे सर्वथा उपेक्षाको देखकर अधिकारियोंको शीघ्र ही वेदाध्यापनका प्रबन्ध व्यर्थ समझकर कालेजसे हटा देना पड़ा। इस लम्बे इतिहासमें लगभग १०० वर्षोंके पश्चात् १९२२ से पुनः केवल शुक्लयजुर्वेदके पढ़ानेका प्रबन्ध कालेजमें किया गया। ऐसा करनेपर भी, जहाँ अन्य विषयोंमें सहस्रों छात्र परीक्षामें बैठते हैं, वहाँ वेद (शुक्ल यजुर्वेदमें) सहस्र पीछे ५ छात्र भी प्रायः परीक्षा नहीं देते। वेदके पाठ्य-क्रमकी यह स्थिति है कि परम्परागत रूढिके अनुसार यद्यपि, अन्य विषयोंकी भाँति, वेदका भी पाठ्यक्रम १२ वर्षोंका है, तो भी इतने कालमें वैदिक संहितामें केवल १४ अध्यायोंका ही अर्थ परीक्षार्थीको पढ़ाया जाता है। प्राचीन शास्त्रीय परम्परा-द्वारा अभिमत सषडंग वेदाध्ययनकी परिपाटीकी तो इस पाठ्यक्रममें प्रारम्भसे ही नितरां उपेक्षा की जाती रही है।

इतनी बड़ी संस्थाके इतिहाससे और आज-कलके समयमें भी उसके द्वारा जो वेद-विषयक अध्ययनाध्यापनमें नगण्य कार्य हो रहा हैं उससे हम

---

१. १९४७ ई० में स्वतन्त्रता-प्राप्तिके अनन्तर, उक्त कालेजके प्रिंसिपल पदपर रहते हुए, ग्रन्थकारने ही २९।३० अगस्त १९४७ को एक डी० ओ० (सं० १२५) पत्र-द्वारा संस्कृत विश्वविद्यालयकी स्थापनाका प्रस्ताव उत्तरप्रदेशीय गवर्नमेंटके सामने रखा था। तदनन्तर १९४८-१९४९ में 'विशेष पदाधिकारी' पदपर कार्य करते हुए, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयके लिए 'ड्राफ्ट बिल' भी ग्रन्थकारने ही तैयार किया था।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

स्पष्टतासे भारतवर्षमें उस समयकी वेदके अध्ययनाध्यापनमें घोर अनास्था और उपेक्षाका अनुमान लगा सकते हैं जब कि आचार्य दयानन्दने सोते हुए में वेदोद्धारके अपने महान् कार्यको प्रारम्भ किया था।

भारतवर्षके इतिहासमें अनेकानेक शताब्दियोंके पश्चात् उन्होंने वेदोंको अंधेरी कोठरीसे निकालकर जगत्के सामने ही न रखा, किन्तु यह भी बताया कि प्रत्येक आर्य (अर्थात् शिक्षित या द्विज) के लिए वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना परम कर्तव्य है। यही नहीं, उन्होंने 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका'-जैसी अद्भुत पुस्तक और वेदोंके भाष्य लिखकर जो पथ-प्रदर्शन किया है वह सदाके लिए संसारकी संपत्ति और हमारे लिए गर्वकी वस्तु है।

परन्तु वेदके विषयमें आचार्य दयानन्दका सबसे बड़ा महत्त्व, हमारे मतमें, इस बातमें है कि उन्होंने हमको 'वेदके मन्त्र केवल कर्मकाण्ड-विषय यज्ञके साधन हैं' (मन्त्राश्च कर्मकरणाः[1]) और अतएव 'उनका अर्थ ही नहीं होता अथवा उनके अर्थज्ञानकी आवश्यकता नहीं है' (अनर्थका हि मन्त्राः[2]) इन कृत्रिम सिद्धान्तोंसे हटाकर, वेदको उसके वास्तविक स्वरूपमें, सार्वभौम और उदात्त मानवधर्मकी प्रतिपादक पुस्तक-रूपमें, देखनेका फिरसे वह मार्ग दिखलाया जो प्रायः सहस्रों वर्षोंसे हमसे तिरोहित हो चुका था।

और पाश्चात्य विद्वान्

इसमें सन्देह नहीं कि लगभग आचार्य दयानन्दके समयसे या उनके कुछ पहलेसे ही पाश्चात्य विद्वानोंका भी ध्यान वैदिक साहित्यकी ओर जा रहा था और उन्होंने उस विषयमें अपना अनुसन्धान भी प्रारम्भ कर दिया था। वैदिक विद्वानोंसे छिपा नहीं है कि पाश्चात्य विद्वानोंने वैदिक साहित्य-

---

१. देखिए – आश्वलायन-श्रौत-सूत्र (१।१।२१)।
२. देखिए – निरुक्त (१।१५)।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

के विषयमें जो कार्य किया है वह कितना उपयोगी और महान् है। उसके लिए वे हमारी भूरि-भूरि प्रशंसाके पात्र हैं। परन्तु ऐसा होनेपर भी उनके और आचार्य दयानन्दके वेद-विषयक कार्योंकी तुलना नहीं हो सकती। दोनोंकी दृष्टि, पद्धति और उद्देश्योंमें इतना मौलिक अन्तर है कि दोनोंको, तुलनाके लिए आवश्यक, एक समान धरातलपर ही नहीं रखा जा सकता।

पाश्चात्य विद्वानोंकी दृष्टि, पद्धति और उद्देश्य उस वैज्ञानिकके समान हैं जो रसायन-शालामें दुग्ध-जैसे उपयोगी पदार्थोंका केवल परीक्षणार्थ विश्लेषण कर डालता है, या एक मृत शरीरकी चीर-फाड़ करता है, या खुदाईसे प्राप्त पुरातत्त्व-सम्बन्धी एक शिलालेखको पढ़नेकी चेष्टा करता है। वैज्ञानिकके लिए उन पदार्थोंका अपने-अपने रूपमें कोई मूल्य नहीं होता।

आचार्य दयानन्दके वेदके विषयमें दृष्टि, पद्धति और उद्देश्य ठीक इसके विपरीत थे। वेद उनके लिए कोरी उत्सुकताका विषय न होकर, ताजे दूध, जीवित मनुष्य, अथवा एक मान्य पुस्तककी भाँति, अपना विशेष महत्त्व रखते थे। वास्तवमें वे वेदोंको, न केवल भारतीय समाज, अपितु मानव समाजके लिए भी, एक पथ-प्रदर्शक अजर-अमर साहित्य समझते थे।

इसी मौलिक भेदके कारण दोनोंके वेद-विषयक कार्योंकी तुलना ही नहीं हो सकती। इसीलिए एक भारतीयके नाते हमारे लिए आचार्य दयानन्दका कार्य अनोखा मूल्य और महत्त्व रखता है। वेदोंके विषयमें आचार्य दयानन्दने जो आँख हमको दी है उसकी महत्ताको शनैः-शनैः देश समझेगा। उन्होंने केवल हमारा पथ-प्रदर्शन किया था। यह खेदकी बात है कि हम अभीतक उस मार्गपर अग्रसर नहीं हुए हैं। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि आज भारतमें जो कुछ वैदिक साहित्यकी ओर विद्वानों और जनताकी प्रवृत्ति और रुचि दिखाई दे रही है उसमें बहुत बड़ा भाग

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

आचार्य दयानन्दकी प्रेरणा और प्रयत्नका है।

निश्चय ही भारतकी स्वतन्त्रताके पश्चात् भारतीय संस्कृतिके पुनरुद्धारकी देशव्यापी कामनाके साथ-साथ वेद और वैदिक साहित्यमें रुचिकी प्रवृत्ति और रुचि भी बढ़नी चाहिए। इसलिए आज हम विशेषतः ऐतिहासिक पर्यवेक्षण-द्वारा वेदोंके वास्तविक स्वरूप और महत्त्वको दिखलाते हुए, भविष्यमें उनके स्वाध्याय और अनुशीलनकी दिशा तथा आवश्यकताओंको भी बतलाना चाहते हैं।

ऐतिहासिक पर्यवेक्षण

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

(यजु० ३१।७)

"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो-ऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः…" (बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।१०)।

इस प्रकार वेदकी अद्भुत महिमाके वचनोंसे संस्कृत साहित्य भरा हुआ है। निश्चय ही वेदकी परम्पराका इतिहास निश्चित 'इतिहासकाल'-की ही बात नहीं है। साथ ही वेदके स्वरूपके विषयमें, विशेषतः अर्थकी दृष्टिसे, अनेक प्रकारके मत प्राचीन ग्रन्थोंमें भी पाये जाते हैं। यदि केवल 'निरुक्त'को ही ले लिया जाये, तो भी कमसे कम नैरुक्ताः, याज्ञिकाः, ऐतिहासिकाः, आख्यानवादिनः – ये मत तो स्पष्ट रीतिसे वेद-मन्त्रोंकी व्याख्याके विषयमें पाये जाते हैं। प्रायः इन सब ही मतोंको लेकर संस्कृतमें इस विषयक साहित्य थोड़ा-बहुत पाया जाता है। वेदका स्वाध्याय करने-वालोंके मनमें इन वादोंको देखते हुए बड़ी उलझन पैदा हो जाती है। इसलिए इस ग्रन्थिको खोलना, न केवल वैदिक स्वाध्यायके लिए, किन्तु आज आधुनिक जगत्में उपयोगिताकी दृष्टिसे भी, अत्यन्त आवश्यक है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

इसलिए सबसे प्रथम हमारा कर्तव्य है कि हम वैदिक परम्पराके वास्तविक इतिहासको समझें।

हमारे मतमें इसका सबसे अच्छा समाधान 'निरुक्त'के निम्नलिखित वचनसे होता है –

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।"

(निरुक्त १।२०)

इस उद्धरणमें स्पष्टतया वैदिक परम्पराकी तीन अवस्थाओंका वर्णन है। प्रथम अवस्था मन्त्रोंके साक्षात्कारकी है। जिनपर मन्त्रोंका साक्षात्कार हुआ वे स्वयं 'साक्षात्कृतधर्माणः' थे। इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि वेदोंके मन्त्र उनके लिए केवल बौद्ध ज्ञान न थे, किन्तु उनके जीवनके साथ उनका एकात्मभाव था। अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य आदि देवताओं-द्वारा प्रतिपालित ऋतरूप आधिदैविक धर्म और मनुष्य-द्वारा अनुसरणीय सत्यरूप आध्यात्मिक धर्मके समन्वयका, या एकरूपताका, जो कि वैदिक मन्त्रोंका परम प्रतिपाद्य विषय है, प्रत्यक्ष प्रदर्शन उन ऋषियोंकी जीवन-चर्यामें था। दूसरे शब्दोंमें, वेदोंकी उस प्रथम अवस्थामें ऋषियोंका जीवन ही वैदिक मन्त्रोंकी जीती-जागती व्याख्या थी। हमारी समझमें मनुस्मृतिका

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥

(मनु० १।२३)[1]

यह प्रसिद्ध श्लोक इसी अवस्थाका वर्णन करता है।

---

१. तु० "प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्। तेषां तप्यमानानाꣳ रसान् प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः॥ स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्। तासां तप्यमानानाꣳ रसान् प्रावृहदग्नेरृचो वायोर्यजूꣳषि सामान्यादित्यात्॥" (छान्दोग्य-उपनिषद् ४।१७।१-२)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

इसके पश्चात् उन लोगोंकी परम्परा चली जिनको उन ऋषियोंके
सम्प्रदायसे मन्त्रोंकी प्राप्ति होती रही और उनके जीवनको भी
जीवनसे प्रेरणा और वैदिक जीवनका आदर्श मिलता रहा।
वैदिक परम्पराकी द्वितीय अवस्था थी। शास्त्रोंमें वर्णित वास्तविक
काल यही था।

यही उपर्युक्त दो अवस्थाएँ वास्तवमें ऐसी थीं जब कि वैदिक आदर्शों-
जीता-जागता रूप, न केवल शाब्दिक परम्पराके रूपमें, किन्तु जीवनमें
पायी जानेवाली वैदिक उदात्त भावनाओंके रूपमें भी, जगत्में
था। निश्चय ही उस दिव्य जीवन और अवस्थाका ज्ञान हमें
हो सकता है तो केवल वेदके मन्त्रोंसे ही हो सकता है। उत्तर-
साहित्य, चाहे वह कितना ही प्राचीन क्यों न हो, उस अवस्थाको
ठीक अनुभव करनेके लिए हमारा सहायक नहीं हो सकता।

यही वह समय था जब कि हमारे पूर्वज वास्तवमें, अपने प्रतिदिनके
में, प्रकृति-माताकी गोदमें मानो बच्चोंकी तरह खेलते हुए, परमात्मा
विभूति-रूप सूर्य वायु उषा आदि देवताओंके साथ मानो सखा-भावसे
और बातचीत करते हुए

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात्।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति॥

(ऋग्० १।१२४।३)

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥

(ऋग्० १।११५।१)

वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे।
प्र ण आयूंषि तारिषत्॥

(ऋग्० १०।१८६।१)

दिव्य गीतोंको गाते थे।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

वास्तवमें इसी युगको मन्द स्मृतिको पुराणोंमें मनुष्योंके बीचमें देवताओंके आने और वार्तालाप करनेके रूपमें वर्णन किया है। यही वह समय था जिसको पुराणों आदिके साहित्यमें सत्ययुगका नाम दिया गया है।

इसके पश्चात् वह समय आया जब कि वास्तविक जीवन-चर्या और मन्त्रोंके आदर्शोंमें विभिन्नता आ गयी और इसी कारण जीवन और आदर्शों-की एकतासे उपदेशमें जो प्रतिसङ्क्रमण या प्रतिफलनकी सामर्थ्य होती है उसके नष्ट होनेसे उपदेशके प्रति लोगोंकी अनास्था होने लगी। इसी कारण इस अवस्थामें वैदिक मन्त्रों और उनके अर्थोंकी परम्पराको जारी रखनेकी दृष्टिसे वेदांगोंकी सृष्टि हुई।

यही वह अवस्था थी जब कि हमारी सम्मतिमें उस विस्तृत वैदिक (श्रौत) कर्मकाण्डका विस्तार और संग्रन्थन किया गया, जिसका वर्णन ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रोंमें है। इसी बातका वर्णन—

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यं-
स्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि।

(मुण्डकोपनिषद् १।२।१)

(अर्थात्, मन्त्रोंमें देखे गये कर्मोंको ही पीछेसे विस्तृत किया गया) इस उपनिषद्-वाक्यमें किया गया है।

इसी बातका आलंकारिक वर्णन श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ११।५) में इस प्रकार मिलता है—

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः।
नानावर्णविधाकारो नानैव विधिनेज्यते॥
मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः।
यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च॥
....

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः ।
हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः ॥
तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम् ।
यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः ॥

इस वर्णनमें स्पष्टतया कर्मकाण्डात्मक यज्ञके स्रुक्, स्रुवा आदि णोंका वर्णन सत्ययुगके अनन्तर त्रेतायुगमें किया गया है ।

कर्मकाण्डका विकास और ह्रास

यों तो धार्मिक कर्मकाण्डकी भावना मनुष्यमें स्वाभाविक है। जैसे एक भी प्रकृतिके सुन्दर दृश्योंको देखकर अपने उल्लासको दबानेमें त होकर उछलने-कूदने लगता है; इसी प्रकार मनुष्य भी प्राकृतिक शके सम्पर्कमें एक अद्भुत उल्लाससे प्रभावित होकर बाह्य चेष्टा- उसको अभिव्यक्त करना चाहता है। इसी आधारपर विभिन्न ण्डोंका विकास हुआ है। इसी स्वाभाविक प्रवृत्तिके सहारे विभिन्न में, साधारण जनोंके आकर्षण और मनोरंजनकी दृष्टिसे, विभिन्न को मूर्त या ऐन्द्रियक रूप देनेके लिए, समय-समयपर विभिन्न ण्डोंका विकास होता रहता है।

नुष्य समाजकी यह एक सार्वकालिक प्रवृत्ति है, और इसकी कता भी है; पर शनैः-शनैः कर्मकाण्डमें वह अवस्था आ जाती है वह जटिल होने लगता है और उसके संचालनके लिए समाजमें विशिष्ट पुरोहित-वर्गकी आवश्यकता होने लगती है। प्रारम्भमें -वर्ग समाजमें-से ही बननेके कारण नियन्त्रित होनेके साथ-साथ भी होता है।

कुछ कालके अनन्तर कर्मकाण्डके विकासमें कलियुगकी अवस्था ती है। इसका दुष्प्रभाव उभयतोमुखी होता है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

एक ओर तो जनतामें आलस्य और अकर्मण्यताकी भावनाके साथ-साथ यह विचार उत्पन्न हो जाता है कि उसका उपास्यदेव उससे दूर और उसकी पहुँचसे बाहर है। वह पुरोहितवर्गका सहारा ढूँढ़ने लगती है और अन्तमें अपनी कर्तव्यताका सारा भार पुरोहितवर्गपर छोड़कर धर्ममें वकालत या प्रातिनिध्यके सिद्धान्तको मानने लगती है। इससे उसकी रही-सही नैतिकता भी समाप्त हो जाती है।

दूसरी ओर पुरोहित लोग, जो प्रारम्भमें अर्थतः पुरः + हित अर्थात् नेताका काम करते हैं, शनैः-शनैः जनताको अपने स्वार्थके लिए दुहनेमें ही अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझने लगते हैं। इस अवस्थामें कर्मकाण्ड दिन दूना रात चौगुना बढ़ने लगता है। क्योंकि पुरोहितवर्गका हित इसीमें होता है कि, वकीलोंके पंजेमें फँसे मुवक्किलोंकी तरह, जनता साधारणसे साधारण बातके लिए उसपर आश्रित होकर उसके लाभका साधन बने।

संसारकी विभिन्न जातियोंके इतिहासमें कर्मकाण्डके विकासके (जो कि क्रमशः अपकासका ही रूप धारण कर लेता है) इस प्रकारके उदाहरण मिलते हैं। भारतवर्षमें भी वैदिक कर्मकाण्डका विकास इसी प्रकार हुआ था।

ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें ही कर्मकाण्डकी उक्त प्रवृत्तिका उल्लेख स्पष्ट शब्दोंमें मिलता है, जैसे –

"यथा ह वा इदं निषादा वा सेळगा वा पापकृतो वा वित्तवन्तं पुरुषमरण्ये गृहीत्वा कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति, एवमेव त ऋत्विजो यजमानं कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति यमनेवंविदो याजयन्ति।"

(ऐतरेय-ब्राह्मण ८।११)

(सेळगाः = चौराः। कर्तमन्वस्य = गर्ते प्रक्षिप्येत्यर्थः)।

अर्थात् यज्ञके वास्तविक स्वरूपको न जानकर जो ऋत्विज् कर्मकाण्ड कराते हैं वे वास्तवमें यजमानको लूटनेवाले लुटेरे होते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

इसी प्रकार 'ऐतरेय-ब्राह्मण' (३।४६) में ऐसे ऋत्विजोंकी निन्दा है लोभ भय या अनाचारके वशीभूत होकर यज्ञ कराते हैं।

सबसे भयानक स्थल ब्राह्मणादि ग्रन्थोंके वे हैं जहाँ यह बतलाया है ऋत्विज् यदि चाहे तो अपने ही यजमानको विभिन्न प्रकारकी हानि पहुँचा सकता है। उदाहरणार्थ, 'ऐतरेय-ब्राह्मण'के अध्याय ११ खण्ड में विस्तारसे बतलाया है कि होता यदि चाहे तो यजमानको अपने पाठमें गड़बड़ करके अनेक प्रकारकी हानि पहुँचा सकता है; यहाँ-कि उसको अन्धा कर सकता है या उसको मार भी सकता है। उदाह-ऐतरेय-ब्राह्मणके निम्नस्थ वचनको देखिए – "यं कामयेत प्राणेनैनं वानीति वायव्यमस्य लुब्धं शंसेदृचं वा पदं वातीयात्तेनैव तल्लुब्धं प्राणे-तद् व्यर्धयतीति" (३।३) इत्यादि। कर्मकाण्डके नैतिक पतनकी पराकाष्ठा है कि ऋत्विज् अपने ही यजमानको हानि पहुँचानेकी ना भी करे।

इसी प्रकार वैदिक कर्मकाण्डमें पशु, प्रतिष्ठा, पौरोहित्य, सन्तान, ज्य, पत्नी-जैसे लक्ष्योंके लिए, यहाँतक कि स्त्रीवशीकरण, सपत्नीनाश, बन्धुनाश-जैसी कामनाओंके लिए भी, कर्मों या मन्त्रोंके विधानसे स्पष्ट ता है कि वैदिक कर्मकाण्ड अत्यधिकताकी किस सीमा तक पहुँच था।

'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के सिद्धान्तके अनुसार अन्तमें वैदिक कर्मकाण्डकी ताने उसको ही प्रायः विनष्ट कर दिया। आज वह जनताके जीवनके में केवल प्राचीन ग्रन्थोंमें ही वर्णनके रूपमें पाया जाता है।

इस प्रकार वैदिक-परम्पराकी तृतीय अवस्थामें, जहाँ वैदिक कर्म-ने अपने प्रारम्भ-कालमें वैदिक भावनाओंको मूर्त रूप देकर जनतामें संचारमें सहायता दी होगी, वहाँ अन्तमें उसके ही द्वारा वैदिक नाओंका तथा नैतिकताका जनतासे शनैः-शनैः विलोप होने लगा।

इसके अतिरिक्त, सबसे बड़ी हानि जो हुई वह यह थी कि कर्मकाण्ड-

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

के प्रभावका महत्त्व इतना बढ़ा कि विद्वानोंमें भी "मन्त्राश्च कर्मकरणा." (आश्वलायन-श्रौत-सूत्र १।१।२१), "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" (पूर्व-मीमांसा १।२।१), यहाँतक कि "अनर्थका हि मन्त्राः" (निरुक्त १।१५) यह सिद्धान्त माना जाने लगा। इससे, प्रथम तो, वेदमन्त्रोंके अर्थज्ञानकी ओरसे पूर्ण उपेक्षा होने लगी; दूसरी ओर उनकी व्याख्या यदि की भी गयी तो प्रायेण पूर्णतः याज्ञिक दृष्टिसे की जाने लगी।

यही कारण है कि वैदिक साहित्यका बहुत बड़ा भाग याज्ञिक दृष्टिसे लिखा गया है। ब्राह्मण और कल्पसूत्रोंके साहित्यके अतिरिक्त अधिकतर वेदांगोंका भी झुकाव, तात्कालिक विचारधाराके अनुसार, उसी ओर है। यहाँतक कि व्याकरणका सम्बन्ध यद्यपि अर्थज्ञानसे है, तो भी 'महाभाष्य'में जो प्रयोजन व्याकरणके बतलाये हैं उनका आधिक्येन सम्बन्ध याज्ञिक दृष्टि-से ही है।

'निरुक्त' ही एक ऐसा ग्रन्थ (वेदांग) है जो स्पष्टतया याज्ञिक पद्धति-को छोड़कर अपना स्वतन्त्र आधार रखता है। इसीलिए 'निरुक्त'में यत्र-तत्र "इति याज्ञिकाः" तथा "इति नैरुक्ताः" का परस्पर विरोधभावसे प्रायः उल्लेख किया गया है।

यह विचित्र-सी बात है कि आचार्य दयानन्दसे पूर्व, वेदार्थ करनेके विषयमें नैरुक्त प्रक्रिया और याज्ञिक प्रक्रियाका परस्पर कोई विरोध-भाव है, इस बातकी ओर, स्कन्द स्वामी आदि बहुत थोड़े ग्रन्थकारोंको छोड़कर, प्रायेण किसीका ध्यान भी नहीं गया था। यही कारण है कि यास्कके अनन्तर जो भी वेद-भाष्यकार हुए हैं उनमें-से प्रायः सभीने याज्ञिक दृष्टिके आधारपर ही अपनी-अपनी व्याख्याएँ लिखी हैं।

वैदिक कर्मकाण्डके विकासमें तीन दृष्टियाँ

ऊपर हमने वैदिक कर्मकाण्डके विकासकी सामान्य रूपसे चर्चा की है। इस प्रसंगमें उस विकासमें क्रमसे आनेवाली तीन दृष्टियोंको स्पष्ट कर देना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

वश्यक प्रतीत होता है। वे इस प्रकार हैं –

आध्यात्मिकता-मूलक आधिदैविक दृष्टि

वैदिक मन्त्रोंके देवताओंपर विचार करते हुए निरुक्तकार यास्कने ता है –

"माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्म-न्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति"।

(नि० ७।४)

इसका अभिप्राय यही है कि

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

(यजु० ३२।१)

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्य–
ग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋग्० १।१६४।४६)

आदि मन्त्रोंके अनुसार वेदके तत्तद्देवताको एक परमात्मतत्त्वकी ही मूर्ति समझना चाहिए। यही आध्यात्मिकता-मूलक आधिदैविक दृष्टि है। सबमें वैदिक कर्मकाण्डका प्रारम्भिक विकास इसी दृष्टिके आधारपर ा होना चाहिए।

शुद्ध आधिदैविक दृष्टि

वैदिक कर्मकाण्डके विकासकी द्वितीय अवस्थामें आध्यात्मिकताके ारको छोड़कर तत्तद्देवताकी स्वतन्त्र सत्ता मानी जाने लगी थी। यही ह आधिदैविक दृष्टि कही जा सकती है।

अधियज्ञ दृष्टि

उक्त कर्मकाण्डकी अन्तिम अवस्थामें यज्ञकी प्रक्रियाको ही एक यन्त्र

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

(मशीन) का स्थानीय मानकर तत्तद् याग आदिको ही समष्टिरूपसे अपूर्वका उत्पादक माना जाने लगा था। इस दृष्टिमें तत्तद् देवताकी स्वतन्त्र सत्ताको भी, उसके द्वारा बाधाके भयसे, न मानकर 'मन्त्रमयी देवता' इस मीमांसाके सिद्धान्तका मानना आवश्यक हो गया था।

इसी अधियज्ञ दृष्टिके कारण वस्तुतः "अनर्थका हि मन्त्राः", "ब्राह्मणा (ऋत्विग्रूपाः) वै भूमिदेवाः"[1] ऐसे सिद्धान्तोंकी शनैः-शनैः प्रवृत्ति हुई। 'महाभाष्य'का "वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति। वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः" (पस्पशाह्निक) यह कथन भी वास्तवमें उसी परिस्थितिका द्योतक है। इसी दृष्टिके दुरुपयोगके कारण वैदिक कर्मकाण्ड बढ़ते-बढ़ते जनताके ऊपर भारभूत हो गया, उसमें वैदिक भावनाओंकी मौलिक नैतिकताका आधार भी प्रायः नहीं रहा, और इसीलिए अन्तमें जनतासे वह उठ गया। यही समय था जब कि नैतिकता-प्रधान जैन और बौद्ध धर्मोंका उदय भारतवर्षमें हुआ।

आधुनिक हिन्दूधर्ममें शुष्क कर्मकाण्डमें कृतकृत्यताकी भावनाका मूल वैदिक कर्मकाण्डके विकासकी यही अन्तिम अधियज्ञ दृष्टि है।

वेदोंके महान् आदर्श

उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट है कि प्रायेण शुष्क और आदर्शहीन याज्ञिक कर्मकाण्डकी धाराके प्रवाहमें बहते हुए हम वेदके वास्तविक आदर्शों और भावनाओंसे बहुत दूर पहुँच गये हैं, लगभग ऐसे रेगिस्तानमें जहाँ वह धारा ही सूखनेको आ गयी है। वेदोंका हमारे जातीय जीवनसे प्रायः कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। हमारे देशमें प्रायेण वैदिकता यदि कुछ शेष है तो केवल इस रूपमें कि यदा कदाचित् समाजमें विवाह आदिके अवसर पर कुछ वेद-मन्त्र, शुद्ध या अशुद्ध, किसी पुरोहित-द्वारा पढ़ दिये जाते

---

१. देखिए—"द्वया वै देवाः। देवा अहैव देवाः। अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः।" (शतपथब्राह्मण ४।३।४।४)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

जिन मन्त्रोंके अर्थोंको अधिकतर न तो पढ़नेवाला और न सुनने ही समझते हैं।

देखना यह है कि हमको, हमारे देशको और संसारको वास्तवमें वेदों-उपयोगिता या आवश्यकता है भी या नहीं। यदि वास्तवमें नहीं है, तो पूर्वजोंने प्रागैतिहासिक कालसे उनकी परम्पराकी रक्षा ऐसे प्रकारसे, कष्टोंको झेलकर भी क्यों की, जिसका दूसरा उदाहरण संसारमें नहीं मिलता ? और ऋषि, मुनि, आचार्योंने, जिनकी वास्तविक के कारण संसार उनका आज भी सम्मान करता है, उनके बराबर क्यों गाये हैं ?

यह स्पष्ट है कि वैदिक कर्मकाण्डकी उच्छिन्नप्राय परम्पराके आधारपर की उपयोगिता या महत्ताको हम संसारके सामने सिद्ध नहीं कर सकते। के द्वारा ही तो वैदिक परम्पराको धक्का लगा है, यहाँ तक कि उस काण्डने ही अपने प्राचीन वैदिक रूपको छोड़कर अब एक नया रूप कर लिया है। इसलिए अब तो हमें वेदके विचारों और आदर्शोंको कसौटीपर रखकर देखना चाहिए कि उनका मूल्य कितना है। वास्तवमें सूर्यके प्रकाशके लिए दूसरे प्रकाशकी आवश्यकता नहीं होती, इसी वेदकी महत्ताको सिद्ध करनेके लिए वेदकी ही सहायता लेनी ए। इसलिए हम इसी आधारपर अपना परीक्षण प्रारम्भ करते हैं।

के देवतावाद

वेदको पढ़ते ही सबसे प्रथम समस्या जो पढ़नेवालेके सामने उपस्थित है वह तत्तद्-देवताको लेकर स्तुतिकी है। आपाततः यही प्रतीत है कि वह बहुदेवतावादके सिद्धान्तपर आश्रित है। पर गम्भीर नसे स्पष्ट हो जाता है कि किन्हीं अर्थोंमें तत्तद्देवताका विचारकृत व्यक्तित्व होनेपर भी वह अन्यस्थानीय तथा अन्यान्य कर्म करनेवाले ओंके साथ एकसूत्रतामें अनुस्यूत है। स्पष्टतः उनका मूलरूप अध्यात्म

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

है, जिसको कार्मिक दृष्टिसे विभिन्न प्रतीतिको ही तत्तद्देवताका नाम दिया गया है। वेदके "तदेवाग्निस्तदादित्यः" (यजु० ३२।१) आदि मन्त्र तथा गीताका विभूतिवाद इसी सिद्धान्तकी व्याख्या करते हैं।

वैदिक देवतावादका लक्ष्य यही है कि विश्वप्रपंचकी प्रत्येक विभूतिमें उसके द्वारा उस परमतत्त्वका साक्षात्कार किया जावे जिसका योगी लोग बड़ी तपस्या और साधनासे अपने अन्दर साक्षात्कार करना चाहते हैं, पर कर पाते हैं या नहीं, यह सन्दिग्ध है।

वैदिक देवतावाद प्राकृतिक दैवी शक्तियोंके साथ मनुष्य-जीवनके सामीप्यकी ही नहीं, तादात्म्यकी भी, आवश्यकताको बतलाता है।[1] वास्तवमें आजके जगत्की यह एक अत्यन्त आवश्यकता है, जब कि यन्त्रों और वैज्ञानिक आविष्कारोंके प्रभावसे हमारा जीवन प्रकृति और स्वाभाविकतासे

---

१. तु० "सातत्येन स्वकर्तव्यपालने ये दृढव्रताः।
स्वार्थबुद्ध्या न संपृक्ताः परोपकरणे रताः॥
विश्वसंचालने भागं संजानाना उपासते।
अनादिनिधना नूनमस्मद्दृष्ट्या न संशयः॥
ते देवा वेद आम्नाता महद्भ्योऽपि महत्तराः।
विश्वस्मादंहसोऽस्माकं त्रातारो ये सुदानवः॥
सायुज्यमथ सारूप्यं सालोक्यमपि वा पुनः।
वस्तुतः सखिभावश्च तैः सहास्माभिरिष्यताम्॥
देवानां नियमानाहुर्ऋतशब्देन पण्डिताः।
अस्माकं जीवनस्यापि व्यापारास्तैर्नियन्त्रिताः॥
देवानां सुमतौ तिष्ठन् सर्वभावेन सर्वदा।
जीवन्नेव नरो नूनं सुखं स्वर्गं समश्नुते॥
सत्सङ्गतेर्महत्त्वं यद् उच्चैराहुर्मनीषिणः।
वस्तुतस्तस्य सार्थक्यं जायते देवसंगतौ॥
देवसंगतिरेवैषा सर्वकामदुघा नृणाम्।
ऋषिभिर्यज्ञशब्देन श्रुत्यादिषु निगद्यते॥"
('राशिमाला' ३८।२-९)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

दूर होता जा रहा है। वानप्रस्थाश्रम, तीर्थोंकी यात्रा, मुनियोंके
वन, तथा गुरुकुलोंकी परम्पराका स्मरण रखनेवाली भारतीय संस्कृतिका
उक्त सन्देश मानव-जातिके लिए रहा है। आज संसारको इसकी
भी अधिक आवश्यकता है।

एक बात यहाँ कह देना आवश्यक है। आज-कल वेदके व्याख्याता
इन्द्र आदि वैदिक देवताओंके स्वरूपकी व्याख्या प्रकाशमान ईश्वर,
शक्तिशाली परमेश्वर इत्यादि प्रकारसे ही कर देना पर्याप्त समझते हैं। पर
इनका प्रयोग वेदमें विशेषण रूपसे ही हुआ है? ऐसा तो नहीं प्रतीत
। तत्तद् देवताओंके लिए निश्चित रूपसे विभिन्न स्थिर नाम देनेका
प्राय उनके स्थिर निश्चित स्वरूपसे अवश्य होना चाहिए।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥
(गीता १५।१४)

गीताके इस वचनसे इसी बातका कुछ संकेत मिलता है। इसलिए हमें
सा प्रतीत होता है कि अधिकतर वैदिक देवताओंके विशिष्ट मौलिक
को समझनेका अपेक्षणीय प्रयत्न अभीतक नहीं किया गया है।
नौ, त्वष्टा, पूषा, नराशंसः, मित्रः आदि ऐसे ही नाम हैं। इस सम्बन्धमें
देवताओंके विशिष्ट वर्णनोंके गम्भीर अध्ययनकी आवश्यकता है।

और सत्य

वैदिक उदात्त भावनाओंका मौलिक आधार ऋत और सत्यका सिद्धान्त
जिस प्रकार वैदिक देवता-वादका लक्ष्य एकसूत्रीय परमात्मतत्त्वका
कार है, इसी प्रकार ऋत और सत्यके सिद्धान्तका अभिप्राय सारे
प्रपंचमें व्याप्त उसके नैतिक आधारसे है। इस आधारके दो सिरे
स हैं। बाह्य जगत्की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमोंके अधीन
रही है। परन्तु उन सारे नियमोंमें परस्पर विरोध न होकर एकरूपता
स विद्यमान है। इसीको ऋत कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्यके जीवन-

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

के प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श हैं उन सबका आधार सत्य है। अपने वास्तविक स्वरूपके प्रति सच्चा रहना, यही वास्तविक धर्म है। परन्तु वैदिक आदर्श, इससे भी आगे बढ़कर, ऋत और सत्यको एक ही मौलिक तथ्यके दो रूप मानता है। इसके अनुसार मनुष्यका कल्याण प्राकृतिक नियमों और आध्यात्मिक नियमोंमें परस्पर अभिन्नताको समझते हुए उसके साथ अपनी एकरूपताके अनुभवमें ही है।

ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।

(ऋग्० ४।२३।८)

सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतः।

(ऋग्० १०।३७।२)

इत्यादि मन्त्रोंमें ऋत और सत्यकी ही महिमाका वर्णन है।

मनुष्य अपने प्रति सच्चा रहे और प्राकृतिक नियमोंका भी पालन करे इससे अधिक कल्याणकारी उपदेश मनुष्यके लिए क्या हो सकता है?

वैदिक उदात्त भावनाएँ

वेदोंका अद्वितीय वैशिष्ट्य और महत्ता इस बातमें है कि वे एक अत्यन्त ऊँचे, अत्यन्त विशाल और अत्यन्त व्यापक स्तरपर मनुष्यको बिठाकर उपदेश देते हैं। उनकी दृष्टि यावद् विश्वप्रपंचमें व्याप्त है।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा
येन स्वः स्तभितं येन नाकः।

(यजु० ३२।६)

ऋतञ्च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत

(ऋग्० १०।१९०।१)

तथा

सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे
यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्।

(अथर्व० ४।१६।५)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

प्रकार परमात्मा अखिल विश्व-प्रपञ्चमें व्याप्त होकर मनुष्यके बाहर भीतर, सर्वत्र, सबका शाश्वत नियमों-द्वारा संचालन कर रहे हैं। अत्यन्त महत्त्वके सिद्धान्तोंकी पृष्ठभूमिमें वैदिक आदर्शों और भावनाओंका उच्च और उदार होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि वेदको हम विश्वबन्धुत्व, विश्व-शान्ति, समष्टि-भावना, भद्र-भावना, आशावाद, निष्ठा, श्रद्धा तथा सामनस्य-जैसे महान् आदर्शों और उदात्त भावनाओंसे पूर्ण पाते हैं, जैसा कि संक्षेपमें हम नीचे दिखाते हैं:—

विश्वबन्धुत्व और विश्वशान्ति

वेद में

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

(यजु० ३६।१८)

पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः

(ऋग्० ६।७५।१४)

याँश्च पश्यामि याँश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि।

(अथर्व० १७।१।७)

जैसे विश्वबन्धुत्व, और

द्यौ शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्ति-
र्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्ति-
रेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥

(यजु० ३६।१७)

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु।

(ऋग्० ७।३५।८)

aGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

जैसे विश्वशान्तिके भाव भरे पड़े हैं।

समष्टि-भावना

वैदिक प्रार्थनाओंकी एक विशेषता यह है कि वे प्रायः बहुवचन होती हैं।

"धियो यो नः प्रचोदयात्"
"यद् भद्रं तन्न आसुव"
"अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्"

इत्यादि इत्यादि मन्त्रोंमें बहुवचनोंमें ही प्रार्थनाएँ की गयी हैं। य सांघिक प्रवृत्ति वर्तमान हिन्दूधर्म तथा हिन्दूसमाजकी वैयक्तिक भावनाओं सर्वथा विपरीत है। किसी भी समाजकी उन्नति तथा रक्षाके लिए समष्टि-भावना कितनी आवश्यक है इसको सिद्ध करनेकी आवश्यक नहीं है।

भद्र-भावना

मनुष्य स्वभावसे सुखके लोभ और दुःखके भयसे किसी काममें प्रवृ या उससे निवृत्त होता है। परन्तु वास्तविक धर्मकी भावनामें इस सुख दुःखकी भावनाका कोई स्थान नहीं होता। उसमें तो सुख और दुःख ध्यानको नितरां छोड़कर (सुखदुःखे समे कृत्वा), विशुद्ध कर्तव्य-बुद्धि ही काम करना होता है। यही वास्तविक भद्र-भावना या कल्याण-भाव है। जैसे एक फूलका सौन्दर्य और सुगन्ध, किसी बाह्य कारणसे न होक उसके स्वरूपका अंग है; ऐसे ही कल्याण-मार्गके पथिकका अनासक्त होक कर्तव्यपालन उसके स्वरूपका अंग होता है; उसके जीवनका सार्थक जीवनकी पूर्णांगता ही इसमें होती है।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः
(यजु० २५।२१)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

यद् भद्रं तन्न आ सुव

(यजु० ३०।३)

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि

(ऋग्० १०।३७।६)

भद्रं नो अपि वातय मनः

(ऋग्० १०।२०।१)

भद्रं भद्रं न आ भर

(ऋग्० ८।९३।२८)

यादि शतशः वेदमन्त्र भद्र-भावनासे ओत-प्रोत हैं।

वाद

दिक धर्मकी एक मुख्य विशेषता उसका आशावाद है। हमारा साहित्य आशावादके ओजपूर्ण भावोंसे परिपूर्ण है।

ओजोऽस्योजो मयि धेहि" (यजु० १९।९), "अदीनाः स्याम शरदः (यजु० ३६।२४), "मदेम शतहिमाः सुवीराः" (अथर्व० २०। , "कृधी न ऊर्ध्वाञ् चरथाय जीवसे" (ऋग्० १।३६।१४), वानां सुमनसः स्याम" (ऋग्० ६।५२।५), "अस्माकं सन्त्वाशिषः" २।१०), "पूषेम शरदः शतम्" (अथर्व० १९।६७।५), – जैसी आशावादकी समुज्ज्वल प्रतीक हैं।

के अतिरिक्त, सांमनस्य, निर्भयता, वीरता, श्रद्धा आदिकी उदात्त वेदोंकी अद्वितीय विशेषता हैं।

श्चर्य तो यह है कि सहस्राब्दियोंसे वेदोंकी इस परमोत्कृष्ट विशेषता- की जाति बराबर उपेक्षा करती रही। बड़े-बड़े वेदभाष्यकारोंका न इस ओर नहीं गया। तभी तो गीता-जैसे तात्त्विक ग्रन्थमें भी पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः" (गीता २।४२) ऐसे शब्दोंमें स्मरण किया गया है। स्पष्टतया यह सारा दुष्प्रभाव वेदको कर्म- साधनमात्र माननेवाले वैदिक कर्मकाण्डियोंके विचारोंका ही था,

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

जैसा हम ऊपर दिखला चुके हैं। यदि ऐसा न होता, यदि वेदके इस उदा स्वरूपको जनताके सामने रखा गया होता, तो कदाचित् जैन बौद्ध-जै नैतिकताप्रधान सम्प्रदायोंका प्रारम्भ और विकास उनके वर्तमान रूपमें होता। निःसन्देह आचार्य दयानन्दका बहुत बड़ा काम वेदकी इस विशेषता की ओर संसारका ध्यान दिलाना था।

वेदपर सर्वसाधारणका अधिकार

जबतक वेदोंको केवल वैदिक कर्मकाण्डका साधन (मन्त्राश्च कर्म करणाः) माना जाता रहा, यह स्वाभाविक बात थी कि उनपर जनताका अधिकार न हो और उनको केवल विशिष्ट लोगोंके लिए ही सीमित रखा जाये। उसी समय ऐसे कठोर नियम बनाये गये थे कि शूद्र यदि वेदोंको सुन ले तो उसके कानोंमें पिघला हुआ राँगा डलवा देना चाहिए, और यदि बोले तो जिह्वा कटवा देनी चाहिए, । (देखिए–'गौतमधर्मसूत्र' २।३। ४ अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः)। पर अब तो वह कर्मकाण्ड ही प्रायः विलुप्त हो चुका है और साथ ही अपनी उदात्त भावनाओं और आदर्शोंके कारण वेदोंकी सार्वभौम-स्वरूपता स्पष्ट होने लगी है। ऐसी अवस्थामें हमारा कर्तव्य हो जाता है कि मानवमात्रके हितकी दृष्टिसे ही वेदोंको जनता या सर्वसाधारण की पुस्तक बनानेका प्रयत्न करें। स्वयं वेद ही "इमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः" (यजु० २६।२) इन शब्दोंमें इसका स्पष्टतया प्रतिपादन करते हैं।

पर इस लक्ष्यकी सिद्धि कैसे हो सकती है, यह एक महान् प्रश्न है। हमारे मतमें इसके लिए निम्नलिखित उपायोंकी आवश्यकता है–

१. सबसे पहला उपाय यह है कि वेदाध्ययनको अधिकसे अधिक सरल और सुबोध और साथ ही रोचक बनाया जाये। हमारी दृष्टिमें वैदिक भाषा तथा वैदिक व्याकरणके ऊपर ऐसी पुस्तकें लिखी जा सकती हैं जिनके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

सर्वसाधारणकी सरलतासे वैदिक साहित्यमें गति हो सकती है। इस में एक बृहद् योजना हमारे सामने है जिसको यथासमय कार्यान्वित का हमारा विचार है।

२. वेदोंको वस्तुतः असाम्प्रदायिक दृष्टिसे जबतक जनताके सामने रखा जायेगा तबतक आज-कलके युगमें उनकी ओर जनताका ण नहीं हो सकता। संसारमें बड़ेसे बड़े पुरुषों और ग्रन्थोंका उपयोग महत्त्व इसीलिए प्रायः कम हो जाता है, क्योंकि उनको उनके ही वालोंने तत्तत्सम्प्रदायकी सीमामें बद्ध कर दिया होता है। आज कवीन्द्र द और उनकी 'गीतांजलि' को संसार जानता है और उनका अध्ययन व्यापी है। क्योंकि उनका सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय-विशेषसे नहीं है। यह बात भगवान् महावीर और उनकी धर्म-पुस्तकोंके विषयमें नहीं जा सकती। इसलिए वेदोंका वास्तविक महत्त्व संसारको तब ही होगा जब कि हम उनको साम्प्रदायिक भावनासे पृथक् रखेंगे। वेदोंको विभिन्न सम्प्रदायोंकी पुस्तकोंके साथ एक ही धरातलपर रखनेसे का मान और स्वरूप घटेगा ही, बढ़ेगा नहीं। वेदोंके लिए 'वेद' शब्द-प्रयोग भी बड़े महत्त्वकी बात है। वेदका अर्थ ज्ञान है और ज्ञान साम्प्र-क हो ही नहीं सकता। कदाचित् लोगोंको नहीं ज्ञात है कि विदेशोंमें भी इस शब्दके प्रयोगकी परम्परा जीवित है। चेकोस्लोवाकियामें 'वेद' का प्रयोग साइन्सके लिए अब भी प्रसिद्ध है।

३. प्रायः कम लोग जानते हैं कि अर्थहीन शुष्क कर्मकाण्डको प्रवृत्ति-बढ़नेसे अर्थज्ञानकी ओरसे जनताको उपेक्षा होने लगती है। उससे क भावनाओंके ह्रासकी बात हम ऊपर दिखला चुके हैं। आचार्य न्दने यही समझकर 'आर्योद्देश्यरत्नमाला'में 'यज्ञ' की 'संसार-हित-तनका कार्य' एतदर्थक परिभाषा की है। इसपर भी लोग परम्परा-भावनाओंसे प्रेरित होकर, अर्थको नितरां न समझते हुए भी, सहस्रों 'स्वाहा', 'स्वाहा' करते हुए बड़े-बड़े हवनोंमें लक्षों रुपयोंका व्यय (या

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अपव्यय?) करते हुए देखे जाते हैं। वास्तवमें वैदिक भावनाओंके सर्वसाधारणके प्रचारमें इस कारणसे भी बड़ी हानि सदासे होती रही है। निश्चय ही वेदोंकी वास्तविक महत्ता संसार पर इन वृहद् हवनोंसे नहीं प्रकट हो सकेगी। जितना कर्मकाण्ड आवश्यक है उसमें भी सार्थकता और गम्भीरता लानी चाहिए।

४. किसी सिद्धान्तकी महत्ता उसकी अपनी ही महत्तापर निर्भर होती है जो कि किसी भी भाषामें प्रकट की जा सकती है। वेदका वेदत्व उसके अर्थमें है, न कि उसके शब्दोंमें; यद्यपि परम्पराकी रक्षाके लिए उसकी शब्दानुपूर्वीकी रक्षा भी हमारा महान् कर्तव्य है।

शब्दोंके अर्थ करनेमें भी सदा शब्दानुवादसे काम नहीं चलता, भावानुवादकी भी प्रायः आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, वानप्रस्थ शब्दका आज-कल भावानुवाद ही किया जा सकता है। इसी प्रकार वेदोंके शब्दोंकी व्याख्यामें भी आवश्यकता हो सकती है। अभिप्राय यह है कि वेदोंपर जनताकी रुचि और अधिकारके लिए उनको जनताकी भाषामें ही जनताके सामने अधिकसे अधिक रखनेकी आवश्यकता है। यही बात वेदोंके सन्देशको विदेशोंमें ले जानेके लिए भी अपेक्षित होगी।

वेदके विषयमें हमारी आवश्यकताएँ और कर्तव्य

ऊपर हम दिखला चुके हैं कि सहस्रों वर्षोंके अनन्तर हमारा फिरसे ध्यान वेदोंके मौलिक या वास्तविक स्वरूपकी ओर गया है। निःसन्देह इस नवीन जागरणमें सबसे बड़ा कार्य आचार्य दयानन्दका है। खेद है उनके बाद हम लोग उस पथपर विशेष अग्रसर नहीं हो सके हैं। वेद-विषयमें हम लोगोंने कुछ भी नयी प्रगति की है, यह सन्दिग्ध है। इसलिए यहाँ हम यही, संक्षेपमें ही, दिखलाना चाहते हैं कि इस विषयमें उनका, जिनको वेदोंमें आस्था और श्रद्धा है, क्या-क्या कर्तव्य है।

वास्तवमें देखा जाये तो यही प्रतीत होगा कि वेदोंके वास्तविक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

ायको समझने और प्रकट करनेके विषयमें अभी हमने बहुत कम किया है। भाषा और व्याकरण दोनोंकी दृष्टिसे हमारा काम प्रायः ही है। वेदोंकी भाषा पिछली संस्कृतसे पर्याप्त रूपमें भिन्न है। प्राचीनतर भाषाका व्याकरण, उसके शब्द, शब्दोंके प्रयोग, और रे भी पिछली संस्कृतसे बहुत-कुछ भिन्न हैं। इन सबका व्यवस्थित न और अनुशीलन अभीतक किया ही नहीं गया है। इनमें प्रायः ाचारितासे काम ले लिया जाता है।

पाणिनि-व्याकरणमें, यद्यपि उसको वेदांग कहा जाता है, वैदिक रणका केवल प्रासंगिकरूपेण प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए 'बहुलं छन्दसि' और 'छन्दसि व्यत्ययो बहुलम्' इस प्रकारके नियमा- से भरा पड़ा है।[1] 'बहुलम्'का अर्थ राजनीतिक शब्दावलीमें ाकता' ही है। पर किसी भाषामें, विशेषकर वैदिक भाषामें, कता हो नहीं सकती। इसलिए इस विषयमें हमें अभी बड़ा कार्य है। पाश्चात्य विद्वानोंने इस विषयमें विशेष कार्य किया है। उससे में सधन्यवाद सहायता लेनी आवश्यक है।

वैदिक भाषामें भी अनेकानेक शब्दों और वाक्यखण्डोंका प्रयोग रके रूपमें विशेष अर्थ रखता है; इसपर भी विद्वानोंको बहुत कार्य है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' (३।७।१) में याज्ञवल्क्यके प्रति विचार- में कहा गया है "मूर्धा ते विपतिष्यति"। इसका शाब्दिक अर्थ, ायः किया जाता है, स्पष्टतः असंगत है। पर 'तुम्हारा अपमान' यह लाक्षणिक अर्थ बिलकुल संगत बैठता है। ऐसे ही प्रयोग ोंमें भी हैं। उनकी ठीक-ठीक व्याख्या अपेक्षित है।

इसी प्रकार 'निघण्टु' और 'निरुक्त'में भी जिनकी अत्यन्त उपयोगिता ययनमें होती है अनेकानेक स्थल और विषय ऐसे हैं जिनके विशेष

[1] तु० "दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति" (महाभाष्य १।१।५)

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मनन और अनुशीलनकी आवश्यकता है।

ब्राह्मणादिग्रन्थोंका प्राचीन वैदिक साहित्य, यदि उसका व्यवस्थित ढंगसे गम्भीर अनुशीलन किया जाये तो, वेदोंके अर्थमें बहुत सहायक हो सकता है। परन्तु इस विषयमें हमने कितना कार्य किया है, यह कहनेकी बात नहीं है।

इसी प्रकार बहुत बड़ा वैदिक साहित्य टीका आदिके रूपमें अभीतक अमुद्रित और अप्रकाशित पड़ा है। उसके विषयमें भी हमारी अभीतक उदासीनता ही है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि वेदका नाम रटते-रटते, इस नवीन जागरणके युगमें भी, बहुत दिन हो गये। अभीतक तो हमने विदेशियोंने भी जितना काम वेदके विषयमें किया है उसका भी दशमांश नहीं किया है; यद्यपि हमारा उत्तरदायित्व इस विषयमें उनकी अपेक्षा अनेक गुना अधिक है।

स्पष्टतः देशमें ऐसी एक महान् संस्थाकी आवश्यकता है जो, वेदोंके महत्त्वके अनुरूप, अपनी पूरी शक्तिसे, वैदिक वाङ्मयके स्वाध्याय अनुशीलन और अनुसन्धानके साथ-साथ, वैदिक आदर्शों और उदात्त भावनाओंके वास्तविक स्वरूपको लोकके सामने रखनेका पूरा प्रयत्न कर सके।

अन्तमें हम वेदके ही शब्दोंमें अपने भाषणको समाप्त करते हैं—

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं
ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभि-
र्देवानामवसे हुवे॥

(अथर्व० ६।१०८।२)

॥ ओं शम् ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

परिशिष्ट (ग)

(वैदिक कर्मकाण्डकी दृष्टिसे यजुर्वेदका विशेष महत्त्व है। उसीके आधारपर वैदिक धाराके प्रारम्भ और उत्कर्षके दिनोंमें वैदिक कर्मकाण्डके मौलिक स्वरूप और प्रेरणाओंको दिखानेका इस लेखमें प्रयत्न किया गया है।)

यजुर्वेद तथा वैदिक कर्मकाण्ड[1]

इसमें किसको सन्देह हो सकता है कि भारतीय संस्कृतिकी सूत्रात्माके होनेपर भी तथा उसकी प्रगतिकी धाराके चिरन्तन कालसे अविच्छिन्न के रूपमें आनेपर भी, गंगाकी धाराकी तरह उसमें अनेकानेक सांस्कृ- उपधाराओंका समय-भेदसे समावेश होता रहा है। कालान्तरमें वे धाराएँ उसी मूलधारामें अपृथक् रूपसे मिलकर एक होती रही हैं। विभिन्न उपधाराओंने, सतत प्रगतिशील मूलधाराके साथ विरोधभाव करके, अन्तमें पूरकताके रूपमें उसको समृद्ध ही बनाया है। यही है कि शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध, सिख आदि सम्प्रदायों तथा योग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि मार्गोंके भेदोंसे भारतीय संस्कृति भिन्न न होकर और भी पुष्ट तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विभिन्न रुचि स्वभावके मनुष्योंके अनुकूल बनकर एक विस्तृत व्यापक सार्वभौम

---

1. ग्रन्थकारका यह लेख प्रथम बार "श्रीवेंकटेश्वर-समाचार", बम्बईके सन् १९५१ के विशेषांकमें प्रकाशित हुआ था।

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मानवधर्मके रूपमें आज हमारे सामने विद्यमान है।

भारतीय संस्कृतिके विकासमें अनेक सांस्कृतिक उपधाराओंके योगके रहनेपर भी, उसके प्रधान स्वरूपके निर्धारणमें वैदिक विचारधाराका निःसन्देह अत्यधिक भाग रहा है।

उसमें "यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्" ('भगवद्गीता' १८।४६) के अनुसार सारे विश्व-प्रपंचके विभिन्न व्यापारों और दृश्योंमें एकसूत्रात्मकताको बतलानेवाली, "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (यजु० ४०।७) के अनुसार समस्त प्राणियोंमें एकात्मदर्शन करानेवाली और "रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः" (गीता ७।८) के अनुसार बाह्य जगत् तथा आभ्यन्तर जगत्में परस्पर अविरोधात्मक अद्वैत या ऐक्यको दर्शानेवाली जो आध्यात्मिकता पायी जाती है, या अन्धकारपर प्रकाशकी, मृत्युपर अमृतत्वकी और असत्यपर सत्यकी विजयका जो अविचल आशावाद या आत्मविश्वास पाया जाता है, और अन्तमें "जयेम सं युधि स्पृधः" (ऋग्० १।८।३) या "अहमिन्द्रो न परा जिग्ये" (ऋग्० १०।४८।५) के अनुसार विरुद्ध परिस्थितियोंमें न टूटनेवाला, पराजित न होनेवाला, जो लचीलापन विद्यमान है, वह सब बहुत कुछ, व्यापक अर्थोंमें, वैदिक विचारधाराकी ही देन है।

सहस्रों वर्षोंके व्यतीत हो जानेपर वह आज भी वैदिक संस्कृतिके रंगमें रंगी हुई है। यहाँतक कि आज भी भारतीय आर्य (हिन्दू) धर्ममें धार्मिक कृत्यों और संस्कारोंमें वैदिक मन्त्रोंका प्रयोग किया जाता है। आज भी विवाहकी वही पद्धति है, जो सहस्रों वर्ष पूर्व भारतमें प्रचलित थी। वैदिक कर्मकाण्डकी व्यापकताका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि ऐसे धार्मिक सम्प्रदायोंमें भी, जो अपनेको वैदिक परम्परासे पृथक् समझते हैं, विवाह आदि संस्कार बहुत कुछ वैदिक परम्पराके अनुसार ही होते आ रहे हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

वैदिक कर्मकाण्डका प्रधान उपस्तम्भ यजुर्वेद है। अतः यजुर्वेदके विषयमें ही आज हम अपने विचार पाठकोंके सामने रखना चाहते हैं।

वैदिक साहित्यमें यजुर्वेदका महत्त्व

समस्त वैदिक साहित्यमें यजुर्वेद अपना विशिष्ट स्थान रखता है। मनुष्य-जीवनके विकासकी ज्ञान, कर्म और उपासना ये तीन सीढ़ियाँ हैं। इनमें कर्मकी सीढ़ी या कर्मकाण्डका प्रतिपादन विशेषतः यजुर्वेद ही करता है। यद्यपि वैदिक कर्मकाण्डमें अन्य वेद भी अपना-अपना स्थान रखते हैं, फिर भी उसका प्रधान आधार यजुर्वेद ही कहा जा सकता है। सुप्रसिद्ध वैदिक ग्रन्थ 'निरुक्त' में ऋग्वेद आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले ऋत्विजोंका वर्णन करते हुए कहा है—

"यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकः। अध्वर्युः। अध्वर्युरध्वरयुः। अध्वरं युनक्ति। अध्वरस्य नेता।" (निरुक्त १।८)

इसका अभिप्राय यही है कि यज्ञकी सारी इतिकर्तव्यताको यजुर्वेद ही बताता है। इसीलिए यजुर्वेदसे सम्बन्ध रखनेवाले ऋत्विज् 'अध्वर्यु' को 'यज्ञका चलानेवाला' या 'यज्ञका नेता' कहा जाता है।[1]

यजुर्वेदका साहित्य

वैदिक साहित्यकी परिभाषाके अनुसार यजुःसंहिता और उसका ब्राह्मण-भाग – दोनोंको यजुर्वेद कहा जाता है। पर यहाँ हम केवल संहिता-भागको ही लेकर विचार करना चाहते हैं। संहिताकी दृष्टिसे

---

१. तु० "आनुपूर्व्या कर्मणां स्वरूपं यजुर्वेदे समाम्नातम्। तत्र तत्र विशेषापेक्षायामपेक्षिता याज्यापुरोनुवाक्यादय ऋग्वेदे समाम्नायन्ते। स्तोत्रादीनि तु सामवेदे। तथा सति भित्तिस्थानीयो यजुर्वेदः, चित्रस्थानीयावितरौ। तस्मात् कर्मसु यजुर्वेदस्य प्राधान्यम्।" (सायणकृत काण्वसंहिताभाष्यकी उपक्रमणिका)।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

भी यजुर्वेदका साहित्य अत्यन्त विस्तृत रहा है। अन्य वेदोंकी तरह यजुर्वेद-की भी अनेकानेक शाखाएँ थीं। पर आजकल कृष्ण-यजुर्वेद और शुक्ल-यजुर्वेद नामसे दो मुख्य शाखाओंमें ही यजुर्वेद प्रसिद्ध हैं। इन दोनोंमें केवल-मन्त्रात्मक होनेसे शुक्ल-यजुर्वेदका ही प्राधान्य है। उसीको आधार मानकर हम अपने विषयका प्रतिपादन करेंगे।

यजुर्वेदका प्रतिपाद्य विषय

वैदिक मन्त्रोंकी व्याख्याके तीन परम्परागत सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं। 'निरुक्त' आदि प्राचीन वैदिक ग्रन्थोंके आधारपर ऐसा कहा जाता है कि प्रायः प्रत्येक मन्त्रकी व्याख्या आधिभौतिक, आधिदैविक (या अधियज्ञ या याज्ञिक) और आध्यात्मिक दृष्टिसे की जा सकती है। वास्तवमें मनुष्यके मानसिक विकासके साथ-साथ प्रकृतिके प्रत्येक व्यापारमें उपर्युक्त तीनों दृष्टियोंका क्रमशः आविर्भाव होना स्वाभाविक होता है। ऐसा होनेपर भी यजुर्वेदकी व्याख्या प्रायः अधियज्ञ दृष्टिसे ही प्राचीन भाष्यकारोंने की है।

"यजुः' शब्दपर विचार करनेसे भी इसी बातकी पुष्टि होती है। 'यजुः' और 'यज्ञ' दोनों शब्दोंका सम्बन्ध एक ही 'यज' धातुसे है। 'निरुक्त' में कहा है—"यजुर्यजतेः" (नि० ७।१२)। दुर्गाचार्य इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—"तेन हि विशेषत इज्यते"। अर्थात् 'यजुः' को 'यजुः' इसीलिए कहा जाता है, क्योंकि उसीसे विशेषतः यज्ञ किया जाता है।

यजुर्वेदके मन्त्रोंका अवान्तर-क्रम भी अधिकतर याज्ञिक परम्पराके आधारपर दर्शपूर्णमास, अग्न्याधान आदि याज्ञिक कर्मोंके क्रमके अनुसार ही रखा गया है। केवल दो-तीन अध्यायोंका, विशेषकर अन्तिम ४०वें अध्यायका, सम्बन्ध साक्षात् कर्मकाण्डसे न होकर उपनिषत्काण्ड या आत्म-ज्ञानसे है। 'शतपथ-ब्राह्मण' तथा उवट आदि प्राचीन टीकाकारोंका भी यही मत है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

उपर्युक्त कारणोंसे यही कहना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि यजु-का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अधियज्ञ ही है, और अन्तमें अधियज्ञ-द्वारा ही परमात्मदर्शन या परमपदकी प्राप्तिका वह प्रतिपादन ता है।

धियज्ञ-दृष्टिका स्वरूप और विकास

अधियज्ञ या याज्ञिक दृष्टिको ठीक-ठीक समझनेके लिए वैदिक कर्म-डके विकासको समझनेकी आवश्यकता है। जैसा ऊपर कहा है, 'यज्ञ' 'यजुः' दोनों शब्दोंका निकास 'यज देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु' इस ुसे हुआ है। वास्तवमें देखा जाये तो देव-पूजा, संगतिकरण और दान तीन अर्थोंमें याज्ञिक दृष्टि या वैदिक कर्मकाण्डके विकासका पूरा इति-आ जाता है।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

(यजु० ३२।१)

(अर्थात्, अग्नि, आदित्य, वायु आदि विभिन्न देवता उसी एक त्म-तत्त्वकी विभूतियाँ हैं), अथवा "माहाभाग्याद् देवताया एक ा बहुधा स्तूयते" (निरुक्त ७।४) (अर्थात्, एक ही परमात्माकी क रूपोंमें स्तुति की जाती है), इत्यादि वचनोंके अनुसार समस्त के संचालक परमात्माकी ही विभिन्न विभूतियोंको वैदिक धर्मकी ाणमें तत्तद् देवताके नामसे पुकारा जाता था। उन्हीं अग्नि, आदित्य, , वरुण आदि देवताओंकी पूजा, स्तुति या गुणगान, यही यज्ञ या वैदिक काण्डका प्रारम्भिक स्वरूप था।

उन्हीं देवताओंके साथ संगतिकरण या सान्निध्यकी भावनासे, अन्य काण्डोंके समान ही, याज्ञिक कर्मकाण्डका विकास प्रारम्भ हुआ। य अपने आराध्य देवताकी केवल स्तुतिसे सन्तुष्ट न होकर, इष्ट-

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मित्रादिके समान, स्वभावतः उसका आवाहन, सान्निध्य या साक्षात्कार भी चाहता है।

आवाहनके अनन्तर अपने आराध्यका विभिन्न पदार्थों-द्वारा सत्कार किया जाता है। यही दान है। यही "इदमग्नये इदं न मम" की भावना-का मूल है। यही 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' की भावना है। इसी भावनाके आधारपर अधियज्ञ दृष्टि या याज्ञिक कर्मकाण्डका अन्ततः विकास हुआ था।

वैदिक देवताओंका स्वरूप

वैदिक कर्मकाण्डकी मौलिक प्रेरणाको समझनेके लिए वैदिक देवताओं-के स्वरूपको कुछ अधिक स्पष्टतासे समझ लेना चाहिए। ऊपर कहा है कि वास्तवमें परमात्माकी विभिन्न विभूतियोंको ही तत्तद्देवताके नामसे पुकारा जाता था। पर जहाँतक वैदिक कर्मकाण्डका सम्बन्ध है ये विभिन्न देवता, व्यावहारिक दृष्टिमें, अपनी-अपनी स्वतन्त्र या पृथक् सत्ता रखते हुए माने जाते थे। प्राकृतिक कार्योंका संचालन करनेवाली इन दैवी शक्तियोंकी प्रात्यक्षिक पृथक् सत्ता किससे छिपी है? तो भी वैदिक देवताओंकी सारी प्रवृत्तियाँ समस्त जगत्के कल्याणार्थ, उसके कार्योंके संचालनार्थ ही हैं। ये परस्पर, केवल अविरोध भावसे ही नहीं, अपितु परस्परोन्नायक भावसे कार्य करते हुए, चराचर जगत्के नैतिक (या आभ्यन्तर) तथा भौतिक (या बाह्य) शाश्वत नियमोंके अनुसार 'सत्य' और 'ऋत' का पालन करते हुए ही अपना-अपना कार्य करते हैं। "देवा भागं यथा पूर्वे संजा-नाना उपासते" (ऋग्वेद १०।१९१।२) (अर्थात्, दैवी शक्तियाँ परस्प-रोन्नायक या सामंजस्यके भावसे ही अपने-अपने कर्तव्यका पालन करती हैं), "सत्यं वै देवाः", "ऋतज्ञाः" इत्यादि वैदिक वचनोंका यही अभिप्राय है। वैदिक देवता स्वभावसे ही प्रकाश-स्वरूप अर्थात् सब प्रकार-के भ्रम, अज्ञान, या मोहसे परे हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

धर्माचरणका लक्ष्य

वैदिक देवताओंके कल्याणोन्मुख उत्कृष्ट आदर्श-स्वरूपको ध्यानमें रख-ही स्वभावतः मरणधर्मा, अनृत और अज्ञानसे अभिभूत, लघु स्वार्थों आपात-रमणीय ऐन्द्रियिक प्रवृत्तियोंसे प्रेरित होकर पारस्परिक के भावोंसे पराभूत, दुर्बल मनुष्य, अपनेको दैवी सम्पत्तिसे समन्वित की अभिलाषासे, मानो अपनेको देवतुल्य बनानेके लिए, या आधुनिक भाषामें, समष्टिके साथ सामंजस्यकी स्थापना-द्वारा अपने व्यक्तित्वके विकासके उद्देश्यसे ही, वैदिक धर्माचरणमें प्रवृत्त होता था।

इसी मौलिक उद्देश्यके आधारपर, स्वभावसे अशान्त और चंचलचित्त को दान्त, शान्त, संयत और दृढव्रती बनानेकी दृष्टिसे, अत्यन्त कठिन आसन, नियमन और संयमके भावोंसे ओतप्रोत वैदिक कर्मकाण्डकी नींव रे पूर्वजोंने डाली थी। उसमें यजमान, यजमान-पत्नी और अनेक ज्, सत्यभाषण, इन्द्रियसंयम आदि कठिन व्रतोंका पालन करते हुए, त और जटिल कर्मकाण्डको बड़ी सावधानताके साथ सम्पादन करते बड़ेसे बड़े 'ड्रामा' या 'म्यूज़िकल कान्सर्ट' से भी अधिक परस्पर सह-की आवश्यकता वैदिक कर्मकाण्डमें होती थी।

वैदिक-धर्मीके लिए उसका सारा जीवन अपने पूर्णविकासरूपी अभीष्ट की प्राप्तिके लिए एक लम्बी यात्राके समान था। लम्बी यात्रामें मोटर-यात्रीके लिए प्रत्येक मोड़पर सावधानताकी आवश्यकता होती ोक उसी प्रकार प्रायेण वर्षके पर्वोंपर ही दर्श-पूर्णमासादि वैदिक कर्मों-विधान किया गया था। "ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते" (गोपथ-ण) (अर्थात्, ऋतुओंकी सन्धियोंके अवसरपर ही व्याधियोंका प्रकोप ता है) तथा "स्वस्ति संवत्सरस्य पारमशीमहि" (अर्थात्, हम जीवन-यात्रामें कुशल-क्षेमके साथ जीवनके प्रत्येक वर्षको पार करते चलें) आदि वचनोंसे स्पष्टतया यही प्रतीत होता है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

वैदिक धर्मीके लिए जीवनकी यात्राका लक्ष्य यही है कि वह उन्नति-विरोधी भावनाओं और शक्तियोंपर विजय प्राप्त करता हुआ आत्माका उत्तरोत्तर विकास करे। "उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्" (यजु० २०।२१) (अर्थात्, अज्ञानसे प्रकाशकी ओर बढ़ते हुए हम अपनेको उत्तरोत्तर समुन्नत करें) आदि वैदिक वचनोंका यही अभिप्राय है। इस प्रकार उत्तरोत्तर समुन्नति करते हुए आत्माके पूर्ण विकासका लक्ष्य ही वास्तवमें 'स्वर्ग' है; वही 'स्वाराज्य' या 'अमृतत्व' है। इसीको वैदिक मन्त्रोंमें 'ज्योतिर्मय लोक' कहा गया है।

अतः वैदिक धर्माचरणके लक्ष्यको हृदयंगम करनेके लिए निम्नलिखित मौलिक सत्योंको मानना आवश्यक हो जाता है :

१. मनुष्य स्वभावसे अपूर्ण, दुर्बल-चित्त और लघु स्वार्थोंसे ग्रस्त है।

२. दैवी शक्तियों या देवताओंका स्वरूप इसके विपरीत है।

३. मनुष्यके जीवनका लक्ष्य होना चाहिए कि वह अपनी दुर्बलताओं और अपूर्णताओंपर विजय प्राप्त करता हुआ दैवी सम्पत्तिके सम्पादनार्थ अपने पूर्ण विकासके लिए सतत प्रयत्नशील रहे।

४. सारे विश्व-प्रपंचकी संचालिका उस महाशक्ति या महानात्माकी, जिसकी विभूतियाँ ही विभिन्न देवता हैं, लीलाका एकमात्र अभिप्राय प्राणिमात्र और विशेषतः मनुष्यके पूर्ण विकासमें है, और इसीलिए बाह्य और आभ्यन्तर (=भौतिक और आध्यात्मिक) सृष्टिके मूलमें ऋत और सत्यका साम्राज्य है।

वैदिक उदात्त भावनाएँ

वैदिक धर्माचरणके उपर्युक्त मौलिक आधारोंके कारण ही, अन्य वेदोंके समान, यजुर्वेद भी, जिसका स्पष्टतः वैदिक कर्मकाण्डसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, ऐसी उदात्त भावनाओंसे ओत-प्रोत है, जो संसारके किसी भी अन्य वाङ्मय या संस्कृतिकी दृष्टिसे अत्यन्त अभूतपूर्व हैं। संसारके नीरस-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अन्य कर्मकाण्डोंमें तो ऐसे उदात्त विचार प्रायः देखनेको भी नहीं हैं। यहाँ हम उन्हीं उदात्त भावनाओंका केवल दिग्दर्शन कराना चाहते हैं।

ष्टि-भावना

आधुनिक हिन्दूधर्ममें उसका केन्द्र-बिन्दु बहुत कुछ व्यक्ति-परक है। समाजसे भागकर केवल अपनी ही भलाईको, धर्मके क्षेत्रमें भी, ता है। इसके विरुद्ध, वैदिक प्रार्थनाओंकी, जिनसे यजुर्वेद भरा पड़ा उनसे पहली विशेषता उनकी समष्टिभावनामें है। इसीलिए वे प्रायः उनमें ही होती हैं। उदाहरणार्थ –

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव॥

(यजु० ३०।३)

अर्थात्, हे देव सवितः! जो हमारे लिए वास्तविक कल्याण है उसे सबको प्राप्त कराइए।

सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

(यजु० ३।३५)

अर्थात्, सबके प्रेरक सवितृ-देवके उस प्रसिद्ध वरणीय तेजःस्वरूपका सब ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धियोंको प्रेरणा प्रदान करे।

इत्यादि प्रार्थनाओंमें बहुवचनोंके प्रयोगसे स्वभावतः वैयक्तिक स्वार्थोंमें मनुष्यके सामने समष्टि-भावनाका उच्च आदर्श रखा गया है। जो संघर्ष-प्रधान भावनाओंके वातावरणमें यह समष्टि-भावना (दूसरोंके साथमें ही अपने हितके सम्पादनकी भावना) कितना महत्त्व की है, इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

शावादकी भावना

मनुष्यके जीवनको सबसे अधिक नीचे गिरानेवाली भावना निराशा-की भावना है। निराशावादसे अभिभूत मनुष्य जीवनकी किसी

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

समस्याको सुलझानेमें असमर्थ होता है। इसीलिए इसका बड़ा भारी महत्त्व है कि वैदिक धर्माचरणका सम्पूर्ण आधार ही आशावादपर है। इसका सिद्धान्त यही है कि मनुष्यको अपने जीवनमें उत्तरोत्तर उन्नतिको ही लक्ष्य रखना चाहिए, और उत्साहपूर्वक समस्त विघ्नबाधाओंपर विजय प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिए।

उदाहरणार्थ—

अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् (यजु० ३६।२४)
अर्थात्, हम जीवन-भर दैन्यभावसे अपनेको दूर रखें।
अमृतत्वमशीय (यजु० ७।४५)
अर्थात्, मैं अमृतत्वको प्राप्त करूँ।
वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवे दिवे वाममस्मभ्यꣳ सावीः।
(यजु० ८।६)

अर्थात्, हे सवितृदेव ! आप आज, कल, प्रतिदिन हमें स्पृहणीय सुख प्राप्त कराइए।

वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम् (यजु० ८।३८)

अर्थात्, मैं मनुष्योंके बीचमें वर्चस्वी तेजस्वी होकर जीवन व्यतीत करूँ।

भद्र-भावना

विभिन्न धर्मोंके कर्मकाण्डोंका सम्बन्ध प्रायः मनुष्योंकी छोटी-छोटी कामनाओंकी पूर्तिसे हुआ करता है। परन्तु वैदिक धर्माचरणकी यह विशेषता है कि उसमें प्रायः सुखात्मक कामनाओंसे ऊपर उठकर मानवताके नातेसे मनुष्यके लिए जो वास्तविक कल्याण, भद्र या अच्छाई है उसके लिए बार बार प्रार्थनाएँ आती हैं। "यद् भद्रं तन्न आ सुव" (यजु० ३०।३) (अर्थात्, भगवन् ! हमारे लिए कल्याणको प्राप्त कराइए)। "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः" (यजु० २५।२१) (अर्थात्,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

देव देवताओ ! हम कानोंसे भद्रको सुनें और आँखोंसे भद्र ही देखें) आदि प्रार्थनाएँ भद्र-भावनाकी ही उदाहरण हैं ।

इसी प्रकार विश्वबन्धुत्वकी भावना, निष्पाप होनेकी भावना, इत्यादि उदात्त भावनाओंसे परिपूर्ण प्रार्थनाएँ, अन्य वेदोंके समान, कर्म-प्रधान यजुर्वेदमें भी पायी जाती हैं ।

यजुर्वेदका अन्तिम अध्याय, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, उप-काण्डसे सम्बन्ध रखता है । इसीमें गीताके सुप्रसिद्ध कर्मयोगका बीज-उपदेश देनेवाला यह मन्त्र है —

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
(यजु० ४०।२)

अर्थात्, मनुष्यको चाहिए कि वह अपने कर्तव्य कर्मोंको करता हुआ सौ वर्ष तक जीनेकी इच्छा करे । उसका कल्याण इसीमें है । बन्धनसे बचनेका यही उपाय है ।

इसी अध्यायमें—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥
(यजु० ४०।७)

(अर्थात्, जो सब भूतोंको अपनेसे अभिन्न समझता है उसके लिए शोक और मोहका प्रश्न ही नहीं उठता) इस प्रकार समस्त भूतोंमें आत्मदर्शन-द्वारा शोक, मोह आदि समस्त मनोविकारोंको दूर करके मनुष्य-जीवनके परम लक्ष्यकी प्राप्तिका उपदेश है ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

उपसंहार

इस प्रकार वैदिक संस्कृतिके सार्वदेशिक और सार्वकालिक महत्त्वक सम्पादन करनेवाली उदात्त भावनाओंसे प्रेरित होकर विश्वभावन भगवान् को लक्ष्य करके वैदिक कर्मकाण्डको करता हुआ मनुष्य उत्तरोत्तर श्रेयः-मार्ग पर अग्रसर होता हुआ परमपदको प्राप्त कर सकता है। वैदिक कर्मकाण्डका यही गूढ रहस्य है। यजुर्वेदका यही प्रधान प्रतिपाद्य विषय है।

॥ ओं खं ब्रह्म ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

परिशिष्ट (घ)

(वैदिकधाराकी कुछ उदात्त भावनाओं तथा जीवन-प्रद सन्देशोंको इस दीक्षान्त-भाषण[1]-में दिखानेका यत्न किया गया है।)

वेदोंके जीवनप्रद सन्देश

कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे

(ऋग्० १।३६।१४)

महोदय, देवियो तथा सज्जनो !

इस पवित्र अवसरपर दीक्षान्त-भाषण देनेके लिए जो मुझे निमन्त्रित गया है उसके लिए मैं आपका आभारी हूँ। इन दिनों अपने कार्यके वयसे अवकाशके न रहनेपर भी, इस संस्थासे अपने निजी सम्बन्धके स्नेहवश तथा मित्रोंके अनुरोधसे मुझे इस कार्यभारको स्वीकार न ही पड़ा।

स्नातकवर्ग !

यह अवसर आपके जीवनमें अत्यन्त विशेष महत्त्व रखता है। "अग्ने ते व्रतं चरिष्यामि" इत्यादि मन्त्रों-द्वारा दीर्घायुष्य, बल, वर्चस् और की प्राप्तिके लिए, जीवनके प्रथमकालमें, जिस कठिन व्रतको आपने

---

1. २७ दिसम्बर, १९४३ को गुरुकुल वृन्दावनके ३९वें महोत्सवपर दिया गया ग्रन्थकारका दीक्षान्त-भाषण।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

ग्रहण किया था उसकी समाप्तिपर आज आप 'तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः' (ऋग्० ३।८।४) इसके अनुसार गुरुओंके आशीर्वादके साथ गुरुगृहसे बिदा ले रहे हैं। गुरुकुलके तपस्या, संयम, भ्रातृभाव और अकृत्रिम स्नेहके आदर्श वातावरणमें रहते हुए आप आर्यधर्मकी दीक्षासे दीक्षित हुए हैं। नये जगत्में प्रवेश करनेपर आपका यह कर्तव्य होगा कि आप उसी आर्यधर्मके सन्देशसे, शब्दों-द्वारा नहीं, किन्तु उदाहरण-द्वारा भारतीय समाजमें नवीन जीवनके संचारका यथाशक्य प्रयत्न करें।

पर जिस नये जगत्में आप प्रवेश करने जा रहे हैं वह उस जगत्की अपेक्षा जिसमें आप अबतक रहे हैं कहीं अधिक विशाल, विसंष्ठुल, विषम और कण्टकाकीर्ण है। आपकी जीवनयात्राकी कठिन परीक्षाका वह स्थान होगा। पर ध्यान रखिए कि जिस महान् आर्यधर्मके सिद्धान्तों और आदर्शोंकी शिक्षा आपने पायी है उसको व्यावहारिक रूप देकर चरितार्थ करनेमें ही इस नवीन जीवनका उपयोग और साफल्य है।

इस नये जीवनका सबसे पहला सन्देश आशावाद है।

आशावाद तथा निराशावाद

यह कौन नहीं जानता कि आर्यधर्म या वैदिक धर्मका मौलिक सिद्धान्त आशावाद है। वैदिक-साहित्य आशावादके सिद्धान्तसे ओतप्रोत है।

कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे

(ऋग्० १।३६।१४)

भगवन्! जीवनयात्रामें हमें समुन्नत कीजिए।

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि

(ऋग्० १०।३७।६)

कल्याणमय जीवन व्यतीत करते हुए हम वृद्धावस्थाको प्राप्त हों!

विश्वदानीं सुमनसः स्याम पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्

(ऋग्० ६।५२।५)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

हम सदा प्रसन्नचित्त रहते हुए चिरकाल पर्यन्त उदीयमान सूर्यके
न करें !

पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम् ।
बुध्येम शरदः शतम् । रोहेम शरदः शतम् ।
पूषेम शरदः शतम् । भवेम शरदः शतम् ।
भूषेम शरदः शतम् । भूयसीः शरदः शतात् ।

(अथर्व० १९।६७।१-८)

अर्थात्, हम सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक देखें, जीवन-यात्रा
ज्ञानसम्पादन करें, उत्तरोत्तर उन्नतिको प्राप्त करें, पुष्टिको और दृढता-
प्राप्त करें, तथा अपनेको समृद्धि, ऐश्वर्य और गुणोंसे भूषित करें।
मनुष्यजीवनमें एक नयी स्फूर्ति, नयी विद्युत्का संचार करनेवाले इस
रके प्राणसंजीवन वचनोंसे वैदिकसाहित्य भरा पड़ा है।

वैदिक सिद्धान्तोंके अनुसार मनुष्यका सबसे प्रथम कर्तव्य, ईश्वर-प्रदत्त
क्तियोंका परस्पर सामंजस्येन विकास-द्वारा अपने जीवनकी सर्वांगीण
फलता ही है। विश्वबन्धु भगवान्का रचा हुआ यह संसार हमारी उस
र्वांगीण समुन्नतिका बाधक न होकर साधक ही है। इसीलिए एक आर्य-
लिए यह जीवन, ग्लानिका विषय न होकर, प्रार्थनाका विषय है।
उदात्त भावना प्रकृतिके नियमोंके अनुसार जीवन व्यतीत करनेवाले
निष्पाप तथा स्वच्छहृदय व्यक्तिकी हो हो सकती है।

इसके विपरीत, जिस समाजमें आप प्रवेश करने जा रहे हैं वह
न्थियोंसे अन्धकार और अवनतिके गर्तमें पड़ा हुआ निराशावादके
न्तोंसे परिप्लुत हो रहा है। उन सिद्धान्तों या अप-सिद्धान्तोंके अनुसार
संसार मिथ्या है, स्वप्नवत् है, असार है, एक सरायके तुल्य है, उसमें
की स्थिति एक डूबते हुए व्यक्ति-जैसी है, मानो ईश्वरने उसे जेलरूपमें
मारे लिए बनाया है। ऐसे ही निराशावादी सिद्धान्तोंने भारतीय
जको चिरकालसे निष्प्राण, निःसत्त्व और निस्तेज बना रखा है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

उक्त सिद्धान्तोंसे प्रभावित लोगोंने ही रौरवादि नरकोंकी कल्पनाएँ की हैं। "मैं मूरख खल कामी", "नैया मेरी पार लगाओ"-जैसी दयनीय प्रार्थनाएँ उसी विचार-धाराकी प्रतीक हैं।

आर्यधर्मका सबसे पहला सन्देश यह होना चाहिए कि हम इस प्राण-घातक निराशावादको समाजसे निर्मूल करके वैदिक उदात्त भावनाओंसे उसे भरपूर कर दें, और

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम॥
(ऋग्० १०।१२८।१)

जैसी वैदिक प्रार्थनाओंके अनुसार, समाजके नवयुवक ही नहीं, किन्तु प्रत्येक व्यक्तिके सम्मुख यह आदर्श रखें कि हम अपनी उन्नतिकी समस्त बाधक शक्तियों और प्रवृत्तियोंपर विजय प्राप्त करनेके लिए ही उत्पन्न हुए हैं। जिस दिशामें भी हम उद्योग करेंगे हमको विजयलक्ष्मी प्राप्त होगी। हम अमृत परमात्माके पुत्र हैं। हम अपने जीवनको प्रकाशमय अतएव सत्यमय बनाते हुए दूसरोंके जीवनको भी प्रकाशमय बनायेंगे।

प्रगतिवाद तथा रूढिवाद

भारतीय समाजकी सर्वांगीण उन्नति और पूर्ण विकासमें सबसे अत्यन्त बाधक प्रवृत्ति उसका रूढिवाद है। इसकी उत्पत्ति और पुष्टि उन्हीं कारणोंसे हुई है जिन्होंने निराशावादको जन्म दिया था। जिस व्यक्ति या समाजकी उन्नति और विकासके मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं, वह स्वभावतः निराशावाद तथा आत्म-अविश्वासका शिकार होकर, उस अन्धे की तरह जो इस भयसे कि पैर उठाते ही शायद कुएँमें न गिर पड़ूँ अपने स्थानपर ही रहना पसन्द करता है, रूढिवादके ग्राहसे ग्रस्त हो जाता है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति या समाजके सामने उन्नतिके मार्ग खुले रहते हैं और आशाका प्रकाश होता है और इसीलिए जो आत्मविश्वास रखते

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

स्वभावतः प्रगतिशील होता है । आँख रखनेवाला व्यक्ति के रहते हुए आत्म-विश्वासके साथ जहाँ चाहता है जा सकता है । जहाँ प्रगतिवाद प्रकाशका तथा आशामय और विश्वासमय जीवन-तक है, वहाँ रूढिवाद अन्धकार तथा निराश और आत्म-विश्वास-जीवनका प्रतीक है । दूसरे शब्दोंमें, जहाँ रूढिवाद समाजकी ऐसी को बतलाता है जो पृथ्वीके गर्भमें रक्षित शिलाके रूपको प्राप्त के टुकड़ेके समान निश्चेष्ट और जीवनरहित है; वहाँ प्रगतिवाद क्रियासे सम्पन्न एक सचेष्ट प्राणीका परिचायक है ।

ही रूढिवाद भारतीय समाजकी सबसे बड़ी समस्या है । नाना यह समाजको, पैरोंमें पड़ी बेड़ियोंकी तरह, आगे बढ़नेसे रोकता का दुष्प्रभाव अत्यन्त सूक्ष्म और अदृश्य रीतिसे, भयानक राज-के कीटाणुओंकी तरह, हमारे समाजमें प्रविष्ट हो उसे जीर्ण-शीर्ण के लिए सद्यः तत्पर रहता है ।

जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें इसकी प्रवृत्ति देखनेमें आती है । शब्दोंके विषयमें यही रूढिवाद हमको उनके अन्तस्तल तक पहुँचनेसे रोकता प्रायः मानसिक पाखण्ड या छद्मका पोषक बन जाता है । यही के अपने निम्न स्वार्थों और प्रवृत्तियोंसे प्रेरित कामोंके वास्तविक को छिपाकर जनताको धोखा देनेके लिए परदेका काम करता है । तप, दान, दया, यज्ञ, स्वर्ग, वर्ण, श्रद्धा-जैसे शब्दोंकी दुर्दशा या का मूल कारण शब्दविषयक रूढिवाद ही तो है । भगवद्गीतामें , दान आदिका जो सात्त्विक, राजस और तामस भेद दिखलाया इसी शब्दगत रूढिवादको दूर करनेका यत्न है । आचार्य स्वामी की 'आर्योद्देश्य-रत्न-माला', जिसके महत्त्वको प्रायः बहुत कम लोग हैं, वास्तवमें इसी शब्दगत रूढिवादके खण्डनका ही प्रयत्न है ।

पर्युक्त रूढिवादमूलक मानसिक पाखण्ड या छद्मके ही कारण अनेक विद्वान् भी प्राचीन ग्रन्थोंके अर्थको स्वसिद्धान्तानुकूल्येन दिखलानेका

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

प्रयत्न भारतीय इतिहासके विभिन्नकालोंमें करते रहे हैं और यह प्रवृत्ति अब भी देशमें जारी है। उक्त कारणसे ही देशमें समय-समयपर महापुरुषों द्वारा, सुधार और प्रगतिके उद्देश्यसे, प्रचलित अनेकानेक आन्दोलन और सम्प्रदाय अपने प्रधान लक्ष्यसे च्युत होकर रूढिवादकी दल-दलमें फँसकर नष्ट हो गये। यह बात प्राचीन तथा सामयिक इतिहासके प्रेमियोंसे छिपी नहीं है। रूढिवादियोंका यह स्वभाव है कि वे, जैसे परभोजी पौधे अन्य पौधोंको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार प्रगतिशील आन्दोलनोंको हथियाकर उनको निष्प्राण तथा निःसत्त्व बना देते हैं; और ऐसा करनेमें वे समाजके आदृत शब्दों तथा भावनाओंके रूपमें परम्परागत रूढियोंका पूरा उपयोग अदृश्यरूपसे करते हैं।

रूढिवादकी उक्त घातक अदृश्य प्रवृत्तियोंसे अपनेको तथा अपने समाजको बचानेके लिए ऐकान्तिक सत्यनिष्ठा, आत्मपरीक्षण, तथा अमूढबुद्धिका सतत प्रयोगकी आवश्यकता है। मानसिक छद्म या पाखण्ड करनेवालोंसे वंचकोंके लिए ही वेदोंमें 'द्वयाविनः' शब्दका प्रयोग किया गया है और उनकी घोर निन्दा की गयी है।

'निरुक्तपरिशिष्ट' में "मनुष्या वा ऋषिपूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्" (= ऋषियोंकी परम्परा के इस जगत्से नष्ट होनेपर देवताओंने मनुष्योंसे कहा कि आगेको तर्क आपके लिए ऋषियोंका स्थानापन्न होगा) इस प्रकार बतलाये गये 'तर्क एव ऋषिः' के सिद्धान्तका उपयोग, दूसरोंके खण्डनमें नहीं, किन्तु आत्मपरीक्षण में करना चाहिए।

ऐकान्तिक शब्दप्रमाणपरता या परम्परागत अन्धभक्तिका ही नाम रूढिवाद है और वह सर्वतः प्रथम बुद्धिकी जड़ताका द्योतक है।

इसके विरुद्ध, वेदोंमें "भद्राद्रभि श्रेयः प्रेहि" (तैत्तिरीयसंहिता १।२।३।१) (अर्थात्, हे भगवन्, आप हमको उत्कृष्टसे उत्कृष्टतर पदको प्राप्त कराइए) "कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे" (ऋग्० १।३६।१४) (अर्थात्,

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

हमको जीवन-यात्रामें उन्नत और प्रगतिशील बनाइए), इत्यादि द्वारा प्रगतिवादका ही गुणगान किया गया है। वेदों-द्वारा गीयमान वाद भी वास्तवमें प्रगतिवादका ही रूपान्तर है। वह जीवनका मुख्य है।

नवीन जगत्में प्रवेश करनेपर आपका कर्तव्य होना चाहिए कि आप 'तर्क एव ऋषिः' की सहायतासे तात्त्विकदृष्ट्या आत्मपरीक्षण करके रहें कि कहीं आप स्वयं ही रूढिवादके शिकार होकर अपनी शिक्षा-के साथ प्रवञ्चना तो नहीं कर रहे हैं। इस प्रकार प्रगतिवाद तथा वादके आधारपर आर्यधर्मके आदर्शोंके अनुसार, आपको नवीन के निर्माणके लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

हम वैदिक धर्मको सनातन तथा सार्वभौम धर्म समझते हैं। पर जिस से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध है उसका उस धर्मके आदर्शपर नवीन किये बिना हम उस धर्मकी सार्वभौमता सिद्ध नहीं कर सकते। घरको गन्दा रखते हुए हम सफ़ाईकी शिक्षा दूसरोंको कैसे दे हैं?

हम अतीतके गीत चिरकालसे गा रहे हैं। अब समय है कि भविष्यके गाये जायें। वास्तविकदृष्ट्या आदर्श भविष्यमें रहता है, न कि में। अतीतका गीत-गान सम्भव है हमारे जीवनकी निश्चेष्ट तथा तिमें कोई परिवर्तन न करे; पर भविष्यका गीत-गान हमारे जीवन-र्तिमय बनाये बिना नहीं रह सकता। "परिमितं वै भूतम्" रिमितं भव्यम्" (ऐतरेयब्राह्मण ४।६), अर्थात्, अतीत परिमित, विष्य अपरिमित होता है—यह कथन नितरां सत्य है। वास्तवमें का महत्त्व वहींतक है जहाँतक वह हमारे भविष्यके निर्माणमें क हो सकता है।

श्रेयः और प्रेयः मार्गोंका रहस्य भी इसी सिद्धान्तमें निहित है। जहाँ मार्गका सम्बन्ध हमारे जीवनकी अतीतकालीन भावनाओंसे होता है,

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

वहाँ श्रेयः मार्गका सम्बन्ध आदर्शसे होता है। वास्तविक उन्नतिका रहस्य दोनोंके समन्वय तथा सामञ्जस्यमें रहता है।

मानवताका सम्मान तथा गौरव

आर्यधर्म या वैदिकधर्मको हम सनातन तथा सार्वभौम मानवधर्म समझते हैं। इसीलिए इसको विभिन्न तत्तत्कालीन वा तत्तद्देशीय सम्प्रदायों या मतोंके साथ एक तुलामें नहीं रखा जा सकता। हमारा यह विश्वास केवल भावना-मूलक ही नहीं है; इसका आधार ठोस कारणोंपर है। पर सनातन सार्वभौम मानवधर्मकी कसौटी यही हो सकती है कि उसमें मानवताके उत्कृष्ट पदके लिए पूरे सम्मान और गौरवका, और उसके प्रति शुद्ध न्याय तथा सत्यके व्यवहारका स्थान हो। हमारे प्राचीन साहित्यमें इसी तथ्यको 'आनृशंस्यम्'[1] इस पदसे प्रकट किया गया है।

पर खेदका विषय है कि मानवताके प्रति सम्मान और गौरवके भावों के साथ-साथ, इस पदका प्रयोग भी प्रायः हमारे वर्तमान समाजसे लुप्त हो गया है।

> यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
> ब्रह्मराजन्याभ्याᳬ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥
>
> (यजु० २६।२)

> सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
>
> (ऋग्० १०।१९१।२)

> समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
>
> (ऋग्० १०।१९१।३)

जैसी उदात्त वैदिक भावनाओंका स्थान आजकल व्यक्तिगत त

---

१. नृ+शंस=मनुष्यके साथ क्रूर व्यवहार करनेवाला। अनृशंस=जो नृशंस नहीं है। अनृशंस्य=मानवताका समादर।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

गत स्वार्थोंके परम्परागत पारस्परिक संघर्षने ले लिया है। इस संघर्षसे जीर्ण भारतीय समाज और भी विषाक्त हो गया है।

धर्मकी ओटमें और उसके नामपर निम्न स्वार्थोंके साधनमें हमारी भारताने वैदिकधर्माभिमानी समाजको मानवताके सम्मान तथा गौरवके महान् लक्ष्यसे विमुख कर दिया है। इसी कारणसे प्रायः हमारे कथन और व्यवहारमें सामंजस्य नहीं है। आर्य-धर्मकी दीक्षासे दीक्षित आप स्नातकों-का यह कर्तव्य है कि समाजसे इस विसंवादिनी प्रवृत्तिको दूर करें और समाजको इस योग्य बनायें कि उससे सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको परमेश्वर-प्रदत्त शक्तियोंके पूर्ण विकासका पूरा अवसर प्राप्त हो और वह अपने उचित आत्मसम्मानकी रक्षा कर सके। ऐसा होनेपर ही समाज-के प्रत्येक व्यक्तिको उसके अंग होनेका वास्तविक गर्व हो सकता है और समाजकी सबलताका साधक बन सकता है।

मानवताके सम्मान और गौरवके उपर्युक्त सिद्धान्तको निश्छल हृदयसे माने बिना, और अपनेको बड़ा समझकर दलित समाजके सिरपर केवल या आश्वासनका हाथ रख कर, या उसके कानमें ओंकार-रहित या सारसहित मन्त्रोंको फूँक कर, और इस प्रकार दलितोद्धारको भी अपने मानेका साधन बनाकर, हम उस समाजको न उठा सकते हैं, न अपना हैं, उसको रुष्ट भले ही कर दें। दलित समाजको अपनानेमें हमारी लताका यही मुख्य कारण है। यह ध्रुव सत्य है कि उपर्युक्त सिद्धान्त-निश्छल हृदयसे माने बिना हम न तो आर्यधर्मकी सार्वभौमता सिद्ध सकते हैं और न अपने समाजका भला कर सकते हैं।

ईश्वरके शाश्वत नियमोंके साथ कोई मिथ्या व्यवहार करे और त न हो यह कभी नहीं हो सकता!

स्नातकगण!

सत्य सनातन आर्यधर्मके प्राणप्रद सन्देशके उपर्युक्त मौलिक सिद्धान्तों-

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

को मनसा, वाचा, कर्मणा अपनाये बिना और उनके आधारपर भारतीय समाजका पुनः निर्माण किये बिना हम उसके प्रकाशमान स्वरूपको जगत्-के सामने प्रकट नहीं कर सकते। इन सिद्धान्तोंको अपनानेकी हमें नूतन दृढ प्रतिज्ञा इन शब्दोंमें करनी चाहिए :—

ओं "ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे" ध्रुवाः स्याम व्रते वयम् ॥

आशावादके जलसिंचनसे, प्रगतिवादके प्रकाशमें, आत्मसमीक्षण सत्यनिष्ठा तथा मानवताके लिए सम्मान-द्वारा सेवा किया गया ही भारतीय नवीन समाजका पौधा दृढमूल होकर पुष्पित और फलित हो सकता है।

वैदिक साहित्यका पुनरुद्धार

उपर्युक्त सिद्धान्तों और आदर्शोंको समाजके हृदयंगम करनेका सबसे मुख्य साधन वैदिक साहित्यका पुनरुद्धार और सर्वसाधारणमें उसका प्रचार ही है। निराशावाद तथा आदर्शहीनताके वातावरणमें निर्मित साहित्यने हमारे समाजको अकर्मण्य, उत्साहहीन, म्लानमुख तथा दीन बना रखा है। आशावादके प्राणसंजीवन रससे परिप्लुत वैदिक साहित्य ही उक्त अनार्यजुष्ट अस्वर्ग्य और अकीर्तिकर अवस्थासे उस समाजका उद्धार कर सकता है।

पर वैदिक साहित्यका उद्धार वेदोंकी महिमाके गीत गानेसे ही नहीं हो सकता। तपस्वी, त्यागी, प्रतिभाशाली, दृढनिष्ठ, संशितव्रत विद्वान् ही इस कार्यको कर सकते हैं। इस दिशामें अभीतक हमारा प्रयत्न नगण्य ही है। इससे बड़ी आत्म-प्रवंचना क्या हो सकती है!

हमारा ध्येय तो यह होना चाहिए कि जिस प्रकार आधुनिक शिक्षित समाजकी बातोंमें भी पाश्चात्त्य-शिक्षाका प्रभाव झलकता है, उससे कहीं अधिक हमारा समाज आबाल-वृद्ध, आपामर-प्राज्ञ, आराज-रंक प्राणसंजीवनी वैदिक विचारधारासे प्रभावित हो, और उसके द्वारा उसके जीवनमें एक

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

दृष्टपूर्व नयी ज्योतिका, नयी प्रेरणाका, नये परिस्पन्दनका स्पष्ट चमत्कार दिखाई दे। हमारे घरोंमें या ग्रामोंमें भी जो गीत गाये जायें, वे भी उसी विचारधाराके द्योतक हों। इस महान् स्पृहणीय लक्ष्यकी सिद्धि कैसे हो सकती है, इसपर अत्यन्त गम्भीरतासे विचार करनेकी आवश्यकता है।

परमात्मासे यही प्रार्थना है कि वे हमें आत्मिक बल दें जिससे हम एकता-तथा दृढता-पूर्वक वैदिक सिद्धान्तोंका पालन कर सकें!

ओम् मा प्र गाम पथो वयम्॥

(ऋग्० १०।५७।१)

Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri. Courtesy: Shri Shivaji Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

परिशिष्ट (ङ)

भगवद्गीताका एक असाम्प्रदायिक अध्ययन

अथवा

भगवद्गीताका वैदिक आधार

गीताने यज्ञ, कर्म, संन्यास जैसे विषयोंका जो तात्त्विक विवेचन किया है वह बहुत कुछ वैदिक-धाराके मौलिक सिद्धान्तोंसे मिलता है। गीता-का स्वयं कहना है :—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।

(गीता ४।१-३)

'कल्पना' (दिसम्बर, १९५३) से उद्धृत ग्रन्थकारके इस लेखमें उक्त दृष्टिसे ही कुछ विचार किया गया है।

'भारतीय संस्कृतिकी विचार-धाराका लक्ष्य' शीर्षक लेखमें ('कल्पना' अगस्त, १९५३, पृष्ठ ६२०,), साम्प्रदायिक पारिभाषिकताके दुष्प्रभावको दिखाते हुए, हमने असाम्प्रदायिक दृष्टिकोणसे अपने प्राचीन उत्कृष्ट साहित्यके अध्ययनकी आवश्यकतापर बल दिया था। भारतीय संस्कृतिकी प्रगतिकी पृष्ठभूमिमें उन ग्रन्थोंके वास्तविक स्वरूप और महत्त्वको इसी प्रकार समझा जा सकता है।

साम्प्रदायिकताकी परिधि और तन्मूलक रूढिवादकी अन्ध प्रवृत्तिने

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

हमारे देशके अनेकानेक अनर्घ ग्रन्थ-रत्नोंके प्रकाशको चिरकालसे सीमित कर रखा है, यह किससे छिपा है !

साम्प्रदायिक रूढिवादके अतिरिक्त, हमारा 'ब्राह्मण', पुराण'-जैसा साहित्य ऐसी अर्थवादात्मक[1] पारिभाषिक शैलीमें लिखा हुआ है कि उसके बाह्य आवरणको छिन्न-भिन्न करके उसके सारांश या वास्तविक रहस्य तक पहुँचना पण्डितोंके लिए भी अत्यन्त दुष्कर हो रहा है। बड़े-बड़े विद्वान् भी प्रायः रहस्यार्थको न समझकर उसके बाह्य-आवरण-रूप शाब्दिक अर्थको ही वास्तविक अर्थ मान लेते हैं। इसी कारण, उदाहरणार्थ, तात्त्विक दृष्टिसे विचार करनेवाला सांख्यदर्शन जिस तत्त्वको 'महत्तत्त्व' या 'बुद्धितत्त्व' कहता है, उसीको, पुरुषविध उपाख्यान शैलीको लेकर चलनेवाले पुराण 'ब्रह्मा' कहते हैं[2], यह बात बहुत कम विद्वानोंके मनमें बैठेगी।

वास्तवमें एक ऐसे ग्रन्थकी अत्यन्त आवश्यकता है, जिसमें भारतीय प्राचीन वाङ्मयकी विभिन्न पारिभषिक शैलियोंका तात्त्विक दृष्टिसे विवेचन और स्पष्टीकरण किया जाये। यदि सम्भव हुआ, तो फिर कभी हम दो-चार लेखोंमें इसका विचार करेंगे।

आज इस लेखमें ऊपरकी दृष्टियोंको सामने रखकर भगवद्गीताके एक असाम्प्रदायिक अध्ययनको हम विद्वान् पाठकोंके सामने रखना चाहते हैं।

भगवद्गीताका स्वरूप और उपयोग

गीता भारतवर्षकी अक्षय निधि है। भारतीय संस्कृतिकी आत्माका, समस्त मानव-समाजके कल्याणके लिए, वह एक अनर्घ उपहार है। परन्तु इसमें सन्देह हो है कि उसके वास्तविक स्वरूप, सन्देश और महत्त्वको

१. तु० "स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः" (न्यायसूत्र २।१।६४)।
२. तु० "मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः। प्रज्ञा चितिः स्मृतिः संविद् विपुरं (=लं) चोच्यते बुधैः॥" (वायुपुराण ४।२५)।

Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

ठीक-ठीक समझा गया है और उसका पूर्णतया सदुपयोग हमने किया है। ऐसी दशामें उसके कल्याणप्रद सन्देशको भारतके बाहर भेजनेमें हमारा प्रयत्न सर्वथा नगण्य ही रहा है, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। इसका प्रधान कारण यही है कि अभीतक गीता प्रायेण साम्प्रदायिक आवरणके अन्दर ही रही है। अभीतक तो भारतवर्षकी ही अहिन्दू जनता उसको केवल हिन्दुओंकी (या वैष्णवोंकी) एक धार्मिक पुस्तक समझती है। चाहिए तो यह था कि आज वह समस्त संसारमें कर्तव्याकर्तव्य (कर्म या नीति) के सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्तके प्रतिपादक एक वैज्ञानिक ग्रन्थके रूपमें विभिन्न विश्वविद्यालयोंमें पढ़ायी जाती। हमारा विश्वास है कि एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा। यह तभी होगा, जब कि हम उसे साम्प्रदायिक पारिभाषिकताके आवरणसे बाहर निकाल सकेंगे।

कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि गीताके स्वरूपके विषयमें अनेकानेक मत और धारणाएँ चिरकालसे ही भारतवर्षमें रही हैं। भिन्न-भिन्न मतोंको लेकर जितने भाष्य और टीकाएँ गीतापर लिखी गयी हैं, उतनी कदाचित् ही किसी अन्य ग्रन्थपर होंगी। प्रायः प्रत्येक सम्प्रदायके आचार्यों और विद्वानोंने गीताके अभिप्रायको अपने-अपने अनुकूल दिखानेका प्रयत्न किया है। इससे जहाँ एक ओर गीताका सर्वसम्मत महत्त्व स्पष्ट होता है, वहाँ साथ ही एक तटस्थ जिज्ञासुके सामने जटिल समस्या गीताके स्वाध्यायमें दिखाई देती है।

हमारी समझमें इस समस्याका समाधान बहुत अंशोंमें गीताकी पृष्ठभूमि या ऐतिहासिक भित्तिको समझ लेनेसे स्वतः हो जाता है। यह समझना कि गीता-जैसे महत्त्वके ग्रन्थकी ऐतिहासिक भित्ति, तात्कालिक सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था न होकर, केवल अर्जुनकी युद्धक्षेत्रकी संशयात्मकता ही थी, अपनेको धोखा ही देना है। संसारके किसी भी महत्त्वके ग्रन्थकी ऐतिहासिक भित्ति केवल एक-घटना-मूलक नहीं मानी जाती। इसलिए गीताकें अपने विचारोंके वैशिष्ट्य और सामञ्जस्यको

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

समझनेके लिए, तात्कालिक समाजगत प्रवृत्तियोंको समझना आवश्यक है। इन प्रवृत्तियोंका स्वरूप गीताके अध्ययनसे ही स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ, गीताके नीचे दिये वचनोंको लीजिए :

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ (१६।१४,१५,१७)
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ (२।४२-४३)

अर्थात्, मैं शक्तिशाली हूँ; समर्थ, सुखी, कुलीन और ऐश्वर्यवान् हूँ; मुझ-जैसा और कौन है ? इस प्रकार धन और मानके मदसे समन्वित, अभिमान-चूर लोग ही प्रायः यज्ञोंमें प्रवृत्त होते हैं। तात्त्विक ज्ञानसे शून्य मनुष्य नाना प्रकारके भोगों और ऐश्वर्योंके प्रलोभनसे कर्मकाण्डबहुल यज्ञोंके प्रतिपादक, श्रुति-मधुर वैदिक वचनोंमें अनुरक्त देखे जाते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ (१७।५-६)

अर्थात्, दम्भ और अहंकारसे युक्त, नाना प्रकारकी कामनाओंसे प्रेरित आसुरी प्रवृत्तिके लोग ही अशास्त्रीय घोर शारीरिक तपोंमें प्रवृत्त होते हैं। वे केवल अपने शरीरको ही कष्ट नहीं देते, अपितु अपने अन्दर वास करनेवाले परमात्माको भी पीडा देते हैं।

Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।
नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।। (३।४-६)
काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।। (१८।२)

अर्थात्, कर्मोंके न करनेसे ही मनुष्य नैष्कर्म्यको नहीं पा लेता है। केवल संन्याससे सिद्धि नहीं मिल जाती है; क्योंकि, मनुष्य प्रयत्न करनेपर भी, क्षण-भरके लिए भी, बिना कर्मके नहीं रह सकता। केवल बाहरसे कर्म न करते हुए, जो मनुष्य मनसे ऐन्द्रियक वासनाओंमें डूबा रहता है, वह मिथ्याचारी कहाता है। वास्तवमें कामना-प्रधान कर्मोंके छोड़नेको ही संन्यास कहते हैं और कर्तव्य कर्मोंके फलोंमें आसक्तिको छोड़ना ही सच्चा त्याग है।

गीताके इन वचनोंसे स्पष्ट है कि गीताके उपदेशका तात्कालिक विशिष्ट कारण जहाँ एक ओर उस समय समाजमें फैली हुई अत्यधिक कर्मकाण्डकी प्रवृत्ति थी, वहाँ दूसरी ओर या तो सारे कर्मकाण्डका तिरस्कार करनेवाली संन्यासको प्रवृत्ति या घोर शारीरिक कष्टके रूपमें तपको प्रवृत्ति थी।

इसमें सन्देह नहीं कि ये प्रवृत्तियाँ स्वाभाविकताके आधारपर अपनी-अपनी सीमाके अन्दर मनुष्यको आध्यात्मिक उन्नतिमें सहायक हो सकती हैं; पर यह भी संसारके विभिन्न धर्मोंके इतिहाससे सिद्ध है कि रजोगुण तथा तमोगुणसे अभिभूत मनुष्योंके हाथमें आकर, अविवेक, स्वार्थ-बुद्धि, दम्भ, मान, प्रमाद और आलस्यके कारण, ये ही प्रवृत्तियाँ शनैः-शनैः विकृत रूप धारण कर लिया करती हैं।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

भारतवर्षके ही इतिहासमें यज्ञादि कर्मकाण्डके प्रारम्भ और अतिरेक-
लीजिए। यह कर्मकाण्ड, जो मूलमें मनुष्य-जीवनके यावत्कर्तव्य-कर्मोंके
तीक रूपमें था और समाजमें उदात्त भावनाओंका पोषक था, शनैः-शनैः
धान और ऋत्विजोंकी निम्न वा आसुरी वासनाओंकी तृप्तिके साधन,
त तथा निष्प्राण, शुष्क क्रियाकलापमें परिवर्तित हो गया।

उपनिषदोंके निम्नलिखित प्रमाण इसी निष्प्राण, आदर्शहीन क्रिया-
पके प्रति उद्विग्नताको स्पष्टतया प्रकट करते हैं –

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति॥ (मुण्डकोपनिषद् १।२।७)
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ (कठोपनिषद् १।२।५)

अर्थात्, यह आदर्श-हीन यज्ञादि कर्मकाण्ड अदृढ नौकाके समान है।
वेकी लोग इसको ही जीवनका लक्ष्य बनाकर, अपनी अन्ध वासनाओं-
वरमें ही पड़े रहते हैं और आध्यात्मिक उन्नतिके पदको नहीं प्राप्त
सकते। मूढ लोग, अपनेको पण्डित और बुद्धिमान् समझते हुए, पर
तवमें अज्ञानवश आदर्शहीन क्रियाकलापमें फँसे हुए, आत्मिक उन्नतिके
ल-सीधे मार्गमें अग्रसर नहीं हो पाते। वे मान, दम्भ, मोहके टेढ़े मार्गमें
फँसकर अपने जीवनको नष्ट करते हैं। उनकी दशा वास्तवमें अन्धेके
े चलनेवाले अन्धेके ही समान होती है।

ऐसे ही आदर्शहीन क्रियाकलापको लक्ष्य करके गीताके उपर्युक्त भाव
ट किये गये हैं।

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

दूसरी ओर, अत्यधिक कर्मकाण्डकी उक्त प्रवृत्तिकी प्रतिक्रियाके रूपमें, देशमें ज्ञान-काण्डकी प्रवृत्तिका प्रारम्भ हुआ था। यह प्रवृत्ति भी बढ़ते-बढ़ते कालान्तरमें, अतिमात्रताके कारण, शुष्क ज्ञानके रूपमें आकर प्रमाद, आलस्य तथा अकर्मण्यतामें परिवर्तित हो गयी।

इसी प्रकार, तीसरी प्रवृत्ति, जिसका प्रभाव भी सामान्य जनतापर काफ़ी था, देशमें तपस्वि-नामधारियोंकी थी जो तरह-तरहकी घोर शारीरिक यातनाओंको स्वेच्छया सहनेमें ही अपनी कृतकृत्यता समझते थे[1]।

उक्त तीनों प्रकारकी प्रवृत्तियोंके कारण उत्साह साहस तथा पराक्रम-की भावनाओंसे ओत-प्रोत, जीवित आर्यजातिमें आदर्शहीन, कर्तव्याकर्तव्य-विवेक शून्य, अनेक मूढ-ग्राहोंसे अभिभूत, निष्प्रभ, अकर्मण्य तथा मृतप्राय जातिके लक्षण दिखाई देने लगे थे। गीताके ऊपर दिये हुए वचनोंसे और उसकी सारी विचार-धारासे यह स्पष्ट है कि गीताका उदय देश और जातिको उक्त प्रवृत्तियोंके दुष्प्रभावसे बचानेके लिए ही हुआ था। गीताके उपदेशका अभिप्राय यही था कि उक्त प्रवृत्तियोंमें, आदर्शहीनताके आ जाने-से जो परस्पर विरोध आ गया था उसको एक मौलिक आदर्शकी दृष्टिसे दूर करके, सामञ्जस्य स्थापित किया जाये।

गीताका दुरुपयोग

पर ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत करके उक्त ऐतिहासिक भित्ति या पृष्ठभूमिको न समझनेके कारण ही गीताका दुरुपयोग चिरकालसे होता

---

१. उदाहरणार्थ, 'वाल्मीकि-रामायण' (३।६।२-६) में अश्मकुट्ट (=कुटे हुए कच्चे अन्नको खानेवाले), दन्तोलूखलिन् (=कच्चे अन्नको भी बिना कूटे खानेवाले), पत्राहार (=केवल पत्ते खानेवाले), अशय्य (=न सोनेवाले), अनवकाशिक (=एक ही पैरपर खड़े रहनेवाले), आर्द्र-पटवासस् (=गीले कपड़े पहननेवाले) आदि घोर तपस्वियोंका उल्लेख किया गया है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

है। इसी कारण गीताके विषयमें प्रायः यह भावना देशमें चिरकाल-
ी फैली हुई है कि वह साधु-संन्यासियोंकी पुस्तक है; वह ऐसा शास्त्र
जिसका उपयोग, बूढ़ोंके लिए भले ही हो, सांसारिक कार्योंमें लगे हुए
ियों या नवयुवकोंके लिए नहीं है। यह मिथ्या-भावना मूढ और पण्डित,
में समान रूपसे फैली हुई चली आ रही है। अभी कुछ वर्ष पूर्व
सेण्ट्रल संस्कृत कालेज, बनारसके सामान्य पाठ्यक्रममें गीता रखनेका
के अनेक पण्डितोंने विरोध इसी आधारपर किया था कि उसका
स्थान सर्वसाधारणके पाठ्यक्रममें हो ही नहीं सकता।

यह कहना कठिन है कि गीताके विषयमें उक्त मिथ्या-भावना प्रारम्भ-
ों और कैसे प्रचलित हुई; तो भी यह तो निश्चय है कि इसका बहुत-
उत्तरदायित्व जीवनके विषयमें उदात्त और आशामय भावनाओंसे
, मध्यकालके उन भाष्यकारों और टीकाकारोंपर है, जिन्होंने गीताको
नशास्त्रके साथ बाँध दिया। परन्तु देखिए, स्वयं गीताका उत्तर इस
में क्या है।

ाके उपक्रम और उपसंहार

यह मानी हुई बात है कि किसी भी ग्रन्थके वास्तविक तात्पर्यका निर्णय
के उपक्रम (=आरम्भ) और उपसंहार (=समाप्ति)से ही किया
है। गीताका उपक्रम शस्त्र-सज्जित युयुत्सु वीरोंसे भरे हुए युद्धक्षेत्रमें
ने शस्त्र-संपाते' होता है। ऐसे अवसरपर विचार-संघर्षमें लीन,
दके गर्तमें पड़े हुए, किंकर्तव्य-विमूढ, संशयात्मा अर्जुनके प्रति भगवान्
ष्णका सबसे पहला वचन यह है—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ! ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप !॥ (२।२-३)

LajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अर्थात्, हे अर्जुन ! इस अवसरपर आर्योंसे निन्दित, आत्माको गिराने वाली तथा अपयशकी हेतु यह घबराहट तुम्हारे हृदयमें कहाँसे आ गयी ? तुम वीर हो, शत्रुओंका नाश करनेवाले हो, हृदयकी इस क्षुद्र दुर्बलताको छोड़कर युद्धके लिए खड़े हो जाओ !

अब गीताके उपसंहारको लीजिए । गीताका अन्तिम श्लोक यह है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ (१८।७८)

इसमें संजयका यही कहना है कि मेरी धारणा है कि जहाँ विशुद्ध कर्तव्य-भावनाके उपदेष्टा श्रीकृष्ण तथा धनुर्धारी वीर अर्जुनके संवादात्मक इस गीताके उपदेशका अनुसरण किया जायेगा, वहाँ लक्ष्मी, विजय, ऐश्वर्य तथा सत्यसे न डिगनेवाली नीति रहेगी । दूसरे शब्दोंमें इसका यही अभिप्राय है कि गीता, जिसका उपदेश युद्धक्षेत्रमें स्थित वीर अर्जुनको लक्ष्य करके किया गया है, श्री, विजय, भूति तथा सन्नीतिका प्रतिपादक शास्त्र है । निश्चय ही इनका कोई स्थान वेदान्त-शास्त्रमें नहीं हो सकता, न कोई वेदान्त-शास्त्रका ग्रन्थ वेदान्तके जिज्ञासुके सामने लक्ष्मी, विजय आदिको आदर्श-रूपसे रखेगा ।

यह भी ध्यानमें रखनेकी बात है कि गीताके उपदेशका प्रभाव अर्जुन-पर यह नहीं हुआ कि वह युद्धसे मुँह मोड़कर जंगलमें जाकर तपस्या करता या किसी देव-मन्दिरमें बैठकर भगवान्‌की भक्ति और आराधना करता । उसका प्रभाव तो यही हुआ कि अर्जुनने प्राणपणसे युद्धमें भाग लिया और शत्रुओंपर पूर्ण विजय प्राप्त की । गीताके समस्त उपदेशको सुनकर अर्जुन स्वयं कहता है :

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ (१८।७३)

अर्थात्, हे अच्युत ! आपके उपदेशसे मेरा सारा मोह और भ्रम दूर हो गया है । मैं अब आपका कहना करूँगा और युद्धमें भाग लूँगा ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

इससे यह स्पष्ट है कि गीता केवल साधु-संन्यासी या बूढ़ोंका शास्त्र नहीं है, न वह कर्मभीरु, प्रमादी, आलसी या झूठे वैराग्यकी ओटमें अपने पारिक कर्तव्योंसे मुँह मोड़नेवालोंका शास्त्र है।

प्रत्युत वह

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु
वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः
त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम॥ (ऋग्० १०।१२८।१)
इन्द्र त्वोतास आ वयं
वज्रं घना ददीमहि।
जयेम सं युधि स्पृधः॥ (ऋग्० १।८।३)

(अर्थात्, हे भगवन्! हम वर्चस्वी, तेजस्वी तथा बलवान् बनकर, ने शत्रुओंपर, अपनी उन्नतिमें बाधक शक्तियोंपर विजय प्राप्त करें और स्त दिशाएँ हमारे सामने नतमस्तक हों! भगवन्! आपकी रक्षामें हम स्त्र उपकरणोंसे सन्नद्ध होकर, विघ्न-बाधाओंपर विजय प्राप्त करते हुए, तिमार्गमें अग्रसर होते रहें) ऐसी उदात्त प्रार्थनाओंको करनेवाले, शील, सत्यनिष्ठ, विजयी लोगोंका कर्मशास्त्र है।

ताका वास्तविक स्वरूप

गीताके वास्तविक स्वरूप और प्रतिपाद्य विषयको ठीक-ठीक समझनेके ए यह जानना आवश्यक है कि गीता किसी धर्म-विशेष या सम्प्रदाय-शेषका प्रतिपादन नहीं करती, न वह किसी सम्प्रदायका खण्डन या स्कार ही करती है। वह तो कर्मविषयक मौलिक सत्यका प्रतिपादक स्त्र है, और इसीलिए वह, हमारे मतमें, सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक त्व रखती है। मनुष्यकी धार्मिक प्रवृत्तियोंकी समालोचना करते हुए, उनके लिए सच्चे आदर्शका प्रदर्शन भी करती है। वास्तवमें गीताको

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

हम कर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, या कर्तव्याकर्तव्यशास्त्र कह सकते हैं। वह प्रत्येक धर्म-कर्मकी कसौटी है, और इस प्रकार 'धर्मशास्त्रोंका धर्मशास्त्र' है।

हमारा तो ऐसा विचार है कि गीतामें, प्राचीनतम भारतीय रूपकोन्मुख प्रवृत्तिके अनुसार ही, महाभारतीय युद्धक्षेत्रमें अवस्थित अर्जुन और भगवान् वासुदेवके संवादके व्याजसे, सांसारिक संघर्षमय जीवनके क्षेत्रमें उद्योगशील प्रत्येक व्यक्तिके लिए भगवान् कृष्ण-द्वारा प्रदर्शित कर्तव्यपथका वर्णन किया गया है।

गीता-जैसे शास्त्रके महत्त्वको हृदयंगम करनेके लिए हमें एक और सिद्धान्तको भी समझ लेना आवश्यक है। वह सिद्धान्त यह है कि आध्यात्मिक तथा दार्शनिक तत्त्वोंके परिशीलनमें भाषा केवल परिभाषाका ही काम करती है। जैसे तत्तत्-शास्त्रोंमें व्यवहारकी सुविधाके लिए पारिभाषिक शब्दोंकी कल्पना कर ली जाती है, ऐसे ही आध्यात्मिक और दार्शनिक जगत्में, समाज-गत शाब्दिक रूढियोंका सहारा लेकर, तत्तत् प्रमेयोंका प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार भाषा, तात्त्विक स्वरूपमें भेदक न हो कर, उस स्वरूपके विभिन्न पहलुओंको ही बताती है। इसलिए 'शब्दब्रह्मातिवर्तते'के अनुसार भाषाके स्तरसे ऊपर उठ जानेवाले एक तत्त्वदर्शी स्थितप्रज्ञकी दृष्टिमें वेदान्तका 'ब्रह्म', नीतिशास्त्रका 'सत्य', बौद्ध दर्शनका 'धर्म' या 'धम्म', मीमांसादर्शनका 'कर्म', तन्त्रशास्त्रका 'शक्ति', या स्वयं गीताशास्त्रका 'अहम्' या 'वासुदेव' शब्द वास्तवमें एक ही मौलिक तत्त्वके प्रतिपादक हैं।

मनुष्यकी बनायी हुई भाषा, जो कि

"वाग् वै मनसो ह्रसीयसी। अपरिमितरमिव हि मनः।
परिमितरेव हि वाक्।" (शतपथब्राह्मण १।४।४।७)

(अर्थात्, निश्चय ही वाणीका पद मन या विचारसे छोटा है। वाणी या भाषाकी अपेक्षा मन या विचारका क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है) इस

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

तिके अनुसार विचारको स्पष्ट करनेका एक अपूर्ण साधन है, स्वतःसिद्ध तत्त्वको बताने हो वाली (= प्रतिपादक) है, बनानेवाली (= उत्पादक) नहीं।

उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार एक तत्त्वदर्शी विपश्चित्की दृष्टि, मनुष्य-निम्न वासनाओंको दबाकर उसकी उच्च आध्यात्मिक या नैतिक वृत्तियोंके प्रबोधन तथा पोषणके निमित्त विभिन्न धर्मों-द्वारा प्रतिपादित, भिन्न कर्मकाण्डोंमें, विभिन्न देव-पूजा-पद्धतियोंमें, या, अधिकारि-भेद प्रवृत्ति-भेदके कारण, विभिन्न शाब्दिक परिभाषाओंके आश्रयसे मौलिक त्वके प्रतिपादक विभिन्न दर्शन-शास्त्रोंमें भेद नहीं देखती।

ताके कर्म तथा यज्ञका स्वरूप

गीताको हमने ऊपर कर्तव्याकर्तव्य-शास्त्र या कर्म-शास्त्र कहा है। का विशिष्ट प्रतिपाद्य विषय यही है कि मनुष्यको कर्म कर्तव्य-बुद्धि या नासक्त बुद्धिसे ही नहीं, अपितु ईश्वरार्पण-बुद्धि या भक्तिभावनासे भी ना चाहिए।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। (३।१९-२०)
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (९।२७)

अर्थात्, मनुष्यको अपना कर्तव्य-कर्म उसके फलमें अनासक्त होकर रना चाहिए। इसी प्रकार वह अपने अभीष्ट चरम पदको प्राप्त कर कता है। इसका अभिप्राय, दूसरे शब्दोंमें, यही है कि मनुष्य अपने तव्य-कर्मको करता हुआ, उसको समस्त जगत्की समष्टिरूप ईश्वरको पण करनेकी बुद्धिसे ही करे।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

इस प्रकार अनासक्त बुद्धि तथा ईश्वरार्पण-बुद्धिसे किये गये कर्मकी महिमा गीतामें भरी पड़ी है। साथ ही

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ (३।१०)
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ (४।३१)

(अर्थात्, सृष्टिके प्रारम्भमें यज्ञके साथ ही समस्त प्रजाओंको उत्पन्न करते ही प्रजापतिने कहा था कि यज्ञ ही तुम्हारी कामनाओंकी पूर्ति करेगा और तुम्हारी सारी उन्नतिका आधार यज्ञ होगा। यज्ञ-द्वारा ही मनुष्य परिपूर्ण अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। उसके बिना तो इस लोकमें भी मनुष्य सुखी नहीं हो सकता, परलोककी तो बात ही क्या है!) इस प्रकार यज्ञकी भी महिमाका काफ़ी गान किया गया है।

परन्तु गीताके सिद्धान्तको ठीक-ठीक समझनेके लिए कर्म और यज्ञके वास्तविक स्वरूपको जानना अत्यन्त आवश्यक है। शब्द-विषयक रूढिवादके प्रभावसे, तप, दान, दया, स्वर्ग, वर्ण, श्रद्धा-जैसे महत्त्वके शब्दोंके समान, 'कर्म' और 'यज्ञ' शब्दोंके अर्थके विषयमें भी हमारा समाज वास्तविकतासे बहुत दूर चला गया है। हमारे धर्मशास्त्र भी इसके अपवाद नहीं हैं। रूढिमूलक इसी परम्परागत भ्रमको दूर करनेके लिए गीताने, अन्य कई शब्दोंकी तरह, 'कर्म' और 'यज्ञ' शब्दोंके भी वास्तविक अर्थोंको दिखानेके लिए काफ़ी प्रयत्न किया है। कर्म-विषयमें गीताने कहा है :—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। (४।१६)

अर्थात्, कर्म तथा अकर्मके वास्तविक स्वरूपको समझनेमें कवियों या विद्वान् लोगोंने भी भूल की है।

सामान्य रूपसे कर्म शब्दका अर्थ यज्ञादि कर्मकाण्ड या पूजा-पाठ आदि लिया जाता है। परन्तु जिस कर्मका विचार गीता करती है, उसमें तो

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

नके विभिन्न क्षेत्रोंमें, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, नागरिकता
दिके सांसारिक सम्बन्धोंसे प्रेरित होकर, मनुष्य जितने भी काम करता
वे सब सम्मिलित हैं। यज्ञादि कर्मकाण्ड तो केवल उसी व्यापक जीवन-
तैयारी है, प्रतीक है। जैसे कुछ मिनिटोंके शारीरिक व्यायामका महत्त्व
रे शरीरको सारे दैनिक कार्यके लिए स्वस्थ रखनेमें होता है, इसी
ह सारे कर्मकाण्डका महत्त्व, मनुष्यकी उच्च भावनाओंकी पुष्टि-द्वारा,
के सारे जीवनकी पवित्रता और सच्चरित्रतामें है। जब कर्मकाण्ड या
पाठमें यह भावना नहीं रहती, जब वह स्वयं हमारा लक्ष्य बन जाता
तब वह मान, दम्भ, पाषण्ड, लोभ और परप्रतारणाके भावोंसे संचालित
र, आदर्शहीन जटिल क्रिया-कलापके रूपमें, व्यक्तिगत तथा समाजगत
भावनाओं तथा नैतिकताका पोषक होनेके स्थानमें, उनका घातक
जाता है। जनता समझने लगती है कि थोड़े-से पूजापाठसे ही मनुष्यको
कृत्यता मिल सकती है और उसके दिन-रातके अन्य कर्तव्योंका
ध्यात्मिक जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे ही आदर्शहीन यज्ञादि
काण्डको गीताने तामस और राजस कहा है और अनेक प्रकारसे उसकी
ना की है।

गीताकी दृष्टिसे किसी भी कामका महत्त्व, चाहे वह लौकिक हो या
क, उस भावनापर निर्भर है, जिससे प्रेरित होकर मनुष्य उसे करता
कर्म करनेवाला चाहे बड़ा विद्वान् हो, पण्डित हो, ब्राह्मण हो,
त्तिशाली हो, या साधारणसे साधारण काम करनेवाला शूद्र या
जन हो, दोनोंके व्यक्तित्वका, ऊँच-नीचका, निर्णय गीता इसी दृष्टिसे
गी। हमारे पुराणादि साहित्यमें धर्मव्याध आदिकी कथाओंका यही
भाव है।

यही दशा 'यज्ञ' शब्दकी है। उसके भी वास्तविक अर्थको भूलकर,
कालसे हम संकुचित अर्थमें उसका प्रयोग करने लगे हैं। यज्ञका मौलिक
अग्निमें आहुति डालना नहीं है। यह तो वास्तविक यज्ञ-भावनाका

Jagadguru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

केवल एक प्रतीक है। यज्ञका वास्तविक अर्थ अल्पज्ञ, स्वभावतः इन्द्रिय-परायण तथा स्वार्थसाधनमें तत्पर मनुष्यका, अपनी निम्न-प्रवृत्तियोंपर विजय पानेके लिए, जगत्की पोषक स्वभावतः परार्थ-प्रवृत्त दैवी शक्तियों या शक्तिके साथ अपना सम्पर्क स्थापित करना है। और यह सम्पर्क निःस्वार्थ लोकसेवा-द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है। इसी भावको गीताने,

> देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
> परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ (३।११)

इन शब्दोंमें वर्णन किया है। 'ऐतरेय-ब्राह्मण' आदि ग्रन्थोंमें इसी अर्थमें 'भावना-यज्ञ' शब्दका प्रयोग किया गया है। 'यज्ञ' शब्दकी धातु 'यज देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु' की देव-पूजाका वास्तविक अर्थ यही है। इसी प्रकारके यज्ञ-द्वारा, गीताके मतमें, "भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्" (५।२९) के अनुसार, यज्ञ तथा तपके भोक्ता भगवान्की भक्ति या पूजा की जा सकती है। वास्तवमें गीताके अनुसार कर्तव्य-तथा ईश्वरार्पण-बुद्धिसे किया हुआ कर्म ही सच्चा यज्ञ है।

गीताकी भक्ति

गीतामें अत्यन्त महत्त्वका शब्द 'भक्ति' है। परन्तु 'भक्ति' शब्दका जो प्रचलित अर्थ है, गीताकी 'भक्ति' उससे नितरां भिन्न है। गीताके अनुसार विश्व-प्रपंचको चलानेवाले, समस्त प्रेरणाओंके केन्द्र, समस्त व्यष्टियोंके प्राण-रूप, यज्ञ तथा तपके उपभोक्ता अर्थात् सार्थक्यके सम्पादक, समष्टि-रूप मूलतत्त्वके साथ सामञ्जस्यके लिए (जिसको साम्प्रदायिक परिभाषामें 'सर्वलोक-महेश्वर भगवान्की प्रीत्यर्थ' इन शब्दोंमें कहा जा सकता है) कर्म करना ही सच्ची भक्ति है।

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ (गीता १८।४६)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

इसके अनुसार मनुष्य-जीवनकी सफलताका रहस्य कर्म-द्वारा ईश्वर-भक्ति (अर्थात् व्यष्टि और समष्टिके सामञ्जस्य) में है। यह ठीक भी है, क्योंकि व्यक्तिके कर्तव्यकी इतिश्री समष्टिके साथ उसके सामञ्जस्यमें ही है। इस प्रकार भक्तिवाद कर्तव्यबुद्धि या आदर्शवादकी ही पराकाष्ठा है। यह भक्तिवाद कर्त्तव्यबुद्धिकी भावनामें नवीन मधुररसका संचार करता है। इसमें दैन्य, आलस्य, प्रमाद या अकर्मण्यताके लिए स्थान नहीं है। न यह पुरुषको, प्रकृतिके विरुद्ध, स्त्रीतुल्य आचरण करना सिखाता है, न अत्याचारीके अत्याचारको सहना। "वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि 'के अनुसार इसमें नम्रता और शौर्यका अनोखा सामञ्जस्य है। गीताके भक्तिवादकी दृष्टिसे स्व-कर्तव्य-पालनमें सर्वस्वकी बलि देनेवाले महाराणा प्रताप या गुरु गोविन्दसिंह वैसे ही भक्त हैं, जैसे गोस्वामी तुलसीदास या भक्त सूरदास।

गीताका भक्त आशा और आत्मविश्वासकी प्रतिमूर्ति होता है। वह बड़े-बड़े संकटोंसे भी न घबड़ाकर उनका स्वागत करता है। उसकी मानसिक अवस्थाका सुन्दर वर्णन गीता इस प्रकार करती है –

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ (२।३२)
सुखःदुखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ (२।३८)

वास्तवमें गीताकी प्रक्रियाके अनुसार, यज्ञ तप आदिकी तरह, भक्तिके भी सात्त्विक, राजस और तामस, ये तीन भेद किये जा सकते हैं। हमारी समझमें यह भेद निम्नलिखित प्रकारसे दर्शाया जा सकता है –

योऽन्तरात्मा जगत्साक्षी सृष्टवानिदमद्भुतम् ।
कल्याणबुद्ध्या जीवानां तत्प्रसादाय केवलम् ॥१॥
कर्तव्यमिति यत्कर्म क्रियते नियतात्मभिः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समैर्भूत्वा भक्तिः सा सात्त्विकी मता ॥२॥

Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मनःप्रसादः सौम्यत्वं समुत्साहः स्वकर्मसु ।
श्रेयोऽभ्युदयसिद्धिश्च तस्याः फलमिहोच्यते ॥३॥
सत्कारमानपूजार्थं प्रतार्य सकलं जगत् ।
जीविकासाधनार्थं वा प्रेयोमार्गपरायणैः ॥४॥
लोकेशस्य प्रसादार्थमेवमुद्घोष्य सर्वतः ।
क्रियते यः समारम्भो भक्तिः सा राजसी मता ॥५॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च समुद्वेगः स्वकर्मसु ।
चित्तचञ्चलता चैव तस्या. फलमिहोच्यते ॥६॥
समुत्सृज्य स्वकं कर्म सदालस्यपरायणैः ।
कर्मण्यकर्म पश्यद्भिरकर्मणि च कर्म यत् ॥७॥
नाम्नः संकीर्तनेनैव न तु कर्मसमाश्रयात् ।
पूज्यते भगवान्नित्यं भक्तिः सा तामसी मता ॥८॥
निरुद्यमा निरुत्साहा हीनसत्त्वपराक्रमाः ।
अनार्यजुष्टमार्गस्था जायन्ते तां समाश्रिताः ॥९॥

('रश्मिमाला' ६५।१-९)

अर्थात्, जगत्के साक्षिभूत जिन अन्तरात्मा भगवान्ने यह अद्भुत सृष्टि जीवोंके कल्याणार्थ की है, केवल उनकी प्रसन्नताके लिए, सिद्धि तथा असिद्धिको बराबर समझनेवाले, संयतात्मा मनुष्य कर्तव्य-बुद्धिसे जो काम करते हैं वही सात्त्विकी भक्ति है। उस भक्तिसे मनकी प्रसन्नता, सौम्यता, अपने कर्मोंमें उत्साह और निःश्रेयस तथा अभ्युदयकी सिद्धि, ये प्राप्त होते हैं।

केवल स्वार्थ-तत्पर लोगों-द्वारा, 'ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए ही यह काम किया जा रहा है' प्रत्यक्षतः ऐसी सर्वत्र घोषणा करके, अपने सत्कार मान और पूजाके लिए या जीविका-प्राप्तिके लिए, जगत्को धोखा देकर, जो कार्य किया जाता है, वह राजसी भक्ति कहलाती है। इस भक्तिसे मनुष्यमें केवल दम्भ, दर्प, अभिमान, अपने कार्योंमें अशान्ति तथा चित्त-

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

ञ्चलता, इनकी ही वृद्धि होती है।

कर्मको अकर्म और अकर्मको कर्म समझनेवाले आलसी लोगों-द्वारा, ने कर्तव्यकी उपेक्षा करके, केवल नामके संकीर्तनसे, न कि निःस्वार्थ -द्वारा, भगवान्‌को पूजा करना तामसी भक्ति है। ऐसी भक्ति करने-, उद्यम, उत्साह तथा तेज और पराक्रमसे विहीन होकर, अनार्यसेवित का अवलम्बन करते हैं।

त्मपरीक्षण या अन्तरवेक्षण

ऊपर हमने कहा है कि गीता किसी सम्प्रदाय-विशेषकी पुस्तक नहीं न वह किसी कर्मकाण्ड-विशेषका प्रतिपादन करती है। वह तो मनुष्य-के सामने, चाहे वह किसी सम्प्रदाय या धर्मका अनुयायी हो, कर्म का उच्चतम आदर्श रखती है। साथ ही वह बतलाती है कि प्रत्येक को उसकी भावात्मिका भित्तिकी दृष्टिसे देखना चाहिए; क्योंकि प्रत्येक र्मिक या नैतिक कर्मका महत्त्व हमारे भावोंपर निर्भर है। भाव-संशुद्धि-गीताने मानस-तपोंमें गिनाया है। इसके लिए आत्म-परीक्षण या अन्तर-णकी अत्यन्त आवश्यकता है। यह अन्तरवेक्षण गीताकी शिक्षाका एक वैशिष्ट्य है।

यह अन्तरवेक्षण प्रकृतिसिद्ध सत्त्व, रजस्, तमस्, इन तीन गुणोंके ारपर ही किया जा सकता है। स्थूल रूपसे कहा जा सकता है कि विवेक, मोह, जडता, आलस्य तथा प्रमाद ये तमोगुणके लक्षण हैं; म्परागत अन्धरूढियों तथा चिर-प्ररूढ अपनी ही वासनाओंकी दासता ोगुणका लक्षण है; और अपने प्रत्येक कार्यके परीक्षणमें सजग रहना, ुद्ध रहना और प्रमाद तथा वासनाओंसे असंपृक्त शुद्ध बौद्धिक दृष्टिको र रखना सत्त्वगुणकी पहचान है। गीताने स्वयं, उदाहरणके रूपमें, द्धा, यज्ञ, तप, दान आदिका सात्त्विक, राजस, तामस भेदसे त्रैविध्य

aiGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

दिखाया है। इसी कसौटी-द्वारा हम अपने प्रत्येक कर्मका परीक्षण कर सकते हैं।

'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' के अनुसार अन्ध रूढियोंके प्रभावमें बहती हुई भारतीय जनताको आज प्रायः प्रत्येक दिशामें इस अन्तरवेक्षणकी कितनी आवश्यकता है, यह कहनेकी बात नहीं है। हमारे दान, यज्ञ, तप तथा धर्मके नामपर किये जानेवाले अन्य कार्य भी, सात्त्विक रूपसे गिरकर, प्रायः रिवाज, मान, दम्भ तथा अविवेककी वस्तु हो गये हैं। गीताकी शिक्षाका पहला प्रभाव हमपर यह होना चाहिए कि हम अन्तरवेक्षण-द्वारा अपने कामोंकी तथा अपनी रूढियोंकी गीताकी कसौटीपर परीक्षा करना सीखें। इसी आत्म-परीक्षणके लिए गीताने प्रायः 'अमोह' शब्दका प्रयोग किया है। गीताका कहना है :

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्। (१५।५)

'कठोपनिषद्'ने इसी बातको अपने सुन्दर शब्दोंमें कहा है :

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्। (२।१।१)

अर्थात्, कोई धीर-वीर पुरुष ही, आत्मकल्याणको चाहता हुआ, आत्म-परीक्षणकी ओर झुकता है।

गीताका आशावाद

भारतीय आर्य-धर्मकी एक मुख्य विशेषता उसका आशावाद है। हमारा प्राचीन साहित्य, विशेषकर वैदिक साहित्य, आशावादके ओजपूर्ण भावोंसे ओत-प्रोत है। जैसे—

ओजोऽस्योजो मयि धेहि। (यजु० १९।९)

(=परमात्मन्! आप ओजःस्वरूप हैं, मुझे भी ओजस्वी बनाइए)।

अदीनाः स्याम शरदः शतम्। (यजु० ३६।२४)

(=हम जीवनमें कभी दीनताको धारण न करें)।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मदेम शतहिमाः सुवीराः । (अथर्व० २०।६३।३)
(=हम वीर सन्तानोंसे युक्त होकर जीवन-भर प्रसन्नतासे रहें) ।
कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे । (ऋग्० १।३६।१४)
(=भगवन् ! आपके अनुग्रहसे हम उन्नत जीवनके लिए सदा सचेष्ट हों)।

हमारी जातिके इस आशावादका आधार जहाँ एक ओर आत्म-विश्वास है, वहाँ दूसरी ओर – जगन्नियन्ता भगवान्की सृष्टिमें अत्यन्त व्यापक रूपमें सत्यका साम्राज्य है – इस विश्वासमें था । "असतो मा सद् गमय" (=भगवन् ! मुझे असत्यसे सत्यकी ओर ले चलिए), "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा" (= सत्याचरण-द्वारा ही मनुष्य अपने सच्चे स्वरूपको पहचान सकता है), "सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्" (= सारा विश्व सत्यमें ही प्रतिष्ठित है), इन श्रुतियोंसे हमारे पूर्व-पुरुषोंकी गम्भीर तथा व्यापक सत्य-भावना स्पष्ट है ।

गीतामें भी यही महान् आदर्श ओत-प्रोत है । गीता जहाँ एक ओर "उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्" (६।५) (अर्थात्, अपनी उन्नति अपने भरोसेपर करो और आत्मग्लानिसे अपनेको बचाओ) की शिक्षा देती है, वहाँ दूसरी ओर भगवान् कृष्णके प्यार-भरे शब्दोंमें विश्वास दिलाती है :

कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति । (९।३१)
नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात ! गच्छति । (६।४०)
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते । (२।४०)

अर्थात्, हे प्रिय अर्जुन ! इसका विश्वास रखो कि कर्तव्य-बुद्धिसे कर्म करनेवाला, कल्याणमार्गका पथिक कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं हो सकता । कोई भी सत्प्रयत्न निष्फल रहे, ऐसा नहीं हो सकता ।

यह कल्याण-भावना भोगैश्वर्यप्रसक्त, इन्द्रियलोलुप, या समयानुकूल अपना काम निकालनेवाले आदर्शहीन व्यक्तियोंकी वस्तु नहीं है । इसके

Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri
Gurukul Kangri Collection, Haridwar
Jagadguru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

स्वरूपको तो वही समझ सकता है, जिसका यह विश्वास है कि उसका सत्य बोलना, संयत जीवन व्यतीत करना, आपत्तियोंके आनेपर भी अपने कर्तव्यसे मुँह न मोड़ना उसके स्वभाव, उसके व्यक्तित्वके अन्तस्तम स्वरूपकी आवश्यकता है। जैसे एक फूलका सौन्दर्य और सुगन्ध किसी बाह्य कारणसे न होकर, उसके स्वरूपका अंग है; ऐसे ही एक कल्याणमार्गके पथिकका निरपेक्ष या अनासक्त होकर कर्तव्यपालन करना उसके स्वरूपका अंग है; उसके जीवनका सार्थक्य, जीवनकी पूर्णांगता ही इसमें है। गीता इसीको सात्त्विकी श्रद्धा कहती है। गीताकी भक्ति और निष्काम कर्मके मूलमें यही आशामय, श्रद्धामय, कल्याण-भावना निहित है।

आशावाद-मूलक गीताकी यह कल्याणभावना, और "यद्भद्रं तन्न आ सुव" (=भगवन्! जो भद्र या कल्याण है, उसकी हमें प्राप्ति कराइए,) "भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि" (=भद्र या कल्याणमार्गपर चलते हुए हम अपना जीवन व्यतीत करें), "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः" (=हम भद्रको सुनें और भद्रको ही देखें) इत्यादि अनेकानेक मन्त्रोंमें वर्णित वैदिक भद्र-भावना, दोनों एक ही हैं। दोनोंके मूलमें आशावाद है, और दोनोंका लक्ष्य मनुष्यको सतत कर्तव्यशील बनाना है।

उपसंहार

ऊपर हमने संक्षेपमें गीताके कर्म, यज्ञ, भक्ति आदिके विषयमें कुछ मौलिक सिद्धान्तोंको असाम्प्रदायिक दृष्टिसे दिखानेका यत्न किया है। गीताके वास्तविक स्वरूप और महान् उपयोगको समझनेमें इससे अवश्य सहायता मिलेगी, ऐसी हमें आशा है।

निःसन्देह गीताकी महिमा अनन्त है। वह हमारी जातिका एक अनर्घ समुज्ज्वल रत्न है। आवश्यकता इस बातकी है कि हम उसके महत्त्व और उपयोगको ठीक-ठीक समझें और उसके-द्वारा जनतामें तन्द्रा, क्लान्ति, दैन्य, निराशा, आलस्य, प्रमाद, दम्भ और पाखण्डको हटाकर, उनके

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

ानमें स्फूर्ति, उत्साह, आशा, आत्म-सम्मान, कर्तव्यपरायणता और सत्य-
ष्ठाकी स्थापना-द्वारा नव-जीवनका संचार करें।

गीता हमारी है; उसका हमको गर्व है। पर साथ ही उसका सार्व-
ौमिक और सार्वकालिक महत्त्व भी है। समस्त मानव-समाजके कल्याणका
क्ष्य उसमें निहित है। कर्तव्य-बुद्धिकी भावनामें मधुर रसका संचार
रनेवाला गीताका भक्तिवाद तथा आत्म-परीक्षण ही संसारके सन्तप्त
ा उद्विग्न मानव-समाजको शान्ति प्रदान कर सकता है। हमारा कर्तव्य
कि हम गीताके जीवन-प्रद उपदेश और सन्देशको, उदाहरण-द्वारा,
के कोने-कोनेमें पहुँचाएँ, और इस प्रकार वह दिन शीघ्र आये, जब कि
ुद्ध भारत मानव-जातिके कल्याणकी भावनासे उसके अनुपम प्रकाशको
ारमें फैला सके।

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

परिशिष्ट (च)

वर्णभेद तथा जातिभेदका परस्पर सम्बन्ध[1]

अभिनव भारतके निर्माणमें रूढि-मूलक वर्ण-भेद एक गहरी समस्या है। इस लेखमें इसी समस्या-के एक पहलूपर ऐतिहासिक दृष्टिसे विवेचन किया गया है। प्रकृत ग्रन्थमें इस विवेचनका कई बार उल्लेख हुआ है।

भारतवर्षमें हिन्दू-समाजकी सबसे बड़ी विशेषता जातिभेद और वर्ण-भेद है। एक ओर, हिन्दू-समाज सैकड़ों विभिन्न जातियों (अर्थात् बिरा-दरियों) में बँटा हुआ है, जो व्यवहारमें एक-दूसरेसे बहुत करके बिलकुल असम्बद्ध हैं। दूसरी ओर, प्राचीन परम्पराके विद्वान् उन सैकड़ों जातियों-का चार वर्णोंमें वर्गीकरण करनेका असफल प्रयत्न चिरकालसे करते चले आये हैं। जातिभेद और वर्णभेदका परस्पर क्या सम्बन्ध है, इसीका विवेचन हम ऐतिहासिक दृष्टिसे इस लेखमें करना चाहते हैं।

वर्णव्यवस्थामें वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक दृष्टि

इसपर विचार करनेसे पहले यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वर्ण-व्यवस्थाका विचार वैज्ञानिक और व्यावहारिक, दोनों दृष्टियोंसे किया जा सकता है। वैज्ञानिक विचार तो समस्त सभ्य जातियोंपर लागू हो सकता है; क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टिके अनुसार तबतक किसी सभ्य जातिका काम चल ही नहीं सकता, जबतक उसमें चारों वर्णोंके मनुष्य उचित

१. 'कल्पना' (मार्च, १९६३) से उद्धृत ग्रन्थकारका लेख।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

नुपातमें न हों। वास्तवमें, जो जाति जितनी ही सभ्य और उन्नत होगी, समें उतने ही वस्तुतः उन्नत 'ब्राह्मण', 'क्षत्रिय', 'वैश्य' और 'शूद्र' होंगे। स्पष्टतः यहाँ हम इन चारों शब्दोंका प्रयोग वस्तुतः पाये जानेवाले ण-कर्मोंके आधारपर कर रहे हैं; उनके रूढि-गत व्यावहारिक प्रयोगको कर नहीं। इस प्रकारकी वास्तविक तथा अकृत्रिम वर्ण-व्यवस्था बहुत शोंमें, उदाहरणार्थ, आजकल युरॅपके इंग्लैण्ड आदि देशोंमें पायी जाती है। इसीलिए वे देश रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्थावाले देशोंकी अपेक्षा अधिक ान, बल, धन और शिल्पसे भरपूर हैं। जितने समुन्नत ज्ञानी (ब्राह्मण), ली (क्षत्रिय), धनी (वैश्य) और शिल्पी (शूद्र) उन देशोंमें हैं, तने हमारे जैसे देशोंमें नहीं।

उपर्युक्त ज्ञानी, बली, धनी और शिल्पी शब्दोंके स्थानमें, वैज्ञानिक ष्टिसे, हम क्रमशः शिक्षक, शासक, पोषक और रक्षक इन शब्दोंका भी योग कर सकते हैं। ध्वनि-सामञ्जस्यके साथ-साथ उनमें अर्थ-गाम्भीर्य भी धिक है। साथ ही इनके द्वारा चारों वर्ण समान स्तर पर भी आ जाते । परम्परासे प्राप्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शब्दोंमें यह बात लकुल नहीं है।

राणोंमें वैज्ञानिक वर्ण-व्यवस्था

इस बातपर प्रायः विद्वानोंका भी ध्यान नहीं गया है कि पुराणोंमें हाँ तत्तद् द्वीपके भेदसे भिन्न-भिन्न चार नामोंसे चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाका र्णन किया गया है वहाँ उक्त प्रकारकी वैज्ञानिक वर्ण-व्यवस्थासे ही भिप्राय है।

उदाहरणार्थ, जम्बू-द्वीप (जिसमें भारतवर्ष है) के अतिरिक्त प्लक्ष, ाल्मल, कुश, कौञ्च, और पुष्कर, इन छह द्वीपोंके वर्णनके प्रसंगमें, उन त्रमें, भिन्न-भिन्न नामोंसे, चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाका वर्णन 'विष्णुपुराण'में इस कार किया गया है –

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

"वर्णाश्च तत्र (= प्लक्षे) चत्वारस्तान् निबोध वदामि ते ॥
आर्यकाः कुरराश्चैव विदिश्या भाविनश्च ते ।
विप्रक्षत्रियवैश्यास्ते शूद्राश्च मुनिसत्तम ।।....
शाल्मले ये तु वर्णाश्च वसन्त्येते महामुने ।
कपिलाश्चारुणाः पीताः कृष्णाश्चैव पृथक् पृथक् ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव...
वर्णास्तत्रापि (=कुशद्वीपे) चत्वारो...
दमिनः शुष्मिणः स्नेहा मन्देहाश्च महामुने ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चानुक्रमोदिताः ।....
(क्रौञ्चद्वीपे) पुष्कराः पुष्कला धन्यास्तिष्याख्याश्च महामुने ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चानुक्रमोदिताः ॥...
(शाकद्वीपे) वङ्गाश्च मागधाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा ।
वङ्गा ब्राह्मणभूयिष्ठा मागधाः क्षत्रियास्तथा ।
वैश्यास्तु मानसास्तेषां शूद्रास्तेषां तु मन्दगाः ॥...
(पुष्करद्वीपे) वर्णाश्रमाचारहीनं धर्माचरणवर्जितम् ।...."
(विष्णुपुराण २।४।१६–१७; ३०–३१; ३८–३९; ५३ ६९; ८२)

अर्थात्, पृथ्वीके जो जम्बू, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर नामके सात महाद्वीप हैं, प्रायः उन सबमें चारों वर्ण पाये जाते हैं। पर उनके नाम पृथक्-पृथक् हैं। जहाँ भारतमें उनको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहते हैं, वहाँ प्लक्ष-द्वीपमें उनको आर्यक, कुरर, विदिश्य और भावी; शाल्मल-द्वीपमें कपिल, अरुण, पीत और कृष्ण; कुश-द्वीपमें दमी, शुष्मी, स्नेह और मन्देह; क्रौंच-द्वीपमें पुष्कर, पुष्कल, धन्य और तिष्य; शाक-द्वीपमें वंग, मागध, मानस और मन्दग कहते हैं; पुष्कर-द्वीपमें वर्ण और आश्रमका आचार तथा कर्मकाण्डात्मक धर्माचरण भी नहीं है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

भारतवर्षकी आधुनिक वर्ण-व्यवस्था

परन्तु भारतवर्षकी आधुनिक वर्ण-व्यवस्थाका विचार वैज्ञानिक दृष्टिके स्थानमें व्यावहारिक दृष्टिसे ही किया जा सकता है। यहाँ वर्ण-व्यवस्थाका विचार यही कह देनेसे समाप्त नहीं हो जाता कि ज्ञान-प्रधान, कर्म-प्रधान और इच्छा-प्रधान व्यक्तियोंको क्रमसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और जिनमें ज्ञान, क्रिया, इच्छाका समुचित विकास न हुआ हो उनको शूद्र समझना चाहिए। यहाँ तो वैज्ञानिक दृष्टिसे सांकर्य, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषोंके रहनेपर भी, रूढि या व्यवहारके अनुसार ही वर्ण-भेद माना जा सकता है। यहाँ "शास्त्राद्रूढिर्बलीयसी" यह न्याय बिलकुल घट जाता है। इसी कारणसे रूढि-मूलक वर्णभेदके पोषकोंने भिन्न-भिन्न वर्णोंको देखते ही उनका भेद प्रतीत हो जाये, इस उद्देश्यसे भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें उनके लिए भिन्न-भिन्न कृत्रिम चिह्नोंके रखनेका विधान किया है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णोंके ब्रह्मचारियोंके लिए भिन्न-भिन्न प्रकारके दण्ड, मेखला आदिका विधान 'मनुस्मृति' आदिमें किया गया है।[1]

---

१. उदाहरणार्थ, मनुस्मृतिमें विभिन्न वर्णोंके ब्रह्मचारियोंके लिए भिन्न-भिन्न चर्म, मेखला आदिका विधान इस प्रकार किया गया है—"कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः। वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च॥ मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला। क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी॥...कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्। शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्॥ ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ। पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः॥" (मनु०२।४१-४२, ४४-४५) इत्यादि। इस प्रकारकी पृथक्त्वकी प्रवृत्ति प्रारम्भमें न होकर क्रमशः बढ़ती गयी, यह प्राचीन तथा नवीन गृह्य-सूत्रोंके काल-क्रमिक अध्ययनसे स्पष्ट हो जाता है। भेद-भावकी इस प्रवृत्तिके इतिहासपर हम फिर कभी विचार करेंगे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वर्णभेद और जातिभेदमें परस्पर सम्बन्ध

ऊपरकी भूमिकाके पश्चात् अब हमें यह विचार करना चाहिए कि भारतवर्षके आधुनिक वर्णभेद और जातिभेदमें परस्पर क्या सम्बन्ध है।

इस सम्बन्धके विषयमें कई मत हो सकते हैं।

प्रथम मत

प्रथम तो उन लोगोंका मत है, जो चिरकालसे भारतवर्षमें वैज्ञानिक वर्ण-व्यवस्थाको रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्थाका रूप देनेका प्रयत्न करते रहे हैं। उनका कहना है कि सृष्टिके प्रारम्भसे ही चारों वर्णोंकी उत्पत्ति वास्तवमें ब्रह्माके मुख आदि अंगोंसे पृथक्-पृथक् हुई।

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मणा वर्णतां गतम्॥

(महाभारत, शान्तिपर्व १८८।१०)

(अर्थात्, वर्णोंमें कोई मौलिक भेद नहीं है। यह सारा जगत् एक ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है और वर्णभेदका कारण केवल कर्म ही है), तथा —

(कृतयुगे)....वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदासन्न संकरः।

(वायुपुराण ८।६०)

(अर्थात्, सत्ययुगमें न तो वर्ण और आश्रमकी व्यवस्था ही थी, न वर्ण-संकर) इस प्रकारके अनेकानेक स्पष्ट वचनोंके प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थोंमें पाये जानेपर भी, वे लोग

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्याँ शूद्रो अजायत॥

(यजु० ३१।११)

जैसे वचनोंका उपर्युक्त शाब्दिक अर्थ ही करते हैं।

इस मतकी प्रत्यक्ष दुर्बलता और अनैतिहासिकताके विषयमें यहाँ कुछ न कहकर, हम उसके केवल इस अभिप्रायको लेकर ही विचार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करेंगे कि उपर्युक्त चारों भेद सृष्टिके प्रारम्भसे ही हैं।

इस मतके मान लेनेपर यह प्रश्न उठता है कि ऐसी दशामें आजकल-की अनेकानेक जातियाँ (= बिरादरियाँ) कहाँसे आ गयीं ? इसका उत्तर उक्त मतवादियोंकी तरफ़से यही दिया जाता है कि इन जातियोंमें-से कुछ तो उपर्युक्त वर्णोंकी ही भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं, और कुछकी उत्पत्ति चारों वर्णोंके परस्पर संकरसे हुई है। मनुस्मृति[1] आदि ग्रन्थोंमें इसी प्रकारसे अनेक (मागध, सूत, चर्मकार आदि) जातियोंकी उत्पत्ति बतलायी गयी है।

दूसरे शब्दोंमें, इस मतके अनुसार रूढ वर्णव्यवस्था पहलेसे है, और जातियोंका भेद उसके बादका है। इसीलिए इस मतके अनुसार जाति-भेदका वर्ण-भेदसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस मतके आधारपर वर्णोंको भी जातिभेद मानकर जातियोंको अवान्तर जातियाँ कहा जाता है।

दूसरा मत

दूसरा मत आजकलके सुधारकोंका है। वे कहते हैं, प्राचीन समयमें अनेकानेक जातियाँ नहीं थीं। गुणकर्मानुसार उपर्युक्त वैज्ञानिक अर्थमें केवल चार वर्ण थे। उसके पश्चात् आर्थिक, सामाजिक तथा स्थानीय आदि अनेक कारणोंसे अनेकानेक जातियाँ हो गयीं। संकरज कहलानेवाली जातियोंके विषयमें उनका क्या मत है, यह हम ठीक-ठीक नहीं कह सकते। कदाचित् ये लोग संकरज जातियाँ नहीं मानते।

हमारा अपना विचार

कई विशेष अंशोंमें उक्त मतोंसे समानता रखनेपर भी, सामान्य रूपसे हमारा विचार उनसे भिन्न है। हमारे विचारमें अनेकानेक वर्तमान जातियोंका वर्ण-भेदसे कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं है। जातिभेदका कारण

---

१. देखिए—मनुस्मृतिका १०वाँ अध्याय।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वर्णसंकरता बहुत ही कम है। वास्तविक कारण आर्थिक और सामाजिक तथा मानव-जाति-विज्ञान आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। बहुत अंशोंमें अनेक जातियाँ वर्ण-विभागसे पूर्वकी भी हो सकती हैं। इसलिए जातियोंको वर्णोंका विकृत या परिवर्तित रूप न मानकर यही कहना ठीक होगा कि अनेक भिन्न-भिन्न कारणोंसे स्वतन्त्रतया सिद्ध और कई अंशोंमें वर्ण-व्यवस्थासे पूर्ववर्ती जातियोंपर बाहरी वर्ण-व्यवस्थाका आरोप करनेका प्रयत्न चिरकालसे बराबर किया जाता रहा है।

सभ्यताके इतिहासमें एक समय ऐसा आता है जब अनेक कारणोंसे अनेक बिरादरियाँ या जातियाँ बन जाती हैं। अनेक कारणोंमें-से एक कारण आर्थिक होता है। सभ्यताकी उस अवस्थामें, जब कि मनुष्योंकी आवश्यकताएँ बहुत अधिक न होकर सीमित ही होती हैं, साथ ही दूरस्थ प्रदेशोंके साथ गमनागमन भी कम होता है, भिन्न-भिन्न पेशोंके अनुसार भिन्न-भिन्न मनुष्य-समुदाय अपना-अपना पृथक् समाज बना लेते हैं। उनको इसमें सहूलियत होती है कि आपसमें ही विवाहादि सम्बन्ध करें। उदाहरणार्थ, एक कुम्हारके लड़केको कुम्हारकी लड़कीसे शादी करनेमें बड़ी सुविधा होती है। वह अपने बाल्यकालमें ही अपने पेशेमें निपुण हो जाती है, और पतिके घर आते ही उसको अपने काममें सहायता देने लगती है। यही दशा जुलाहा आदि दूसरे पेशोंके लोगोंकी है। जातियोंका एक कारण वंश-मूलक भी हो सकता है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकारकी जातियोंका रूढ़ि-मूलक वर्णभेदसे कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं है।

जातिभेदका कारण वर्ण-सांकर्य बहुत कम है, इसका एक प्रमाण 'यजुर्वेद' (माध्यन्दिन-संहिता, अध्याय ३०) से मिलता है। इसमें सूत, रथकार, मागध, चर्मकार, चाण्डाल आदि अनेक ऐसी जातियोंका उल्लेख है, जो 'मनुस्मृति' आदिके अनुसार वर्ण-संकरतासे ही उत्पन्न हुई हैं। 'मनुस्मृति' आदिके इस कथनको माननेवाले लोगोंसे पूछना चाहिए कि जब, उनकी मान्यताके अनुसार, वेद, वर्णोंकी तरह, सृष्टिके प्रारम्भमें ही उत्पन्न हुए,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तो उसी समय ये वर्ण-सांकर्यसे उत्पन्न जातियाँ कहाँसे आ गयीं ?

'महाभाष्य', 'अष्टाध्यायी' आदिसे भी 'मनुस्मृति' आदि ग्रन्थोंके वर्ण-संकरमूलक सिद्धान्तका विरोध प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति (अध्याय १०) आदिके अनुसार आम्बष्ठ्य और मागध संकर-मूलक जातियाँ हैं; परन्तु पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' (देखिए, अध्याय ४, पाद १, सूत्र १६८-१७१) तथा 'महाभाष्य'के अनुसार ये क्षत्रियोंकी विशेष जातियाँ थीं।

इस विरोधका कारण हमें निम्न-लिखित प्रतीत होता है –

प्रारम्भमें 'ब्राह्मण', 'क्षत्रिय' आदि वर्ण-वाची शब्द यौगिक समझे जाते थे।[1] इसी कारण आर्यावर्तके अन्दर तथा आसपास रहनेवाली अनेक आर्य तथा अनार्य जातियोंको उनके कर्मके अनुसार आर्य लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि शब्दोंसे पुकारते थे। पीछेसे जब ये शब्द आर्यावर्तमें रूढार्थक हो गये, तब उन आर्य या अनार्य जातियोंको, जिनमें आर्यावर्तीय आर्य-संस्कृति ठीक रूपमें नहीं पायी जाती थी, यहाँके शास्त्री लोग संकरज या शूद्र (या वृषल) कहने लगे।

यही कारण है कि जहाँ एक ओर 'अष्टाध्यायी' (देखिए काशिका ४।१।१६८-१७८) आदिके अनुसार पौण्ड्र, चोल, केरल, शक, कम्बोज आदि

---

१. तु० "न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मणा वर्णतां गतम् ॥" (इत्यादि; महाभारत, शान्तिपर्व, १८८।१०-१८)। तथा "भरद्वाज उवाच। ब्राह्मणः केन भवति क्षत्रियो वा द्विजोत्तमः। वैश्यः शूद्रश्च विप्रर्षे तद् ब्रूहि वदतां वर ॥ भृगुरुवाच।...स वै ब्राह्मण उच्यते ॥...स वै क्षत्रिय उच्यते ॥...स वैश्य इति संज्ञितः ॥...स वै शूद्र इति स्मृतः ॥..." (महाभारत, शान्तिपर्व, १८९।१-८)। तथा मनुस्मृति १०।६५।, तथा "यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्। यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत् ॥" (भागवत ७।११।३५)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आर्य या अनार्य जातियाँ क्षत्रिय कही गयी हैं, वहाँ दूसरी ओर 'मनुस्मृति'[1] आदिके अनुसार वे या तो वृषल[2] (=शूद्र) कही गयी हैं या संकरज बतलायी गयी हैं।

चीनी आदि अनार्य जातियोंके विषयमें 'मनुस्मृति'का यह कहना कि "शनकैस्तु क्रियालोपाद्....ब्राह्मणादर्शनेन च", अर्थात् पूर्ववर्ती आर्य-संस्कृतिके छोड़ देनेसे शूद्रताको प्राप्त हो गयी हैं, केवल उपहासास्पद है।

ऊपरके उदाहरणोंसे प्रतीत होता है कि सृष्टिके प्रारम्भसे ही चार पृथक्-पृथक् रूढि-परक वर्णोंकी स्थितिके सिद्धान्तको माननेवालोंने जब अनेकानेक जातियाँ देखीं, विशेषकर भारतवर्षके उन प्रदेशोंमें जहाँ रूढि-परक वर्ण-व्यवस्था प्रचलित नहीं हुई थी, तब उनको संकर-मूलक कहना प्रारम्भ कर दिया। वास्तवमें उनका वर्णभेद-व्यवस्थासे कोई सम्बन्ध उस समय तक नहीं हो पाया था, और वे प्रायेण स्वतन्त्रतया सिद्ध जातियाँ थीं।[3]

जातिभेद और वर्णभेदके सम्बन्धको समझानेके लिए हम 'शूद्रों'का उदाहरण ले सकते हैं। शूद्र कहलानेवाले लोगोंके लिए जातिभेद तो वास्तविक है। वे 'शूद्र' हैं, इसको न तो वे कहते हैं, न जानते ही हैं। 'शूद्र' शब्द उनकी बोली या भाषामें है ही नहीं। वास्तवमें देखा जाये, तो यही कहना होगा कि 'शूद्र' शब्द शास्त्री लोगोंने उनके ऊपर उसी तरह

---

१. देखिए—"शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः। वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥ पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः पारदाः पल्हवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥ (मनु० १०।४३-४४)

२. ऐसा हो सकता है कि 'वृषल' शब्दका वास्तविक अर्थ आर्यत्वसे विहीन 'असंस्कृत' व्यक्ति हो, और यह 'शूद्र'का समानार्थक न हो।

३. 'संकर'के सिद्धान्तके मूलमें यह भी ऐतिहासिक कारण हो सकता है कि आर्योंके विस्तारके समय आर्य लोग तत्तद् प्रदेशोंके अनार्य अनार्य-बहुल निवासियोंसे मिल गये हों।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लाद दिया है, जैसे 'नेटिव' शब्दका समारोप हमारे ऊपर विदेशी ब्रिटिश शासक करने लगे थे।

हिन्दू-समाजमें इस समय भी अनेकानेक ऐसी जातियाँ हैं, जिनके विषयमें, एकमतसे, शास्त्रीय पण्डित भी यह नहीं कह सकते कि उनका किस वर्णसे सम्बन्ध है। इससे भी यह स्पष्ट है कि वर्णभेद जातिभेदसे वस्तुतः असम्बद्ध है, और कई अंशोंमें उसके बादका भी हो सकता है।

रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्थाके पक्षपाती इस प्रचलित प्रवृत्तिको प्रायः पसन्द नहीं करते कि अनेक जातियाँ अपने आदि पुरुषके रूपमें किसी ऋषि या राजाकी कल्पना करके अपनेको तत्तद् वर्णका कहना चाहती हैं। यह प्रवृत्ति आजकल कुछ अधिक देखी जा रही है, यद्यपि भारतवर्षके इतिहास-में यह बिलकुल नयी नहीं है। हमारे सिद्धान्तसे तो रूढिकी दृष्टिसे किसी अनिश्चित-वर्ण जातिके लोगोंका तत्तद् वर्णोंमें घुसनेका प्रयत्न बिलकुल व्यर्थ है। इससे उनमें आत्म-सम्मानकी कमी और रूढिके प्रति उनकी दास्य-बुद्धि ही प्रकटित होती है।

वर्णभेद और जातिभेदके परस्पर सम्बन्धके विषयमें पूर्वोक्त परम्परागत धारणा ही उक्त प्रयत्नकी प्रेरक होती है। परन्तु उक्त सम्बन्धके वास्त-विक स्वरूप और इतिहासकी दृष्टिसे तो यही कहना ठीक होगा कि उन लोगोंका रूढिमूलक वर्ण-व्यवस्थासे अभीतक कोई सम्बन्ध ही नहीं हुआ है। दूसरे शब्दोंमें, वे लोग अभीतक चातुर्वर्ण्यकी परिधिमें समाविष्ट ही नहीं हुए हैं, तो भी सामाजिक वातावरणमें फैले हुए विचार उनको विवश करते हैं।

जो प्रवृत्ति आज देखी जाती है, वही प्राचीन समयमें भी अवश्य ही होगी। प्रत्युत और अधिक रही होगी, क्योंकि उस समय चातुर्वर्ण्यके सिद्धान्तका और भी अधिक बोलबाला था। अनेक भारतीय जातियाँ, जनका रूढ वर्ण-भेदसे कोई सम्बन्ध नहीं था, वर्णभेदको माननेवाली तथा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

राजनीतिक आदि कारणोंसे अपनेसे अधिक प्रभावशाली जातियोंकी देखा-देखी, अपनेको भी उस-उस वर्णका कहने लगती होंगी। मुसलमानोंमें वर्णभेदके लगभग समानार्थ 'शेख', 'पठान', और 'सैयद' शब्दोंकी भी यही गति रही है। हिन्दुओंकी अनेक जातियाँ धर्म-परिवर्तनके बाद अपनेको इन्हीं नामोंसे कहने लगी हैं।

जातिभेद और वर्णभेदके इतिहासका वास्तवमें परस्पर कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं है। बहुत अंशोंमें जातियाँ, किसी-न-किसी रूपमें, वर्णभेदके पूर्व भी रही होंगी। हाँ, प्राचीन समयमें वे आजकलकी भाँति पक्की तौरपर एक-दूसरेसे बिलकुल असम्बद्ध न रही होंगी। वैदिक 'पञ्च जनाः' शब्दका अर्थ विद्वान् यह समझते हैं कि उस समय आर्योंमें मुख्य पाँच कुल या जातियाँ थीं। इसी प्रकार स्काटलैंड आदि दूसरे देशोंमें भी प्राचीन समयमें लोगोंमें अनेकानेक गण होते थे।

सामान्य रीतिसे यह कहा जा सकता है कि बहुत अंशोंमें जातिभेद और वर्णभेदका इतिहास पृथक्-पृथक् है। ये दो स्वतन्त्र धाराएँ हैं। जातिभेदको धाराको यदि ऐतिहाहिक कहा जाये, तो वर्णभेदकी धाराको रूढ या सांकेतिक कह सकते हैं। प्रथमका कारण यदि ऐतिहासिक या वस्तुगत है, तो दूसरीका काल्पनिक, रूढि-मूलक या केवल विचार-मूलक।

उपर्युक्त सिद्धान्तकी दृष्टिसे यही कहना होगा कि सामान्य रूपसे पूर्वसिद्ध चार वर्णोंसे विकृत या परिवर्तित होकर ये आजकलकी अनेकानेक जातियाँ नहीं बनी हैं, किन्तु, इसके विपरीत, अन्य अनेक कारणोंसे स्वतन्त्रतया सिद्ध असंख्य जातियोंको ही पहले आर्यभाषाके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार शब्दों-द्वारा, बहुत-कुछ इनके यौगिक अर्थोंमें, चार विभागोंमें बाँटनेका प्रयत्न किया गया। पीछेसे ये शब्द रूढिपरक होकर प्रयुक्त होने लगे।

उक्त चार वर्णोंमें वर्गीकरणका काल वह ज्ञात होता है, जब वि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आर्य लोग पंजाबसे आगे बढ़कर मध्यदेशमें बस चुके थे।[1] उसी कालमें पहले यौगिक और पीछेसे रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्थाका प्रचार हुआ। रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्थाके स्थिर हो जानेपर क्रमशः यह माना जाने लगा कि सृष्टिके प्रारम्भसे ही चारों वर्ण एक-दूसरेसे पृथक् हैं।

उस समयके पीछे जब आर्य-पण्डितोंने दूसरी अनार्य या आर्य होते हुए भी रूढ-व्यवस्थाको न माननेवाली जातियोंको देखा, तब विवशतया उन्हें संकरके सिद्धान्तकी कल्पना करनी पड़ी। तब भी आर्योंके प्रभाव और भारतवर्षमें विस्तारके बढ़नेके साथ-साथ वे जातियाँ अपनेको तत्तद् वर्णके साथ सम्बद्ध करनेका प्रयत्न करती रहीं। अनेक जातियोंमें अपने-अपने वर्णके विषयमें जो विवाद पाया जाता है, वह बहुत करके इसी प्रयत्नका द्योतक है। ऐसी जातियोंमें-से अनेक, जिनका प्रभाव अधिक था, अपने पेशे आदिके अनुसार भिन्न-भिन्न उच्च वर्णोंकी बन गयीं। परन्तु अनेक जातियोंको शास्त्रीय पण्डित अबतक संकरज या शूद्र ही कहते हैं।

इस प्रकारकी अनेक अनार्य या अनार्य-बहुल जातियाँ आजकलके प्रत्येक वर्णमें मौजूद हैं। इसका प्रमाण, मानवजाति-विज्ञानकी सहायताके बिना भी, प्राचीन पुस्तकोंमें पाया जाता है। 'अष्टाध्यायी'में एक सूत्र है – "आर्यो ब्राह्मण-कुमारयोः" (६।२।५८)। इसके उदाहरण और प्रत्युदाहरण हैं – 'आर्य-ब्राह्मणः' और 'आर्यक्षत्रियः'। दोनोंमें कर्मधारय समास है। दोनों

---

१. इसमें सन्देह नहीं कि वर्ण-विभागकी प्रवृत्तिका प्रारम्भ और विकास उत्तर-प्रदेश और उसके आसपासके प्रदेश (प्रायेण मनुका मध्यदेश) में ही हुआ था। यहींसे समय-समयपर कश्मीर (दे० राजतरङ्गिणी १।११७ : जित्वोर्वीं कन्यकुब्जाद्यां तत्रत्यं स न्यवेशयत्। चातुर्वर्ण्यं निजे देशे धर्म्याश्च व्यवहारिणः॥), बंगाल, गुजरात आदिमें उसी वर्ण-व्यवस्थाको सुस्थित और दृढ करनेकी दृष्टिसे ब्राह्मणों आदिको ले जाया गया। दक्षिण-भारत जैसे प्रदेशोंमें तो 'शास्त्रीय' अर्थोंमें कभी चातुर्वर्ण्य स्थापित ही न हो सका।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जगह 'आर्य' शब्द मूलतः विशिष्ट-जाति-परक (या 'रेशियल सेन्स' में) ही हो सकता है; क्योंकि उस कालके साहित्यमें 'आर्य' शब्द, 'शूद्र' शब्द-के मुक़ाबलेमें प्रयुक्त होनेसे, यही अर्थ रख सकता था।[1]

उक्त उदाहरणोंसे अर्थापत्तिसे यही सिद्ध होता है कि उस कालमें भी ब्राह्मणों और क्षत्रियों आदिमें अनेक जातियाँ ऐसी रही होंगी, जो वास्तवमें 'अनार्य' अथवा आर्येतर थीं।

शतपथ-ब्राह्मण (१।१।४।१४) में असुर-ब्राह्मणों[2] के उल्लेखसे भी यही सिद्ध होता है।

हरिवंश-पुराण (४८।६) में दानव-ऋषियोंका उल्लेख[3] किया गया है।

इसी प्रकार आसामके इतिहासमें म्लेच्छ-ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है।[4]

धर्मशास्त्रके ग्रन्थोंमें श्राद्धमें जो द्राविड आदि ब्राह्मणोंके निमन्त्रणका निषेध पाया जाता है[5], उसके मूलमें भी यही कारण (उनका विशुद्ध

---

१. तु० "यश्च शूद्र उतार्यः", "उत शूद्रमुतार्यम्" (अथर्व० ४।२०।४,८)। "शूद्रार्यौ।" (यजु० १४।३०), तथा "अवरोऽप्यार्यः शूद्रेण" (गौतमधर्म-सूत्र ६।११) पर हरदत्तकी टीका—"आर्यस्त्रैवर्णिकः"।

२. दे० "किलाताकुली इति हासुरब्राह्मावासतुः" (शतपथ० १।१।४।१४)।

३. दे०—एन.एन., वसुकी "दी सोशल हिस्ट्री ऑफ़ कामरूप", खंड १, पृष्ठ १२७,१५४। एक विद्वान् (श्री ना. गो. चाफेकर, 'आज', ता. १६।६।-१९६२, पृ० १३) का कहना है कि "'खस' वास्तवमें म्लेच्छ हैं, किन्तु गढ़वालमें इस नामकेब्राह्मण निवास करते हैं।"

४. डॉक्टर स्टाइनने 'राजतरङ्गिणी'के अपने संस्करणकी भूमिकाके पृष्ठ १२ की एक पादटिप्पणीमें "यक्षजात्यन्वित-भट्टगोवर्धनामिध" ब्राह्मण-विषयक एक उद्धरण दिया है।

५. तु० "हेमाद्रौ मात्स्ये। त्रिशङ्कून् बर्बरानान्ध्रान् चीनद्रविडकौङ्कणान्। कर्णाटकांस्तथाभीरान् कलिङ्गांश्च विवर्जयेत्॥ तत्रैव सौरपुराणे। अङ्गवङ्ग कलिङ्गांश्च ...द्राविडान्...। आवन्त्यान् मागधांश्चैव ब्राह्मणांस्तु विवर्जयेत्॥" (निर्णयसिन्धु, श्राद्धमें निषिद्ध ब्राह्मणोंका प्रकरण)। यहाँ चीन और बर्बर आदि ब्राह्मणोंका भी उल्लेख है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आर्य-जातीय न होना) प्रतीत होता है।

महाभाष्यके दो प्रसिद्ध स्थलोंमें[1] प्रसंग-वश कहा गया है कि ब्राह्मणको गौरवर्ण और कपिलकेश (= भूरे बालोंवाला) होना चाहिए। यह भी कहा है कि माष-राशि-वर्ण (= उदड़ जैसे काले रंगवाले) काले व्यक्तिको देखते ही निश्चय हो जाता है कि वह ब्राह्मण नहीं है।

लगभग दो सहस्र वर्ष पुराने (क्योंकि महाभाष्यका समय लगभग १५० ईस्वी पूर्व बतलाया जाता है) ऊपरके साक्ष्यका स्पष्ट अर्थ यही है कि आजकलके प्रत्येक वर्णमें अनार्य या अनार्य-बहुल जातियाँ सम्मिलित हैं। इस स्थितिमें निर्विवाद रूपसे यह कहा जा सकता है कि पंजाबका एक ब्राह्मण, वास्तविक ऐतिहासिक दृष्टिसे, पंजाबके खत्रीसे जितना घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है, उतना मद्रासके अनेक ब्राह्मणोंसे नहीं। यही बात दूसरे वर्णोंके विषयमें भी ठीक है।

उपसंहार

ऊपरके प्रतिपादनके अनुसार जातियोंके साथ वर्णभेदका सम्बन्ध केवल सांकेतिक या रिवाजू है। उसमें ऐतिहासिकता प्रायः नहीं है। ऐसी दशामें आचार-विचार और रुचिकी वास्तविक समानता रहनेपर विभिन्न जातियों-में वैवाहिक सम्बन्ध, भिन्न-भिन्न गोत्रोंके समान ही, हो सकते हैं। उसमें

१. देखिए—महाभाष्य (२।२।६) "सर्व एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तन्ते। ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र इति। तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्। तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥ तथा गौरः शुच्याचारः पिङ्गलः कपिलकेश इत्येतानप्यभ्यन्तरान् ब्राह्मण्ये गुणान् कुर्वन्ति।... नह्ययं कालं माषराशिवर्णमापण आसीनं दृष्ट्वाध्यवस्यति ब्राह्मणोऽयमिति।" महाभाष्य (५।१।११५) में भी लगभग ऐसी ही पंक्ति आयी है। वहाँ "गौरः शुच्याचारः" आदिके ऊपर टीकाकार कैयटका कहना है—"गौरत्वादयो ब्राह्मण्यस्य, पुराकल्पदर्शनेन, अद्यत्वेऽपि क्वचित्तदन्वयदर्शनेन, व्यञ्जकाः।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूढि-मूलक वर्ण-विभागके विचारको लाना अनावश्यक और अवैज्ञानिक भी है; विशेषकर आजकल, जब कि आजीविकाके प्रकारमें और वर्णभेदमें कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रहा है।

दूसरे, परम्परागत विचारधाराके अनुसार (शास्त्रीय आधारके न होनेपर भी) वर्णभेदके साथ ऊँच-नीचकी भावनाका गहरा सम्बन्ध है, जातिभेदके साथ नहीं। रूढिमूलक वर्णभेदकी भावनाकी उपेक्षासे, जातियाँ एक स्तरपर आ जाती हैं। वे आचार-विचार और रुचिकी वास्तविक समानताके आधारपर आसानीसे मिल भी सकती हैं[1]।

---

१. भारतवर्षमें वर्णभेद और जातिभेदके परस्पर सम्बन्ध तथा इतिहासका विषय अत्यन्त गहन, महत्त्वपूर्ण और अनुसन्धानापेक्ष है। हमारी चिर-कालसे अभिलाषा रही है कि इस विषयपर एक ग्रन्थ लिखा जाये। अब समय आ गया है कि हमें यह कार्य हाथमें उठाना चाहिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सहायक ग्रन्थ तालिका

(उद्धृत अथवा उल्लिखित)

अथर्व-परिशिष्ट
अथर्ववेद-संहिता (शौनक-शाखा)
अमरकोष
अमृतमन्थन : डॉ० मंगलदेव शास्त्री
अर्थशास्त्र (कौटिल्यकृत)
अष्टाध्यायी (पाणिनिमुनिकृत, अथवा पाणिनिसूत्र)
आपस्तम्बधर्मसूत्र (माइसोर, १८९८ ई०)
आपस्तम्बधर्मसूत्रटीका (माइसोर, १८९८ ई०)
आपस्तम्बयज्ञपरिभाषासूत्र
आर्यविद्यासुधाकर : डॉ० मंगलदेव शास्त्री द्वारा सम्पादित
आर्योद्देश्यरत्नमाला (स्वामीदयानन्द कृत)
आश्वलायनगृह्यसूत्र
आश्वलायनश्रौतसूत्र
उत्तररामचरित
उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थशास्त्र)
ऋक्सर्वानुक्रमणी
ऋग्वेद-खिल
ऋग्वेदप्रातिशाख्य
ऋग्वेदप्रातिशाख्यटीका (विष्णुमित्रकृत)
ऋग्वेदसंहिता (शाकल-शाखा)
ऋग्वेद (सायण) भाष्योपक्रमणिका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (स्वामीदयानन्द-कृत)
ऐतरेयब्राह्मण
ऐतरेयब्राह्मणपर्यालोचन : डॉ० मंगलदेव शास्त्री, १९५०
ऐतरेयारण्यक
ऐतरेयारण्यकपर्यालोचन : डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री, १९५३
कठोपनिषद्
'कल्पना' पत्रिका
'कल्याण' पत्रिका (जनवरी १९५०, हिन्दू संस्कृति अंक)
काठकसंहिता (कृष्णयजुर्वेदीय)
काण्वसंहितासायणभाष्योपक्रमणिका
कात्यायन-श्रौतसूत्र (अच्युतग्रन्थमाला, बनारस, संवत् १९८७)
कादम्बरी
काशिका (पाणिनिसूत्र-व्याख्या)
कौशिकसूत्र
कौषीतकि-ब्राह्मण
कौषीतकि-ब्राह्मणपर्यालोचन : डॉ० मंगलदेव शास्त्री, १९६१
गीतगोविन्द
गीता (अथवा भगवद्गीता)
गीताञ्जलि
गोपथब्राह्मण : (Dr. D. Gaastra का संस्करण, १९१९)
गोभिलगृह्यसूत्र
गोभिलगृह्यसूत्रभाष्य
गौतमधर्मसूत्र (पृ० २३१ पर माइसोर संस्करण, १९१७ ई०;
अन्यत्र आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला संस्करण, १९१० ई०)
गौतमधर्मसूत्रपर हरदत्तकी टीका
चरकसंहिता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

रणव्यूहपरिशिष्ट
रणव्यूहपरिशिष्टभाष्य (महादेवकृत)
न्दःसूत्र (पिंगलकृत)
छान्दोग्योपनिषद्
ीवनसन्देशगीताञ्जलि : डॉ० मंगलदेव शास्त्री
ैमिनीयन्यायमालाविस्तर
ानसंकलनीतन्त्र
त्त्वबोधिनी (व्याकरणसिद्धान्तकौमुदीकी टीका)
ण्डयमहाब्राह्मण
लसीरामायण
रीयसंहिता
ारण्यक
आ पञ्चानन (रंगाचार्यकृत 'व्यामोहविद्रावण'का उत्तर)
आ त (म० मोरका प्रकाशन, कलकत्ता, १९६०)
आ
आ स्त्र (भरतमुनिकृत)
(वैदिक)
(यास्काचार्यकृत)
टीका (दुर्गाचार्यकृत)
सिन्धु
ञ्जरी (जयन्तभट्टकृत, बनारस, १९३६)
त्र (गौतमन्यायसूत्र)
त्रवात्स्यायनभाष्य
ण
माधवीय
सूत्रवार्त्तिक
शिक्षा (पाणिनिशिक्षा)

ग्रन्थ तालिका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

शङ्ख-स्मृति
शतपथब्राह्मण
शब्दकल्पद्रुम
शाकुन्तलनाटक (अभिज्ञानशाकुन्तल)
श्रीगुरुग्रन्थसाहिब
श्रीवेंकटेश्वरसमाचार, बम्बई
षड्दर्शनसमुच्चय (राजशेखरसूरिकृत)
षड्दर्शनसमुच्चय (हरिभद्रसूरिकृत)
सत्यार्थविवेक (धर्ममहामण्डल, वाराणसी, १९१५)
सप्तम आल् इण्डिया ओरिएण्टल कॉन्फ्रेंसका विवरण (Proc
Sarasvati Bhavana Studies, Vol. X, 1938
सर्वदर्शनसंग्रह
सांख्यतत्त्वकौमुदी
सांख्यसूत्र (= कापिलसांख्यसूत्र)
सामवेदसंहिता (राणायनीय शाखा)
सुश्रुतसंहिता
सूतसंहिता
स्मृतिचन्द्रिका, संस्कारकाण्ड (माइसोर, १९१४ ई०)
हनुमन्नाटक
हरिवंशपुराण
हारीतस्मृति
Hinduism (by Govind Das, 1924)
हिन्दुत्व (रामदास गौड़ कृत)
हिरण्यकेशि-भाष्य, महादेवकृत
The Social History of Kamarupa, Vol. I, 1

■

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding: IKS-MoE-Grant-2

Rajguru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon